[illegible] —

डॉ० सुरेशचन्द्र त्यागी
मानसरोवर नगर,
मिलनचारा रोड,
सहारनपुर–247001

मूल्य : चालीस रुपये

मार्च 1983

मुद्रण-व्यवस्था
श्री सुबोध मित्र
हिन्दी-विभाग
महाराजाधिराज कालेज, मुजफ्फरनगर

विषय-सूची



सम्पादकीय

लोक-साहित्य की महत्ता

सुरेश चन्द्र त्यागी

जन-जीवन में परम्परा से चले आ रहे रीति-रिवाजों, अन्ध-विश्वासों और व्यवहारों के अध्ययन का श्रीगणेश यूरोप मे सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हो गया था लेकिन इस क्षेत्र के अध्ययन को 'फोकलोर' नाम सन् 1846 मे विलियम जॉन थॉम्स ने दिया। थॉम्स ने स्वयं स्वीकार किया था कि जिस तरह 'फादरलैंड' शब्द के प्रचलन का श्रेय डिजरेली को है, उसी तरह लोकप्रिय पुरातत्त्व (Popular Antiquities) के अतर्गत होते आ रहे अध्ययन-क्षेत्र को 'फोकलोर' नाम देने का श्रेय मुझे है। 'फोक' और 'लोर'— इन दो शब्दों के योग से बने इस शब्द का अर्थ है असंस्कृत लोगों का ज्ञान। लेकिन शब्दार्थ मात्र से ज्ञान के इस विशिष्ट क्षेत्र की परख हो जाना सभव नहीं है।

अंग्रेजी से आये ऐसे अनेक शब्द है जिनके हिन्दी रूपान्तर के बारे में मतैक्य नही है। फोकलोर भी ऐसा ही शब्द है।[1] यहाँ हमारा लक्ष्य इस या उस शब्द के पक्ष-विपक्ष मे तर्क प्रस्तुत करना नही है। इतना अवश्य कथनीय है कि फोकलोर का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसके अंतर्गत समस्त लोक-विश्वास, लोक-रीतियां, लोक-साहित्य और लोक-कलाएँ आ जाती हैं। बहुत से विचारक यह भी कहने लगे है कि फोकलोर को मात्र साहित्य तक सीमित रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो कुछ है, उसका अध्ययन विभिन्न सामाजिक विज्ञानो के अतर्गत होना चाहिए। निस्सदेह फोकलोर के विभिन्न तत्त्वो को समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास और पुरातत्त्व आदि मे अन्तर्भूत किया जा सकता है पर फोकलोर को साहित्य तक सीमित करने का प्रयास फोकलोर की समृद्ध अध्ययन-परम्परा को नकारना होगा। ज्ञान की विविध

---

1. इसके लिए लोकवार्ता (वासुदेव शरण अग्रवाल, सत्येन्द्र), लोक-सस्कृति (हजारीप्रसाद द्विवेदी, कृष्णदेव उपाध्याय), लोकयान (सुनीति कुमार चटर्जी), लोकायन (भोलानाथ तिवारी) शब्द प्रयोग में आये हैं। इनके अतिरिक्त लोकविद्या, लोक-विज्ञान, लोक-शास्त्र आदि शब्द भी बनाये गये हैं।

शाखाओं की समृद्धि के लिए फोकलोर का उपयोग किया जाना चाहिए। उसकी सीमाओं की काट-छाँट उचित नहीं है।

लोक-साहित्य फोकलोर का एक अंग है जिसके अंतर्गत लोकगीत, लोककथा, लोकगाथा, लोक-नाट्य और लोकोक्ति आदि आते हैं। आवश्यकता से अधिक सभ्य और आधुनिक लोग यह मान सकते हैं कि लोक-साहित्य अशिष्ट, असभ्य और गवाँर लोगों का साहित्य है, कि वह महत्त्वहीन है और उसका नोटिस नहीं लिया जाना चाहिए। इस मान्यता का अर्थ है जीवन की सहज गति की उपेक्षा और परम्परा की अवहेलना। लोक में जो व्याप्त है, वह लोक का ही है। उसकी रक्षा सबका ही दायित्व है, यह बोध आये बिना न तो लोकतन्त्र सुरक्षित है, न लोक-साहित्य, न लोक-संस्कृति और न लोक-कला। जिन देशों में औद्योगीकरण और नगरीकरण ने सहज जीवन-धारा को कृत्रिमता की ओर मोड़ दिया है वहाँ लोक की उपेक्षा हुई और हो रही है। वहाँ लोक-साहित्य भी मात्र परम्परा का अवशेष बनकर रह गया है। हमारे यहाँ भी जीवन की कृत्रिमताओं ने लोक-साहित्य के प्रवाह को अवरुद्ध किया है लेकिन अब भी लोकवाणी द्वारा सचरित बहुत कुछ है, जिसे सकलित कर लेना हमारे लिए हितकर होगा।

अन्य क्षेत्रों की तरह, लोक-साहित्य के क्षेत्र में भी हमारी समृद्धि चाहे जितनी भी विलक्षण रही हो लेकिन उससे हम उदासीन ही रहे। अंग्रेज प्रशासनिक अधिकारियों और ईसाई मिशनरियों को श्रेय दिया जाना चाहिए जिन्होंने यह अनुभव किया कि जन-जीवन की समझ प्राप्त किये बिना न तो भारत पर शासन करना सभव है और न धर्मप्रचार करना। इनकी जिज्ञासा और विद्वत्ता प्रशसनीय थी। अंग्रेजों द्वारा तैयार कराये गये डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आज भी अपरिहार्य सदर्भ का काम दे रहे हैं। सन् 1871 में प्रकाशित चार्ल्स ई· गोवर की पुस्तक 'फोक साँग्स ऑफ सदर्न इंडिया' भारतीय लोकगीतों का सर्वप्रथम सकलन है। इसी तरह 1894 में प्रकाशित डब्ल्यू क्रुक का 'एन इन्ट्रोडक्शन टु द पॉपुलर रिलीजन एण्ड फोकलोर ऑफ नारदर्न इंडिया' आज भी इस विषय का अनिवार्य ग्रथ है। भारतीय भाषाओं के लोकसाहित्य के सकलन और विवेचन में अंग्रेजों के योगदान पर व्यापक शोध की आवश्यकता है। हिन्दी में जिन महानुभावों ने लोक-साहित्य के उत्थान में अविस्मरणीय कार्य किया है, उनमें रामनरेश त्रिपाठी, बनारसीदास चतुर्वेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, कृष्णदेव उपाध्याय, श्याम परमार, सत्येन्द्र, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि के नाम उल्लेख्य हैं। विभिन्न विश्वविद्यालयों में हुए और हो रहे उपाधिपरक शोध की सूची देखकर जहाँ प्रसन्नता होती है, वहीं दुःख भी होता है— दुःख इसलिए कि अधिकांश शोध प्रबन्ध टंकित रूप में ही हैं, लोक से सम्बन्धित होकर भी वे लोक से दूर हैं। ज्ञान की यह दुर्गति बहुत चिन्त्य है। कई विश्वविद्यालयों में लोकसाहित्य को स्नातकोत्तर कक्षाओं में वैकल्पिक अध्ययन के रूप में स्वीकृति मिली हुई है। अनेक संस्थाएँ भी हैं जो लोक-साहित्य के लिए कार्यरत हैं। लेकिन बहुत कुछ करना शेष है।

निकट और निकटतर आता चला गया। इन्ही दिनो काम-काज के बीच उन्होंने अपने सम्बन्ध में भी मुझे कुछ बातें बतायी थीं। खडी बोली के क्षेत्र बुलन्दशहर में सन्. 1911 में उनका जन्म हुआ था। उनके पिता कोषाधिकारी थे और भक्ति-काव्य के पठन-पाठन में विशेष रुचि लेते थे। उन्ही से शर्मा जी ने साहित्यिक सस्कार ग्रहण किया। बुलन्दशहर, कानपुर और आगरा मे उन्होने शिक्षा ग्रहण की और केवल 22 वर्ष की अवस्था मे ही मेरठ के बी० ए० बी० इण्टर कालेज में अध्यापन कार्य आरम्भ किया। सन् 1948 मे वे मेरठ कालेज मे हिन्दी विभाग मे प्रवक्ता बने और सन् 1974 तक इसी सस्था मे कार्यरत रहे।

डॉ० शर्मा ने मेरठ कालेज में पढाते हुए अनेक प्रशासनिक कार्यो में भी रुचि ली। कभी छात्र-संघ का निर्देशन किया; कभी प्राध्यापक-परिषद् के साहित्यिक सचिव रहे और कभी व्याख्यान मालाएँ आयोजित की। लेकिन सबसे अधिक उनका मन अध्ययन-अध्यापन मे लगता था। अवकाश ग्रहण करने के बाद तो वे पूर्णतः लोक-साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन, चिन्तन मनन, विश्लेषण-विवेचन के कार्य मे ही लग गये।

डॉ० शर्मा कालेज मे अध्यापन कार्य करते हुए अपने नगर के सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन मे भी रुचि लेते रहे। सन् 1942 मे उन्होंने आधुनिक हिन्दी कवियों की एक बडी सगोष्ठी का आयोजन किया था; जिसमें कविवर निराला जी से लेकर उस समय के ताजे-ताजे कवि सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने भी भाग लिया था। इस संगोष्ठी मे कविता-पाठ के अतिरिक्त आधुनिक साहित्य को लेकर विचार-विमर्श भी हुआ, और आगे चलकर 'अज्ञेय' जी ने उसे लेख बद्ध करके प्रकाशित किया था सन् 1946 मे जब मेरठ मे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ तो डॉ० शर्मा ने उसके सांस्कृतिक कार्यक्रम का सयोजन किया था अनेक वर्षों तक डॉ० शर्मा बी० ए० बी० इण्टर कॉलेज की प्रबन्ध-समिति के सदस्य रहे। मेरठ विश्वविद्यालय की स्थापना के अनन्तर वे हिन्दी पाठ्यक्रम की समिति के सदस्य बने। मेरठ 'राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन' के वे ट्रस्टी रहे। मेरठ मण्डल को उनकी सबसे बडी देन है 'कुरु-लोक-सस्थान', जिसके तत्त्वावधान मे लोक-साहित्य के विभिन्न रूपो—लोक-गीत, लोक-कथा, लोक-नाट्य, लोक-सस्कृति, लोक-भाषा आदि पर अनुसधान कार्य हो रहा है।

डॉ० शर्मा ने सन् 1979 मे कुरु-लोक-सस्थान की स्थापना की थी। उन्हीं की प्रेरणा से लोक-साहित्य को, मेरठ विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में स्वीकृति मिली। तभी से हिन्दी की एम० ए० कक्षाओ में लोक-साहित्य का प्रश्न-पत्र चल रहा है। उस समय लोक-साहित्य के प्रश्न-पत्र की जो रूप-रेखा बनी थी उस पर उन्होने एक ग्रन्थ का सम्पादन किया था जिसमे डॉ० सुरेश अवस्थी, डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन, डॉ० हरीश शर्मा, डॉ० रामेश्वर नाथ भार्गव, श्री रामनारायण शुक्ल जैसे विद्वानो ने सहयोग दिया। लोक-साहित्य पर उनकी प्रथम प्रकाशित पुस्तक 'लोक-जीवन के स्वर'

थी। उसके वाद उन्होंने मेरठ मण्डल की कौरवी वोली के वाक्-सौष्ठव और कहावतों का अनुशीलन करते हुए 'कौरवी वाक्-पद्धति' और 'लोकोक्ति-कोप' प्रकाशित किया। लोक-साहित्य पर उनका तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'गमेल्लभास' (ग्राम्य-कथन) है, जिसमे ग्रामीण अंचल के लोक प्रचलित दोहो का सकलन किया गया है। इस ग्रन्थ की भूमिका वडी पाण्डित्यपूर्ण है और उसमे ज्ञान के विभिन्न रूपो के विवेचन से आरम्भ कर दोहा-छन्द के उद्भव और विकास का अनुसधात्मक अध्ययन उपस्थित किया गया है। डॉ० शर्मा का कहना है कि ज्ञान के विभिन्न रूपो में अनुभव से प्राप्त ज्ञान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस अनुभव–जन्य ज्ञान को विशेष रूप से भारतीय लोक-जीवन में दोहा छन्द के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली है।

हिन्दी-साहित्य के आरम्भ काल से ही शेख फरीद, अमीर खुसरो, कबीर आदि से यह दोहो की परम्परा अभिजात और लोक दोनो साहित्यो मे निरन्तर चली आ रही है। डॉ० शर्मा द्वारा सकलित दोहो मे भारतीय लोक-जीवन अपने विभिन्न रूपों मे उद्भासित हुआ है। डा० शर्मा ने इसके अनन्तर लोककथाओ के एक सकलन का भी सम्पादन किया था। इस ग्रन्थ मे उन्होने अपनी शोध-छात्रा डॉ० सुनीति शर्मा द्वारा सकलित लोक-कथाओ का प्रकाशन तो किया ही है, डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा, डॉ० सत्या गुप्त, डॉ० चन्द्रपाल आदि से लोक-कथाओ पर विभिन्न अनुसधानो की दृष्टि से विश्लेपण-विवेचन भी उपस्थित कराया है। उन्होंने स्वय लोक-कथाओ का एक वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। डॉ० शर्मा लोक-साहित्य के अध्ययन–अनुशीलन के सवर्द्धन के लिए 'कुरु-भारती' नाम की एक पत्रिका का भी सम्पादन करते रहे जिसे मेरठ मण्डल के लोक-साहित्य, लोक-कथाओ, लोक-सम्कृति, लोक-भापा आदि के अध्ययन को विशेष बल मिला है। डॉ० शर्मा की सारस्वत साधना से प्रभावित होकर मेरठ मण्डल के कुछ उत्साही उद्योगपतियो ने 'सरस्वती-परिपद्' नाम की एक सास्कृतिक संस्था की स्थापना भी की थी। इस सारस्वत सस्था की स्थापना मे 'कृष्णादेवी शीतलप्रसाद ट्रस्ट' की विशेष भूमिका थी। डॉ० शर्मा के निर्देशन मे इस सस्था ने एक चतुर्मुखी योजना वनायी थी। प्रथम योजना के अन्तर्गत 51,000 रु० का सरस्वती पुरस्कार अखिल भारतीय स्तर के साहित्यकारो के लिए था। दूसरा 1100 रु० का मेरठ मण्डल के लेखकों को प्रोत्साहित करने के लिए 'वीणा पुरस्कार' था। इसी योजना मे उच्चस्तरीय मौलिक रचनाओ को अनुदान देकर प्रकाशित कराने की व्यवस्था थी। तीसरी योजना के अन्तर्गत विशेष अवसरों पर साहित्यिक गोष्ठियो महत्त्वपूर्ण विषयो पर सम्भापण, परिसवाद आदि का आयोजन था। चौथी योजना सस्था के वार्षिक अधिवेशन पर सास्कृतिक कार्यक्रम, प्रदर्शनी आदि की व्यवस्था थी। इसी परिपद् के तत्त्वावधान मे 'मयराप्ट्र–मानस' नाम से मेरठ का एक विशेप सन्दर्भ-ग्रन्थ प्रकाशित कराने का संकल्प किया गया था। डॉ० शर्मा ने सन् 1973 मे अनेक विद्वानो के सहयोग से 'मयराप्ट्र–मानस' का प्रकाशन किया था। डॉ० शर्मा द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ वस्तुत. मेरठ जनपद के ऐतिहासिक, साहित्यिक,

निकट और निकटतर आता चला गया। इन्ही दिनो काम-काज के बीच उन्होंने अपने सम्बन्ध मे भी मुझे कुछ बाते बतायी थी। खडी बोली के क्षेत्र बुलन्दशहर में सन् 1911 में उनका जन्म हुआ था। उनके पिता कोषाधिकारी थे और भक्ति-काव्य के पठन-पाठन में विशेष रुचि लेते थे। उन्हीं से शर्मा जी ने साहित्यिक संस्कार ग्रहण किया। बुलन्दशहर, कानपुर और आगरा मे उन्होने शिक्षा ग्रहण की और केवल 22 वर्ष की अवस्था मे ही मेरठ के बी० ए० वी० इण्टर कालेज मे अध्यापन कार्य आरम्भ किया। सन् 1948 मे वे मेरठ कालेज मे हिन्दी विभाग में प्रवक्ता बने और सन् 1974 तक इसी सस्था में कार्यरत रहे।

डॉ० शर्मा ने मेरठ कालेज में पढाते हुए अनेक प्रशासनिक कार्यों मे भी रुचि ली। कभी छात्र-सघ का निर्देशन किया; कभी प्राध्यापक-परिषद् के साहित्यिक सचिव रहे और कभी व्याख्यान मालाएँ आयोजित की। लेकिन सबसे अधिक उनका मन अध्ययन-अध्यापन मे लगता था। अवकाश ग्रहण करने के बाद तो वे पूर्णत: लोक-साहित्य के अध्ययन—अनुशीलन, चिन्तन मनन, विश्लेषण-विवेचन के कार्य मे ही लग गये।

डॉ० शर्मा कालेज मे अध्यापन कार्य करते हुए अपने नगर के सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन मे भी रुचि लेते रहे। सन् 1942 मे उन्होने आधुनिक हिन्दी कवियों की एक बडी संगोष्ठी का आयोजन किया था; जिसमें कविवर निराला जी से लेकर उस समय के ताजे-ताजे कवि सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने भी भाग लिया था। इस संगोष्ठी मे कविता-पाठ के अतिरिक्त आधुनिक साहित्य को लेकर विचार-विमर्श भी हुआ, और आगे चलकर 'अज्ञेय' जी ने उसे लेख बद्ध करके प्रकाशित किया था सन् 1946 मे जब मेरठ मे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ तो डॉ० शर्मा ने उसके सांस्कृतिक कार्यक्रम का संयोजन किया था अनेक वर्षो तक डॉ० शर्मा बी० ए० वी० इण्टर कॉलेज की प्रबन्ध-समिति के सदस्य रहे। मेरठ विश्वविद्यालय की स्थापना के अनन्तर वे हिन्दी पाठ्यक्रम की समिति के सदस्य बने। मेरठ 'राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन' के वे ट्रस्टी रहे। मेरठ मण्डल को उनकी सबसे बड़ी देन है 'कुरु-लोक-सस्थान', जिसके तत्त्वावधान में लोक-साहित्य के विभिन्न रूपो—लोक-गीत, लोक-कथा, लोक-नाट्य, लोक-संस्कृति, लोक-भाषा आदि पर अनुसधान कार्य हो रहा है।

डॉ० शर्मा ने सन् 1979 मे कुरु-लोक-संस्थान की स्थापना की थी। उन्ही की प्रेरणा से लोक-साहित्य को, मेरठ विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम मे स्वीकृति मिली। तभी से हिन्दी की एम० ए० कक्षाओं मे लोक-साहित्य का प्रश्न-पत्र चल रहा है। उस समय लोक-साहित्य के प्रश्न-पत्र की जो रूप-रेखा बनी थी उस पर उन्होने एक ग्रन्थ का सम्पादन किया था जिसमे डॉ० सुरेश अवस्थी, डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन, डॉ० हरीश शर्मा, डॉ० रामेश्वर नाथ भार्गव, श्री रामनारायण शुक्ल जैसे विद्वानो ने सहयोग दिया। लोक-साहित्य पर उनकी प्रथम प्रकाशित पुस्तक 'लोक-जीवन के स्वर'

अपनी एक रचना मे उन्होने ग्लास केस मे रखी क्यूरियो मॉडल को देखकर लिखा था:—

किसी के डाइंग रूम की/क्यूरियो मॉडल ग्लास केस में बन्द:/
प्रकृति–प्रागण से ही विच्छिन्न/सुन रही/तुम प्रशस्ति के छन्द/
अये, जड़मूर्ति ! सिद्ध–शिल्पी के कुशलकरो की दी मुस्कान/
टूटकर पृष्ठभूमि से/हाय !, मिटा दी तुमने वह पहचान।

अपनी इस रचना को डॉ० शर्मा ने बड़ा मनोरम शीर्षक दिया है–'मनभावती'।

डॉ० शर्मा ने समय–समय पर लोक-जीवन को बिक्षुब्ध करने वाले प्रसगो को लेकर भी काव्य रचनाएँ लिखी है। सन् 1961 मे मेरठ मे हुए साम्प्रदायिक दंगे को लेकर उन्होने बड़ी प्रभावपूर्ण रचना लिखी थी। इसी प्रकार 1962 मे चीनी आक्रमण के प्रसंग को लेकर उन्होने कई रचनाएँ लिखी थी। इन रचनाओ मे 'सावधान सीमा के प्रहरी' और 'है अर्जुन का गाण्डीव यही' बड़ी ही प्रभावपूर्ण है। इन दोनो रच–नाओ को उन्होने आकाशवाणी से प्रसारित भी किया था। डॉ० शर्मा ने मध्य–युगीन प्रभाव को लेकर यदा-कदा समस्या-पूर्ति का भी प्रयास किया। खिलौने और पोस्टमैन जैसे विषयो पर भी उन्होने काव्य-रचनाएँ लिखी। उनकी रचनाएँ उनकी डायरियों मे मिलती है। अब उन्हे पढ़कर ऐसा लगता है कि मन के भीतर अथवा बाहर का कोई प्रसंग जब उनके मन को छू गया है तो उनके मुख से कविता सहज रूप मे फूट उठी और वह लेखनी के सहारे भी उतर आयी। उनकी कविताओ के पीछे इस प्रकार कोई बौद्धिक व्यायाम नहीं है।

डॉ० शर्मा ने शब्द-क्रीडा और अर्थ सौन्दर्य दोनो की योजनाओ मे विशेष रुचि ली है। उनका गद्य भी उनकी सुसंस्कृत अभिरुचि के अनुरूप बड़ा परिष्कृत और परि–मार्जित है। चिन्तन की मुद्रा में उन्होने 'अर्थ अमित अरु आखर थोरे' की प्रवृत्ति को लेकर छोटे-छोटे वाक्यो की रचना की, लेकिन जब उनके गद्य–लेखक को उनके कवि का सहयोग मिल गया है तो उनकी भाषा उनके आन्तरिक स्पर्श से पुलकित हो उठी है और वे गद्य के संविधान मे कविता के आनन्द की सयोजना करने लगे है। डॉ० शर्मा ने कभी-कभी अपने किसी विशेष अनुभव को अभिव्यक्त करने के लिए रंग और तूलिका का भी सहारा लिया है, उनके एक-दो चित्र ही मैंने देखे है उनमे चटक रगो की संयोजना आँखो को विशेष रूप से पकड़ती है।

डॉ० शर्मा का लेख बड़ा ही सुन्दर था। उनके पत्र अपनी लेखन–शोभा से हमारे मन को सहज रूप मे बाँध लेते थे। मुझे स्मरण है कई बार उन्होने दीपावली और नववर्ष के अवसर पर आशीर्वाद के रूप मे बडी ही प्रेरणात्मक मुक्त-छन्द की पंक्ति मुझे लिखी थी। उनका साहित्यिक उनके पत्र-लेखन मे भी सजग रहता था। इस सन्दर्भ मे परम आदरणीया श्रीमती शर्मा को लिखे गये एक पत्र का अवतरण देखिए:—

"एक विशाल अन्तराल के पश्चात् तुम्हारा पत्र प्राप्त कर एक सुखद कौतूहल

हुआ। अन्यथा आम राय यह बन चुकी थी— और मैं भी अतीत को भूल इस भ्रम में पड गया था— कि तुम सभ्यता के प्रथमोदय की वह जीव हो जिसे पढ़ना लिखना क्या समाज-सम्मत व्यवहार का भी बोध नही है। किन्तु मेरा यह भ्रम टूटा और जैसा मेरा अनुमान है, कदाचित् तुम प्रागैतिहासिक, उस आधुनिका से अच्छी हो जो स्नातकोत्तर उपाधि का पेन्डेट तो लटकाए फिरती हैं किन्तु उसके पास न भाषा है, न भाव। भाव-शून्यता ऐसी जरुर है कि उसने जल्पना को जन्म दिया है। जवान लम्बी है।

इस साहित्यिक अभिव्यजना को देखकर इच्छा होती है कि उनके पत्रो का संकलन किया जाय।

वहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ० कृष्णचन्द्र शर्मा के व्यक्तित्व और कृतित्त्व पर विचार करते हुए हम उन्हे एक बहुधन्धी सस्था के रूप मे देखते है। उनमे असाधारण कर्मठता थी। घर फूंक कर तमाशा देखना वे वहुत पसन्द करते थे तभी तो तन और मन से ही नही, वडे प्रयत्न से अर्जित अपने थोडे से धन को भी बडी उन्मुक्तता के साथ अपनी सारस्वत साधना मे व्यय करते रहे। अपने ग्रन्थो से उन्हे कभी कोई विशेष आय नही हुई। अपने पास से पैसे खर्च करके वे 'कुरुलोक-संस्थान' चलाते रहे। 'कुरु-भारती' का प्रकाशन करते रहे और लोक-साहित्य के प्रचार-प्रसार में वरावर सलग्न रहे। डॉ० शर्मा ने अपनी डायरी मे अपने किसी मित्र के विपय मे लिखा है—

इस भिखमगो की दुनियाँ मे,
ऐसे एक तुम्ही हो आये।
जो अपना सर्वस्व लुटा कर
कुछ भी लेने में सकुचाये॥

ये पंक्तियाँ डॉ० शर्मा के अपने व्यक्तित्व को भी उजागर करती है। उनके महामना व्यक्तित्व को सम्पूर्ण मन से मेरा प्रणाम !

विश्वनाथ मिश्र,
एस० डी० कालेज, मुजफ्फरनगर

☐ दो—

कुछ ही आदमी दूसरे को प्रेरित करते है, सव नही। मुझे लगता है कि प्रेरणा देने की शक्ति का स्रोत मन की सच्चाई और समर्पण का भाव है। यह अनुभव मुझे स्वयं डॉ० कृष्णचन्द्र शर्मा जी के सम्पर्क मे आने से हुआ। उनके सम्पर्क मे आने का मतलव था हार्दिक सामीप्य। एक ही साथ, भावनात्मक और स्फूर्तिदायक।

मार्च सन् 1981। हम एक विशिष्ट विद्वान् और प्रशासक के साथ वैठे है। प्रथम परिचय मिलते ही उनके मुँह से निकला—

"डॉ० शर्मा जिस आयु मे पहुँच कर लोग अपने ही रोग-शोक और मृत्यु के भय मे डूबे रहते हैं, उसमे आपके सक्रिय जीवन को देखकर कौन प्रेरणा ग्रहण न

करेगा ? आपको देखकर मै स्वय उत्साह-लाभ कर रहा हूँ।"

सच यह है कि डॉ० शर्मा ने कभी किसी के सामने मृत्यु की चर्चा तक नहीं उठाई, मरने के क्षण तक, यद्यपि वे मन की गहराई मे अपने शरीर-क्षय को समझते थे। उनके विषय मे सच है —'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्'। मृत्यु की छाया ने उनके मन को नही छुआ। फिर अमर कार्य करने के सकल्प को मृत्यु का भय कब दबा सकता है? डॉ० साहब अपने लक्ष्य से इतने भरे हुए थे कि उसमे ऐसे विचार के लिए गुजाइश ही नही थी।

सन् 1933–34। ब्राह्मण एग्लो वैदिक हाई स्कूल (अब इटर कालिज) मेरठ में भूगोल कक्ष। मैं उस समय नवी कक्षा का छात्र था। पीछे की ओर से कक्षा में एक नवयुवक ने प्रवेश किया, अध्यापक की मेज की ओर। धवलवेश, चाल–ढाल मे गरिमा। खडे होकर कक्षा की ओर दृष्टि दौडाई। मुख पर माता की ममता के साथ पिता के अनुशासन की कठोरता का अद्भुत विमिश्र। ये हैं अध्यापक। सब के मन में बात उठी थी, उस समय।

सन् 1978 का फरवरी-मार्च। मैं सेवा-निवृत्त होकर लगभग 36-37 वर्ष बाद मेरठ मे बसने के लिए आया। लगा जैसे साहित्य और सस्कृति के मरुस्थल में आ गया, प्रयागराज की त्रिवेणी को छोड कर। चारो ओर शोर-शराबे के बीच सन्नाटा। भीड़–भाड़ के बीच अकेलेपन का अहसास। खोजने पर डॉ० कृष्णचन्द्र शर्मा जी के घर पहुँचा। अकस्मात् मिलने से हम एक-दूसरे को नही पहचान सके। मैने परिचय देकर चरण-स्पर्श किया तो वे गद्गद हो उठे। मेरा सन्नाटा और अकेलापन दूर हुआ। इसके बाद तो उनके स्नेहिल, प्रभावी व्यक्तित्त्व का खुमार छाने लगा और उनके जाने पर भी आज— यद्यपि अकेलेपन की व्यथा का अनुभव करता हूँ— मैं उनके जीवन की जीवन्तता से काम करने के लिए सम्बल पाता हूँ।

डॉ० कृष्णचन्द्र शर्मा ने कौरवी लोक-साहित्य के क्षेत्र को अपनाया। वे उसमें अन्तः प्रविष्ट थे, और उसके आध्यात्मिक अन्तराल का अवगाहन और अवगम उनका लक्ष्य रहा। उसका कोई पक्ष— गीत, लोकोक्ति, वाग्–विलास, कहानियाँ, मुहावरे, रिवाज, त्योहार, रीतियाँ, मान्यताएँ, विश्वास, कलात्मक अभिव्यक्तियाँ जैसे रगमच, साँग, नृत्य, बोली, भाषा, अपभाषा, गालियाँ, बतक्कड़— उन्होने अछूता नही छोड़ा और जिसे छुआ, उसे सोना-सा चमका दिया।

'मयराष्ट्र–मानस' का सम्पादन उनकी कीर्ति के लिए दृढ स्तम्भ है। लोक–संस्कृति के लिए उनकी कृतियाँ अमूल्य सन्दर्भ-साहित्य प्रस्तुत करती हैं। सच यह है कि उन्होंने जो कार्य किया और अपने शोधित्सु छात्रो से कराया, उससे भी अधिक महनीय और महत्त्वपूर्ण है उनके द्वारा कार्य के लिए नये क्षितिजो का उद्घाटन, दिशा–दर्शन और उनका जीवन–सूत्र : जो काम उठाओ, उसके साथ एकाकार हो जाओ।

यह सूत्र उनके जीवन का सार और सर्वस्व रहा।

□ हरद्वारीलाल शर्मा, 37, जेल रोड, मेरठ

☐ तीन—

बात 1957 की है। हम चार मित्र जयन्त शुक्ल, कृष्ण गोपाल, रोहतास मित्तल और जयपाल सिंह त्यागी मेरठ कालिज के मुस्लिम होस्टल मे विचार कर रहे थे। क्यो न अपने हिन्दी विभाग के एक–एक प्रोफेसर से एक–एक कवि के ऊपर एक व्याख्यान दिलाया जाए? हम चारो ही बी० ए० उत्तरार्ध कक्षा के हिन्दी–साहित्य के विद्यार्थी थे। यह निर्णय लिया गया और दूसरे ही दिन हम प्रत्येक अध्यापक से मिलने चल दिए। डॉ० कृष्णचन्द्र शर्मा 'चन्द्र' जी से मुझे मिलना था। घनानन्द हमे 'चन्द्र' जी पढाते थे। कक्षा के बाद स्टाफ–रूम में 'चन्द्र' जी से मिला। मित्र-मण्डली की योजना बताई तो कह उठे 'प्रियवर योजना अच्छी है। मै अवश्य बोलूंगा। योजना सफल हुई। मै 'चन्द्र' जी के निकट आ गया।

चन्द्र जी के व्यक्तित्त्व में सहज आकर्षण था। उनकी सुरुचि सम्पन्नता, वेश–भूषा, बात-चीत, भाषा, चाल-ढाल सभी मे झलकती थी। सामान्य डील-डौल के श्याम वर्ण वाले कृष्णचन्द्र जी की रजत केश–राशि उनके अनुभव की गहनता का प्रतीक थी। स्वभाव की सरलता उनकी वेशभूषा मे दिखती थी। हिन्दी के होने के कारण किसी विशेष वेश–भूषा के प्रति उनकी आसक्ति नही थी। वे जितने स्वाभाविक ढग से कुर्ता और चूडीदार पाजामा पहनते थे उतनी ही रुचि से कभी-कभी धवल चादर और काली शेरवानी तथा बन्द गले का कोट भी पहनते थे।

प्रियवर, बन्धु, बन्धुवर, मित्र एव प्रोफेसर साहब के सामान्य सम्बोधन थे। 1961 मे मेरठ कालेज में प्राध्यापक के पद पर जब मेरी नियुक्ति हुई, 14 जुलाई को स्टाफ रूम मे बोले 'चलो यार चाय पी जाए'। चाय पीते-पीते कहने लगे 'देखो पहले विद्यार्थी थे अब मित्र बन गये हो; पिछले सम्बन्धो का बोझ मत लादे रहना।" सच यह है कि उन्होंने कभी भी सम्बन्धो मे किसी भी प्रकार की दूरी का एहसास नही होने दिया। दूरी थी भी नही। वे एक साथ गुरु, मित्र एव पिता की भूमिका साथ-साथ निभाते थे। मेरे परिवार को उन्होने सदा विशेष स्नेह दिया क्योकि मेरी पत्नी भी उनकी विद्यार्थी थी। प्रोफेसर साहब एक कर्मयोगी थे। लोकसाहित्य पर शोध या चिंतन कर रहे भारतीय विद्वानो की सगोष्ठी की योजना बनाई थी। लोक–जीवन से सम्बन्धित एक प्रदर्शनी और एक सग्रहालय का निर्माण भी उनकी योजना मे थे। इसी सम्बन्ध मे आयोजित एक सभा मे जब साधनो के जुटाने की चर्चा चल रही थी और उन्हे लगा कि शायद कोई सार्थक निर्णय नही लिया जा सकेगा वे उत्ते-जित हो उठे। बोले। 5000 रुपया मैं दूंगा चाहे कही से भी दूं। मै उनके सामने बैठा था। चन्द्र जी को कभी इतना उत्तेजित मैंने नही देखा था। मैं अन्दर से सहम गया। सभा समाप्त हुई। मैंने औरो से दूर धीरे से कहा 'प्रोफेसर साहब! आप इतने परेशान क्यो होते है? अवकाशप्राप्त है, कहाँ से पैसे देंगे? बोले! गोपाल जी! मै बीमार हूँ, बूढा हो गया हूँ लेकिन अभी मरा नही हूँ।"

☐ के० गोपाल, मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ



डा० कृष्ण चन्द्र शर्मा

लोक—साहित्य का भविष्य

कृष्णचन्द्र शर्मा

आधुनिकता के रंग मे सरावोर मनुष्य कई बार यह प्रश्न उठाते है कि लोक-साहित्य का भविष्य क्या है ? प्राय: ये वे लोग है जिनकी दृष्टि मे 'निज—भाषा' निज—सस्कृति' का कोई मूल्य नही रहा, जिन्होने लोक-साहित्य की गरिमा का कभी अनुभव नही किया और जो 'दादुर रहे निकट कमलन के कभी न रस पहचाने' की उक्ति ही चरितार्थ करते हैं, परिवर्तन की त्वरा के समक्ष जो घुटने तोड, बैठ गये है, जिनको न पीछे मुडकर देखने का वक्त है, न आगे बढने का साहस, जिनके लिए अतीत घोर—तिमिर का साम्राज्य है और भविष्य चकाचौंध से पूर्ण जो वर्तमान मे अपनी ढपली इस जोर से पीट रहे हैं कि उनको अपने तुमुल स्वर मे चारो ओर से आते हुए अन्य स्वर नही सुनाई पड़ते ।

ऐसे व्यक्तियों को यह जानना चाहिए कि लोक चिरजीवी है और लोक—साहित्य अमर । यदि उनकी भ्रमित बुद्धि मे लोक—साहित्य ग्राम्य अभिव्यक्ति का ही नाम है अथवा वह अपढ़ असभ्यो की ही अभिव्यक्ति है तो खेदपूर्वक यह मानना होगा कि उनको 'लोक' शब्द का अर्थ ही अज्ञात है । लोक—साहित्य मे नगर और ग्राम—अभिव्यक्ति का अन्तर नहीं है, सहज और सायास का भले ही हो । 'सहज' अनायास, अकुण्ठित एव दुर्दम होता है । भावनावेग जब थामे नही थमता, जिस समय शब्द विधि—निषेध के बन्धनो की उपेक्षा कर उसी समय चाहे नगर हो या ग्राम, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित उसके मुख से कुछ ऐसे शब्द निकल पड़ते है, जो बुद्धि को चमत्कृत एव हृदय को रससिक्त कर जाते है । उनकी आवृत्ति एव स्मृति मे ऐसी शक्ति होती है कि उनकी छवि धूमिल नही होने पाती । विभिन्न अवसरों पर सुनाई पड़ने वाली टिप्पणियां, अनेक अवसरो पर आज भी जुड़ने वाले लोकगीत, लोकमति को सान चढाने वाले चुटकुले और कहानियाँ, पहेलियां बुझाने वाली गहन भावों से परिपूर्ण चटक सूझनाओ की धारा अब भी अप्रतिहत रूप में प्रवाहित है ।

श्रृंगार जीवन का प्राण रस है । क्या लोकाभिव्यक्ति की सरिणी कभी सूख सकती है ? हास की हरीतिमा क्या परिस्थितियो से पराजित हो जीवन को सिकतामय बनाकर छोड देगी ? नही, कदापि नही । मरुस्थलो मे भी 'ओएसिस'—हरिताभस्थल—बराबर देखे जाते है । नीति और उपदेश, व्यग्य का कठोर-कशाघात तथा नम्रता और विनय-वचन मानव जीवन को पगु बनाकर क्या आप तिरोहित हो जाएँगे ? ऐसी बात

नही हैं। यह संभव नहीं हो सकता। जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति की भाँति ही इनकी पूर्ति भी प्रकृत अभीप्ट है। इसके लिए मानव की निर्बाध अभिव्यक्ति ज्वालामुखी के उद्गार की भाँति बिना किसी निषेध, वर्णन की चिन्ता किए जब तब फूट पड़ती है।

लोकोक्ति है 'मारते का हाथ कोई भले थाम ले, बोलते का मुँह नही पकड़ा जाता।' वह भी लोक का मुख ! भला उसकी सहस्र जिह्वा को कौन पकड़ सकता है ? वह निसर्ग है। लोक सबको देखता है। सब कुछ देखता है। जो देखता है वह कहता है—पहले भी यही स्थिति थी, आज भी वही है, और कल भी वही रहेगी। लोक–साहित्य का सृजन इसलिए अबाध गति से चलता रहेगा। कदाचित् आपको प्रथम स्वतन्त्रता–संग्राम (1857) का यह गीत सुनने को न मिला हो 'लबालब कटोरा भरा खून से' किन्तु कुँवरसिंह की शौर्य–गाथा व राव राजा तुलाराम का साखा तो आकाशवाणी से सुना होगा। चलिए वह भी न सही, तो अभी हाल ही में हुए देश के आम चुनाव (1977) के गीत भी क्या नहीं सुने ? यदि वह नही तो क्या अभी कुछ दिन पहले अखबारो में प्रकाशित साँग गीत भी आपने नही पढा ? गढमुक्तेश्वर के गङ्गा मेले (1946) के साम्प्रदायिक–संघर्ष की खण्ड-काव्य जैसे लम्बे गीत मे गायी गई गाथा आपने नही सुनी ? हो सकता है कि अपने काँच–मन्दिर मे सदा बन्द रहने के कारण ये स्वर आप तक न पहुँचे हो।

युवा छात्रो की प्रसन्न मण्डली मे कहकहो के साथ मिश्रित आलोचना के अनायास निकलने वाले शब्द आप नहीं सुनते ? लोक धुनों पर आधारित गीत गढ़ने के आकाशवाणी तथा फिल्म जगत् मे हो रहे उद्योग से क्या आप अपरिचित हैं ? इस सबका कारण लोक–साहित्य की भाव–प्रवणता नही तो और क्या है ? उसका सर्जन कभी समाप्त तो क्या मद भी नही हो सकता।

वास्तव में लोकसाहित्य जहाँ जीवन की उच्छल चंचल प्रवृत्ति को सामने लाता है, वहाँ वह सुरसा के मुख की तरह फैलती समाज की अनियमितताओ एव सर्वग्रासी असांस्कृतिक गतिविधियों को नियन्त्रित भी करता है। वह अपढ़ लोगो की रचना भले हो, अविवेकी लोगों की नहीं। लोकगायक समाज के जागरूक पहरुए हैं। स्वयं जागकर समाज को जगाए रखने का काम लोकगायक और उसकी उन रचनाओं का ही है जो पानी पर फैलते तेल की बूँद की भाँति अपना विस्तार करती जाती है, करती ही जाती है। कारण कि लोकगीत लोक के लिए बोलता है, जिह्वा पर चढ अपार जनसमुदाय को सम्बोधित करता है। किसी वर्ग अथवा सस्था के लिए नही। फिर, हृदय की भाषा हृदय ही में स्थान पाती है, मुक्तकों के कारागार मे बंद हो रहने का उसका स्वभाव नही। वह मौखाद है, श्रुति है। लोक-साहित्य के लिखित-अलिखित दो रूप (Folk Lore & Folk Rede) मौखाद एवं लोक-साहित्य कहे गये हैं। इस दूसरे शब्द को बाद मे गढा गया है। इसका इतिहास इतना पुराना नही जितना मौखाद का है। वास्तव में लोकाभिव्यक्ति का सत् स्वरूप यही मौखाद है।

पुराने समय में जब लिपि, लेखन एवं मुद्रण की सुविधाएँ अप्राप्त थी तब की बात जाने दीजिए, किन्तु आज यह सब और इससे कहीं अधिक टेप-रिकार्डिग तथा फिल्मिग की सुविधाएँ प्राप्त होने पर भी क्या आज जितना लोक-साहित्य उत्पन्न हो रहा है, उसके सरक्षण की कोई योजना है ? लोक-साहित्य से इतिहास का और एक इतिहास ही नही, सभी मानव शास्त्रो का उससे सम्बन्ध है। क्या-काल-बिम्ब को सुरक्षित कर रखने और आने वाली पीढियो के लिए इन घटनाओ के परिज्ञान का कोई अर्थ नही ? यह कहा जाता है कि इतिहासकार अपने रंगीन चश्मे ही से ऐतिहासिक घटनाओ को देखने के कारण निष्पक्ष इतिहास-लेखन का कार्य नही कर पाते। किन्तु लोक द्वारा इतिहास-रक्षण पर ऐसे पाण्डुरोग का आक्रमण नही होता। यहाँ जो है, वह 'जैसा का तैसा' बिना किसी छाँट तराश के सामने रख दिया जाता है। ऐसा ही प्रयास लोक सदा से करता आया है, आज भी कर रहा है। इस कार्य में वह किसी भय अथवा लज्जा का अनुभव नही करता—वह आज ही निर्भय नहीं कल भी ऐसा ही था। उसको अपनी प्रतिक्रिया लोक को देनी है और वह भी पूरी ईमानदारी के साथ। वह यही कर रहा है।

इस समय स्कूल, कालेज के परिसरो, टी-स्टाल एव रेस्तराओं मे लोगो की घर-बाहर जुड़ने वाली भीड़ मे वर्तमान का शब्द-चित्र, हास्य-व्यग्य वीभत्स, करुणा के रगों के पुट सहित तैयार हो रहा है, वह सारा का सारा लोक-साहित्य ही है। यह उपाध्यायो का वह कृतित्व नही, जिसके लिए द्रविड-प्राणायाम की अपेक्षा होती है। आज के वातावरण मे भी—चाहे कैसी ही वैज्ञानिक तकनीकी प्रगति क्यो न हुई हो, विश्वविद्यालयो की उपाधियाँ कितनी भी सुलभ क्यो न हो गयी हो तथा उसकी छाप लगे परिधान को ओढ़ कर आत्मप्रदर्शन करने वाले अथवा 'हमारी माँगे मजूर हों' का नारा बुलन्द करने वालो की कितनी ही भीड़ क्यो न जमा हो, तो भी हृदय के किसी अन्ध कोटर में बैठा आदिम पुरुष लोक को अपनी उसी अधूमिल दृष्टि से देख रहा है।

लोक-साहित्य का सृजन मानवी विकास के किसी स्तर विशेष की घटना नही है वह निरतर प्रकृति क्रम है। ठीक ऐसा ही जैसा कि नित्य प्राची से होने वाला सूर्योदय—क्योकि 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की भूमिका उसी को निभानी है। अतः इस आशका के लिए कोई स्थान नही है कि लोक-साहित्य का भविष्य क्या ? लोक-साहित्य लोक की संपदा है। उसके संरक्षण, प्रचार-प्रसार से उसे कभी कोई रोक नही सकता, लोक-साहित्य अमर है, जय लोक !

"प्रत्यक्षदर्शी लोकानाम्, सर्वदर्शी भवेन्नरः"



लोक–शास्त्र का स्वरूप

—राजेन्द्र रंजन

जहाँ हम 'लोक' शब्द का प्रयोग करते है, वहाँ वर्गीय दृष्टि तिरोहित हो जाती है। 'लोक' शब्द जाति-वर्ग, वर्ण–धर्म–सम्प्रदाय, नागर ग्राम्य, शिक्षित-अशिक्षित तथा धनी-निर्धन के भेदोपभेदो से परे है। 'लोक' उस वर्गीय–दृष्टि का निषेध करता है, जिसमें ज्ञान का अधिकार केवल शिक्षित नागरिक या अभिजात वर्ग को दिया जाता है। लोक–ज्ञान विशुद्ध मानव-ज्ञान है। वास्तव मे नो ज्ञान मानवीय क्षेत्र है, उसमे मानव-मात्र का प्रवेश है। अब तक हमने लोक के ज्ञान को शास्त्र की परिधि से पृथक् रखने का साभिप्राय प्रयास किया है तथा शास्त्र के क्षेत्र मे केवल अभिजातवर्गीय मेधावी लोगो के ज्ञान को ही महान माना है। दूसरे शब्दो में विशिष्ट ज्ञान को ही शास्त्र की सज्ञा दी है। लोकशास्त्र इस ज्ञान को महान मानने से इन्कार नही करता और न ही वह उस ज्ञान की प्रतिक्रिया है। यह तो लोक के उस ज्ञान को शास्त्र की परिधि में लाने का संकल्प करता है, जिसे अभिजात–चेतना ने गँवारू कह कर निषिद्ध कर दिया था। वास्तव मे ज्ञान एक है, अखंड है, उसकी कोई जाति नहीं होती। जिस प्रकार अन्न यहाँ पैदा हो या वहाँ, उसे कोई अशिक्षित किसान बोए अथवा कुशल कृषि वैज्ञानिक, अन्न तो अन्न ही है। वह निश्चित रूप से हमारे ताप-पाप को हरण करने वाला वसुन्धरा का वैभव है। इसी भाँति कोई ज्ञान केवल इसीलिये ज्ञान न माना जाय कि वह निम्न वर्ग, अशिक्षित, ग्रामीण अथवा स्त्रियो द्वारा सचित और मान्य है। तो यह दृष्टि कुत्सित ही है। लोकशास्त्र इस दृष्टि का विरोध करता है। वह एक प्रगतिशील और विद्रोही चिन्तन है।

लोकशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसे चार भागो में विभक्त किया जा सकता है—

1. मानव ने शताब्दियों– सहस्राब्दियो से स्वयं को, प्रकृति को, जीवन को और समाज को देखा है। इनके सबध में उसने जो निष्कर्ष निकाले है, परंपरा ने उन पर मान्यता की मुहर लगाई है। ये मान्यताएँ लोक मे गहरे तक पैठी हुई हैं। वर्तमान विज्ञान के युग मे भी उसकी विद्यमानता उनकी अर्थवत्ता का बड़ा प्रमाण है। लोक ने नक्षत्रों को चलते हुए देखा–उनकी गति से समन्वित कर अपने जीवन का अध्ययन किया। नक्षत्रो के सहारे समय को मापा तथा अपने जीवन में उनके प्रभाव की कल्पना की। प्रकृति की कार्यविधियो को परखा तथा देखा कि ऋतु-परिवर्तन से पूर्व क्या क्या चिह्न प्रकट होते हैं। चीटी अडे बिल से निकाल कर ले जा रही है साँप

बबूल पर चढ गया, चंदा पर पार्स (पार्श्व) है, अब ऋतु पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? स्त्री–पुरुषों की प्रकृति उनकी मानसिक-रचना तथा जीवन को किस प्रकार प्रकट करती है, यह उसने देखा। स्वप्नो से भविष्य का अनुमान कहाँ तक लगाया जा सकता है ? किस खर पतवार मे क्या गुण है ? यह सब लोकशास्त्र के अध्ययन की सामग्री है।

2. लोकशास्त्र की अध्ययन-सामग्री का दूसरा भाग भिन्न-भिन्न व्यवसाय के ज्ञान से संबंधित है। प्रत्येक व्यवसाय के अपने भिन्न रहस्य होते है।वे व्यवसाय करने वाले लोग भली भाँति जान जाते है। अब तक यह ज्ञान व्यवसाय के आधार पर गठित जातियो का क्षेत्र माना जाता रहा है। किसानी का ज्ञान, पशुपालन का ज्ञान सपेरों का ज्ञान, जादूगरों का ज्ञान, शिकारियों का ज्ञान, कुम्हारों का ज्ञान, जुलाहो का ज्ञान, व्यापार का ज्ञान, क्रमश किसान, घोसी सपेरे, नट, अहेरिया, कुम्हार, जुलाहो तथा बनियों का क्षेत्र माना जाता रहा। आज प्राचीन जाति व्यवस्था समाप्त हो रही है, इसलिये ज्ञान का भी साधारणीकरण आवश्यक है। यद्यपि नये-नये आविष्कारो से ये ज्ञान समय के पीछे हो गये है तथापि परपरा मे जो कुछ ग्राह्य हो, उसे ग्रहण करना ही चाहिए।

3 लोकशास्त्र के अध्ययन का तीसरा क्षेत्र लोक-विश्वासो से सबधित है विश्वास और ज्ञान मे पूर्वापर सबध है। ज्ञान मे जानने की भावना है और विश्वास मे मानने की। ज्ञान वस्तुनिष्ठ होता है और विश्वास व्यक्तिनिष्ठ। वस्तुनिष्ठ ज्ञान मे मतभेद नही होता किंतु व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान भिन्न–भिन्न होता है। जैसे एक विश्वास है कि पृथ्वी गाय के सीग पर टिकी है। दूसरा विश्वास है कि दश दिग्गज उसे पकडे हुए है, तीसरा विश्वास है कि पृथ्वी शेषनाग के फण पर स्थित है, चौथा विश्वास हे कि पृथ्वी का आधार कछुए की पीठ है। मिस्र मे सूर्य के संबध मे विश्वास था कि वह प्रतिदिन आकाश मे नाव मे जाता है और उसे पार करता है। दूसरा विश्वास है कि सूर्य होराख्ती अर्थात् गरुड है, तीसरा निश्वास है कि सूर्य मक्खी है। चौथा विश्वास है कि देवीनूत के शरीर से आकाश बना है। वह रोज सूर्य को खा जाती हैं। रात भर वह उसके शरीर मे घूम कर सुबह फिर जन्म लेता है। भारत मे यह विश्वास था कि सूर्य रथ पर घूमने जाता है। इस सब व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान की भूमिका मे वस्तुनिष्ठ ज्ञान का निनान्त अभाव नही है। पृथ्वी सबधी विश्वासो मे गाय, नाग, कमठ और दिग्गज है, उन जातियो के उपास्य रूप है तथा उन जातियो ने इन पशु और स[illegible]नृगो से अपने जीवन का सामीप्य प्राप्त किया था। यह वस्तु-निष्ठ ज्ञान है। सूर्य सबंधी विश्वास मे नाव वाली बात मिस्र की नील नदी मे चलती नावों की गवाही देती है तथा भारत मे रथ वाली बात यहाँ की भूमि मे रथो के प्रसार का। इन विश्वासो से हम आदिम-मानस की तह तक पँहुच सकते है।

दूसरे प्रकार के विश्वास वे हैं, जो वस्तुनिष्ठ ज्ञान के परिवेश मे आते है किन्तु उनकी कार्य–कारण परपरा 'लोक' विस्मृत कर चुका है, इसलिए आज वे विश्वास ही कहे जाते है। जिस प्रकार यह निषेध कि रात को वृक्षो के समीप नही

रहना चाहिए, दक्षिण की ओर पैर करके नही सोना चाहिए इत्यादि । अनेक टोटकों मे भी वैज्ञानिक प्रयोग सम्मिलित हैं, यह बात दूसरी है कि वे मूलोच्छिन्न होने के कारण जाने–पहचाने नही जा सकते ।

भिन्न कारण से तद्भिन्न कार्य की कल्पना द्वारा अन्धविश्वास का जन्म हुआ जिसे काकतालीय न्याय भी कहा जा सकता है ।

इस प्रकार लोक-विश्वास के तीन रूप हुए—पहले, जो मानने पर आधारित हैं । इस मानने मे आंशिक वस्तुनिष्ठ अध्ययन के आधार पर उसके पूर्ण रूप की इदमित्थम् कल्पना आती हैं । दूसरे, जो काकतालीय न्याय पर आधारित हैं । इस प्रकार के विश्वासों मे हमें तत्कालीन लोक की मनश्चेतना का बोध होता है । तीसरे, कारण–कार्य परपरा विच्छिन्न होने के कारण विश्वास की परिधि मे आते है ।

4. लोक-शास्त्र के अध्ययन की अन्तिम और महत्त्वपूर्ण सामग्री 'लोकाचार' है । लोकाचार का क्षेत्र बहुत व्यापक है । इसके दो रूप हैं दैनिक और नैमित्तिक । हमारा खाना, पीना, सोना, उठना, आना, जाना, स्वागत, सत्कार, अभिवादन, शौचादि कृत्य और पूजा आदि कुछ नियमो से अनुशासित होती हैं, वह पशुओ की भाँति अनियमित और उच्छृखल नही है । इस प्रकार हमारे जीवन के कुछ विधि–निषेध है । ये विधि-निषेध कुछ पडितो और स्त्रियो के ऊपर छोड़ दिये गये है । घर मे नाखून नही काटने चाहिए, उँगली नही चटकानी चाहिए, शौच से निवृत्त होकर नौ बार प्रचुर मिट्टी से हाथ धोने चाहिए, जनेऊ पहनना चाहिए उसे कान पर चढा कर मलमूत्र त्याग करना चाहिए, सिर पर चोटी के बाल रखने चाहिए, उनमे ग्रन्थि बन्धन करना चाहिए नित्य दातुन और स्नान भी करना चाहिए । ये दैनिक विधि–निषेध हैं । मनुष्य ने आवश्यकतानुसार ये नियम बनाये । अब इन विषयो का मथन करना लोकशास्त्र का विषय है । लोकशास्त्र इनके उद्गम का अध्ययन करता है, जिससे इनके सबंध मे हमारी जो रहस्य-भावना दूर हो सके और उसका सच्चा रूप हमारे समक्ष स्पष्ट हो सके

लोकाचार का दूसरा रूप गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त नाना सस्कारो से संबधित हैं । इन सस्कारो का विधि–विधान तो इतना जटिल है कि प्रत्येक जाति, प्रत्येक गोत्र और वंश मे इसका एक अनोखा रूप ही दृष्टिगत होता है । विधि–विधान का रूप स्त्रियो के अधीन है । इसमें अनेक तथ्य ऐसे है जिनका कारण बिल्कुल समझ मे नहीं आता । उनमे हमारी एक रहस्य भावना है । इन अवसरो पर अनेक कृत्य करने पड़ते हैं । इन कृत्यो को हम एक दूसरे वर्ग के लोगो से पृथक् तथा गुप्त रखते हैं । लोक-शास्त्र इस लोकाचार का भी गहन अध्ययन करता है ।

लोकशास्त्र के अध्ययन के दो अग हैं— सग्रह और समीक्षा । सग्रह-कार्य के लिए प्रत्येक वर्ग और जाति के लोगो मे निःसकोच जाकर प्रश्नावली के अनुसार सामग्री सकलित की जाती है । तदुपरान्त सामग्री को वर्गीकृत करके उसकी आठ प्रकार से समीक्षा की जाती है— समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक,

मानवशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, भाषाशास्त्रीय और आलोचनात्मक। लोकशास्त्र का उपर्युक्त विषयो से अभिन्न सम्बन्ध है। समाजशास्त्रीय अध्ययन–विधि मे लोकशास्त्र के अन्तर्गत लोकाचार, परिवार रचना आदि का अध्ययन आता है। प्रत्येक विश्वास के मूल मे जाकर पता लगाया जाता है कि उसकी समाज को कोई आवश्यकता थी या नही। ऐतिहासिक प्रणाली मे लोक–शास्त्र का ऐतिहासिक अध्ययन आता है। चौवे जाति में विवाह के समय 'मुगल पसारने' की प्रथा है जिसमें चून के पुतले बना कर उन्हे पीसा जाता है। ऐतिहासिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि एक बार मथुरा पर गजनवी का आक्रमण हुआ था। उस समय एक चौवे परिवार मे विवाह हो रहा था। इस व्याघात से सव लोग कुद्ध हुए और लडने चले गये तथा मुगलो को मारा। तभी से याददाश्त मे यह प्रक्रिया जुड़ गई। माथुर चतुर्वेदियो मे "काजीमार पाण्डेय' एक गोत्र इसी तथ्य का सकेत है। ऐतिहासिक लोकशास्त्र अध्ययन मे ही हम देश–विदेश के समान-सूत्रो को खोज कर. उनके मूल की एकता का अनुसंधान करते हैं, जैसे-भारत मे दहलीज पर बैठना निषिद्ध है। रूस मे भी कहा जाता है कि यदि क्वारी कन्या दहलीज पर खडी हो तो उसका पति भाग जाता है। वैज्ञानिक अध्ययन–विधि में टोना–टोटका, शकुन–अपशकुन की छानवीन की जाती है। लोक मे पूर्णिमा के दिन व्रत की प्रथा है इसकी वैज्ञानिक तह मे जाकर डॉ० सुरेन्द्र प्रसाद राय कहते हैं कि अब अमेरिका के मियामी विश्वविद्यालय के दो वैज्ञानिको ने चद्रमा की विभिन्न कलाओ एवं मानव गतिविधियों के बीच संबध स्थापित कर उक्त तथ्यो के लिए आधार प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार अधिकतम मानव हत्याएँ पूर्णिमा या अमावस्या के दिन होती पाई गई है। कारण यह है कि इन दिनो चन्द्रमा के अधिकतम खिचाव के कारण शरीर के भीतर (जिसका 80 प्र० श० भाग जल है) अधिकतम ज्वार सी स्थिति उत्पन्न होती है जो भीतरी दाब को बढाकर मानसिक रूप से असतुलित व्यक्तियो को हत्या करने के लिये वाध्य करती है। सभवत· इसीलिये हमारे पूर्वजो ने पूर्णिमा और अमावस्या को व्रत पूजा और ध्यान का विधान बनाया ताकि चित्त शुद्धि द्वारा आत्म नियमन किया जा सके। लोकानुष्ठान तथा लोक पूजाओ के माध्यम से अनेक दार्शनिक तथ्य सकलित किये जा सकते है मनोवैज्ञानिक अध्ययन–विधि मे लोक मानस का अध्ययन किया जाता है जिससे अवचेतन की गहराइयो का पता लगता है। टोटका वाले प्रसग मे आगे मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रस्तुत किये गये है। यही स्थिति भाषाशास्त्रीय विधि की है इसमे विधि–सबंधी लोक–शब्दावली का अध्ययन आता है।

लोकशास्त्र अंधविश्वास का प्रबल विरोधी है किन्तु उसका विरोध वह इस प्रकार करता है जैसे किसी राज्य के किले मे प्रवेश करके उसके विरुद्ध सघर्ष करना। इसके अतिरिक्त लोकशास्त्र के अन्तर्गत परपरा प्राप्त ज्ञान का बहुत विशाल कोश एकत्र हो जाता है जो हमे मानव के क्रमिक विकास का वोध कराता है। यह मानव शास्त्रीय अध्ययन है।

—के० एल० जैन इन्टर कालेज सासनी अलीगढ़

□

7

लोक–साहित्य के विविध रूप

शम्भुशरण शुक्ल

लोकसाहित्य के विद्वानो ने स्थूल रूप मे लोक-साहित्य को पाँच शीर्षकों में वर्गीकृत किया है :—लोकगीत, लोकगाथा, लौककथा लोकनाट्य और प्रकीर्ण लोक-साहित्य। हम यहाँ सक्षेप में इनका परिचय प्राप्त करेंगे। सुख–दुःख की भावावेश-मयी अवस्था लोकगीत की भी जननी है। अन्तर केवल इतना है कि गीत सप्रयास अभिव्यक्ति है जवकि लोकगीत अनायास ही अधरो पर लरज उठने वाला स्वर है, जिसमे लोक मानस की अभिव्यक्ति होती है, और जो लोक में प्रचलित होता है। दूसरे शब्दो मे लोकगीत मौखिक रूप मे पीढी दर पीढी प्राप्त होते रहते हैं। गीतकार का व्यक्तित्व समूह मे लय हो जाता है। इसीलिए लोकगीत को नितान्त निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति कहा जाता है। लोकगीत के स्वरूप को समझने के लिए उसके लक्षणों को समझना अच्छा होगा।

। लोकगीत की रचना तो व्यक्ति ने ही की होगी परन्तु व्यक्ति लोक के सुख–दु:ख, हर्ष–विषाद, विचार–परम्परा से इस प्रकार तादात्म्य कर गयी है कि लोकगीत को सामूहिक अभिव्यक्ति कहा जाता है।

2. लोकगीत का रचनाकाल अज्ञात होता है। वह मौखिक रूप मे पीढ़ी–दर-पीढी प्राप्त होता है। इसी कारण इसे श्रुति भी कहा जाता है। लोकगीत देशकाल के प्रभाव को ग्रहण करते हुए भी अपनी लोक मानसता बनाये रखता है।

3 लोकगीत छन्दो का वन्धन स्वीकार नही करता, अलकारो के मोह मे नहीं फँसता। इसकी भाषा सहज तथा स्वाभाविक होती है।

4. एक टेक होती हैं; जिसकी पुनरावृत्ति होती है।

5. प्रश्नोत्तर शैली (विशेष रूप से नृत्यगीतो मे) मिलती है।

6 लोकगीतो मे ध्वनिसाम्य महत्त्वपूर्ण है, इसकी रक्षा के लिए निरर्थक शब्दो अथवा ध्वनियो का भी प्रयोग किया ज ता है।

7 रूढि सख्याओं का (तीन, पाँच, सात) का प्रयोग होता है।

8. लोकगीत आशुरचना होती है।

9. लोकगीत मे जिस रहस्य-भावना के दर्शन होते है वह लोक–मानस की अभिव्यक्ति होती है। यह सँतों के साधना–पथ अथवा किसी विचार-पद्धति को लेकर चलने वाली रहस्य-भावना नही होती, यही कारण है कि लोकगीत सँतो द्वारा निर्मित गीतों से भिन्न होता है।

10. लोकगीत मे लोकज्ञान की ही अभिव्यक्ति होती है ।

" निष्कर्ष रूप मे कह सकते है कि लोकगीत लोकमानस की वह सहज, भावावेगमयी अनायास अभिव्यक्ति है जिसमे उसके हर्ष–विषाद, उत्थान-पतन, रीति–रिवाज, रहस्य-रोमाच, परम्पराओ, अन्धविश्वासो, सस्कारो आदि की झाँकी मिलती है । जो लय स्वर से युक्त एक पीढी से दूसरी पीढी के स्वरो पर लरजता हुआ मौखिक रूप मे अपना अस्तित्व और प्रभाव बनाये रखता है । जिसमे रचनाकार का व्यक्तित्व लोक–व्यक्तित्व मे लय हो जाता है । लोकगीतो का वर्गीकरण करने का प्रयास अनेक विद्वानो ने किया है लेकिन वास्तविकता यह है कि लोकगीतो का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया ही नही जा सकता क्योकि लोक वर्गीकरण से परे है । अतः लोकगीतो के वर्गीकरण के जितने भी प्रयत्न होगे, वे सभी अधूरे होगे । यही कारण है कि प्रत्येक अनुसन्धाता अपने अनुसंधान के क्षेत्र मे प्राप्त होने वाले गीतो के आधार पर लोकगीतों का वर्गीकरण प्रस्तुत करता है ।

2. लोकगाथा

डॉ० शंकरलाल यादव ने लोकगाथा को लोकगीतो के अन्तर्गत रखा है[1] जबकि डॉ० सत्येन्द्र ने कथा साहित्य के अन्तर्गत[2] । परन्तु लोकगाथा को लोक-साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा के रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिए क्योकि लोकगाथा पद्यात्मक होने के कारण गद्यात्मक लोक–साहित्य से भिन्न है और प्रबन्ध तत्त्व का समावेश तथा वस्तु–व्यंजक होने के कारण लोकगाथा को लोकगीत नही कह सकते । लोकगाथा अंग्रेजी शब्द Ballad का पर्याय है । इसके लिए हिन्दी मे अनेक शब्द प्रचलित है । कथागीत,[3] गीतकथा,[4] पँवाण,[5] आदि । डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने 'लोकगाथा' शब्द अधिक 'उचित माना है ।[6] क्योकि इस शब्द मे लोक की गन्ध आ जाती है, जो लोकसाहित्य का अग होने के लिए अनिवार्य शर्त है और गाथा मे आख्यान गीत, वीरगाथा आदि का समावेश हो जाता है ।

लोकगाथा के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले तत्त्व निम्नलिखित है—

1. रचनाकार के व्यक्तित्व का सामाजिक सस्था मे विलय
2 वस्तु–व्यजक रचना
3 प्रबन्धात्मक दीर्घ कथानक
4. लोक–सगीत तथा लोक-नृत्य का साहचर्य
5. प्रामाणिक मूल पाठ का पता लगाना अत्यन्त कठिन

---

1 हरियाणा प्रदेश का लोक-साहित्य पृ 66
2. डॉ० सत्येन्द्र लोक–साहित्य विज्ञान पृ. 158
3 झवरेचन्द मेघाणी : लोक-साहित्य पृ 20
4 सूर्यकरण पारीक : राजस्थानी लोकगीत पृ 78
5 महाराष्ट्र मे प्रचलित
6 भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन पृ. 492

6. टेक पदों की पुनरावृत्ति
7. लोक-मानस की अभिव्यक्ति। अप्राकृतिक, अतिप्राकृतिक, अतिमानवीय चित्रण
8. स्थानीय गन्ध
9. सहज भाषा का प्रयोग, अलंकारों का अभाव
10. सम्पूर्ण जीवन का सागोपांग चित्रण
11. इतिहास की सदिग्धता
12. मौखिक परम्परा

प्रो० गूमर ने लोक-गाथाओ का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है- प्राचीनतम गाथाएँ, कौटुम्बिक गाथाएँ, अलौकिक गाथाएँ, पौराणिक गाथाएँ, सीमान्त गाथाएँ, आरण्यक गाथाएँ।[1] यह वर्गीकरण पाश्चात्य लोकगाथाओ पर आधारित है फिर भी इसमे भारतीय लोकगाथाओ के भेद अन्तर्भुक्त हो सकते है लेकिन भारतीय लोक-गाथाओ को वर्गीकृत करने की आवश्यकता बनी हुई है क्योकि जितने वर्गीकरण हुए है वे सब अंचल विशेष की लोकगाथाओ के आधार पर हुए है उचित तथा वैज्ञानिक वर्गीकरण तभी सम्भव होगा जब भारत के सभी अंचलों की लोकगाथाओ को सामने रख कर किया जायेगा।

3. लोक-कथा

लोक-कथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कई वाद प्रचलित है यथा—प्रसारवाद, प्रकृतिरूपकवाद, मनोविश्लेपणवाद, विकासवाद आदि। डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार "लोक मे प्रचलित और परम्परा से चली आने वाली मूलत मौखिक रूप मे प्रचलित कहानियाँ लोक-कहानियाँ कहलाती है।[2] डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार लोक-कथाओ की विशेपताएँ निम्नलिखित है-[3]

1. प्रेम का अभिन्न पुट।
2. अश्लील शृंगार का अभाव।
3 मनुष्य की मूल प्रवृत्तियो से निरन्तर साहचर्य।
4. मगल कामना की भावना।
5 सयोग में कथाओ का अन्त।
6. रहस्य रोमाच एव अलौकिकता की प्रधानता।
7. उत्सुकता की भावना।
8. वर्णन की स्वाभाविकता।

किसी भी कथा को लोक-कथा होने के लिए उस कथा में लोक मानस की अभिव्यक्ति आवश्यक है। यही एक ऐसा तत्त्व है जो लोक कहानी को साहित्यिक

---

1. द पॉपुलर वैलेड पृ० 135-287
2. हिन्दी साहित्य कोश (भाग 1) पृ० 748
3 लोक साहित्य की भूमिका पृ० 132

कहानी से पृथक् करता है । डॉ सत्येंद्र, बाबुलकर, डॉ. सेन जैसे विद्वानों ने लोक-कथाओ का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है परन्तु वह शोध-क्षेत्र अथवा प्रदेश-विदेश की कहानियों तक सीमित है इस दृष्टि से डॉ. उपाध्याय का वर्गीकरण किसी सीमा तक उचित माना जा सकता है।[1]—

1 उपदेश कथा 2 व्रत कथा 3. प्रेम कथा 4. मनोरंजक कथा 5. सामाजिक कथा 6. पौराणिक कथा

4. लोकनाट्य

नाट्य कला मानव जाति की सबसे प्राचीन कला है । कदाचित् आदिम मानव ने सर्वप्रथम कलात्मक रूप से अपनी अभिव्यक्ति नाट्य कला मे की है । मनोरजन का ज्यो ही अवसर मिला नही कि लोक बुद्धि अनुकरणात्मक प्रवृत्ति के मनोनुकूल साधन ढूंढ लेती है [2]। लोकनाट्य का स्वरूप लोक धर्मी होता है इनके लिए किसी प्रकार के रगमंच की तैयारी नही करनी पड़ती है । इनमे नृत्य–संगीत की प्रधानता रहती है । इस प्रकार लोकनाट्य नृत्य, संगीत और अभिनय की त्रिवेणी का संगम है । वाह्याडम्वर एव नागरिक सुसंस्कृत चेष्टाओं से परे इनमे सहज ढंग से लोक भावो और प्रतिक्रियाओ की अभिव्यक्ति होती है ।

क्या लोकनाट्य, लोकसाहित्य के क्षेत्र मे आता है ? यह प्रश्न उठाते हुए डॉ सत्येन्द्र ने इसका स्वय उत्तर देते हुए लिखा है—"लोक रंगमच का नाट्य संगीतात्मक होता है । गेयता की इसमे प्रधानता रहती है इस गेयता का रूप शास्त्रीय नही होता । नगाडे जैसे लोक वाद्य का इसमे उपयोग होता है । वेशभूषा मे लोक-प्रियता का ध्यान रखा जाता है । नाट्य वस्तु के अभिप्राय और प्रयोग रूप लोक-कथा क्षेत्र से तथा लोकवार्ता क्षेत्र से लिये जाते है फलतः लोक रगमच तथा लोक नाट्य को लोक वार्ता क्षेत्र का साहित्य मानना होगा ।"[3]

स्थूलतः लोक धर्मी नाट्य परम्परा के दो रूप मिलते है – 1. सामयिक लघु प्रहसन 2. मध्यरात्रि से प्रारम्भ होकर प्रात काल तक अभिनेय नाट्य । शिथिल कथानक, सगीत नृत्य की प्रधानता, खुला रगमच, सीमित और सरल प्रसाधन, पुरुषों का आधिपत्य, आचलिक परम्परा, देवी देवता की स्तुति से श्रीगणेश आदि लोक-नाट्य की विशेषतायें यक्षगान, तमाशा, जात्रा,मवाई, कठपुतली, नौटकी रास और राम लीला लोक नाट्य के ही विविध रूप है ।

5. प्रकीर्ण लोकसाहित्य

लोकोक्ति लोक की ऐसी उक्तियाँ है जिनमे जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव झलकते हैं और जिनका सम्बन्ध व्यवहार से है । थोड़े मे ही बहुत कुछ कह देने की सूत्र शैली इसमे प्राप्त होती है । इसमे लोक मानस के विविध पक्षो की अभिव्यक्ति होती है ।

---

1. लोकसाहित्य की भूमिका पृ० 129–131 ।
2. श्याम परमार. लोकधर्मी नाटय परम्परा पृ०7 ।
3. लोकसाहित्य विज्ञान पृ० 508,–9

डॉ. कन्हैयालाल सहल के अनुसार—"—अपने कथन की पुष्टि में किसी को शिक्षा या चेतावनी देने के उद्‌देश्य से किसी बात को किसी की आड़ मे कहने के अभिप्राय से अथवा किसी को उपालम्भ देने व किसी पर व्यंग्य कसने आदि के लिए अपना स्वतत्र अर्थ रखने वाली जिस लोक प्रचलित तथा सामान्यतः सारगर्भित संक्षिप्त एव चटपटी उक्ति का लोग प्रयोग करते हैं उसे लोकोक्ति अथवा कहावत का नाम दिया जा सकता है।[1] डॉ. सत्येन्द्र के अनुसार कहावतो मे चार दृष्टियाँ मिलती हैं[2] अर्थपोपण, नीति तथा ज्ञान विपयक शिक्षा आलोचना तथा सूचना। लघुत्व, ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष अनुभव की अभिव्यक्ति, लय या गति जिन्दादिली, विदग्धता, लोकरजकता, सरसता, तुक या अनुप्रास और लोकप्रियता लोकोक्ति की विशेपताएँ हैं।

मुहावरा अरवी भापा का शब्द है इसका अर्थ है – एक दूसरे से सवाल जवाब करना। मुहावरो के प्रयोग से भाषा की प्रभाव-शक्ति बढ जाती है तथा विपय को स्पप्ट करने मे सहायता मिलनी है। डॉ शकरलाल यादव के अनुसार "मुहावरा (रूढि) उस सुगठित पद समूह का नाम है जो अपना साधारण अर्थ (वाच्यार्थ) नही अपितु एक विशेष अर्थ (रूढार्थ या लक्ष्यार्थ) प्रकट करता है [3] लोक जीवन का कोई ऐसा पहलू नही जिसका चित्रण मुहावरो मे न हुआ हो। रूढि, प्रथा, परम्परा, घर-गृहस्थी, शकुन, आर्थिक, सामाजिक ऐतिहासिक पौराणिक सभी पहलू मुहावरो मे चित्रित हुए है।

पहेली लोकसाहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अग है। इसने साहित्य को भी प्रभावित किया है। पहेली मे यद्यपि मानव-बुद्धि का उपयोग मिलता है फिर भी यह लोक मानस की पुरातन अभिव्यक्ति है। इसमे लोक-कविता के गुण मिलते हैं पहेली मे लय और तुक का विशेष महत्त्व होता है। शब्द सयोजन की दृष्टि से पहेली के तीन भेद हैं—एक शव्दात्मक, एक वाक्यात्मक और अनेक वाक्यात्मक।[4] पहेली का प्रयोग बुद्धि परीक्षा के लिए प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। भारत तथा कुछ अन्य देशो मे पहेली का आनुष्ठानिक प्रयोग भी मिलता है। पहेली श्रोता की पर्य-वेक्षण शक्ति को विस्तार देती है तथा उसे पैना बनाती है। लोक जीवन में पहेली का मुख्य उद्देश्य मनोरजन तथा समय बिताना है। जाडो के दिनो मे अलाव के चारो ओर बैठ कर प्राय पहेलियाँ कही जाती हैं सुनने वाला पहेली पूछने वाले से अता-पता (C। e) चाहता है और उसके ही आधार पर कल्पना के घोड़े दौड़ाता हुआ पहेली के मुख्य अभिप्राय को पकड़ने की कोशिश करता है।

—अध्यक्ष हिन्दी विभाग उपाधि स्नातकोत्तर महाविद्यालय
पीलीभीत, उ०प्र०

---

1. राजस्थानी कहावतें एक अध्ययन पृ० 20
2. लोकसाहित्य विज्ञान पृ० 384
3. हरियाणा प्रदेश का लोकसाहित्य पृ० 431
4. दिनेश्वर प्रसाद लोकसाहित्य और संस्कृत पृ० 125

□

लोक-साहित्य के विविध सम्प्रदाय

विजय कुलश्रेष्ठ

लोकवार्ता (Folklore) का परिवेश बहुत व्यापक है। लोकसाहित्य इसी लोकवार्ता का एक अग है जैसे लोकगीत, लोककथा, लोकविश्वास, लोककला, लोकानुष्ठान, लोकनाट्य, लोकानुरजन आदि। लोकसाहित्य का अध्ययन हमारे देश मे इसी बीसवी सदी की देन है जबकि पश्चिम मे बहुत पहले से यह कार्य हो रहा है।

लोकसाहित्य के अध्ययन के विविध आधारों पर लोकसाहित्य के सम्प्रदायो का उल्लेख भी अब किया जाने लगा है क्योकि लोकसाहित्य का सीधा सम्बन्ध लोक के धर्म तत्त्व से है और वह धर्मतत्व लोकविश्वासों पर आधारित होता है तो ऐसी स्थिति मे लोकसाहित्य का मूल किस रूप से कहाँ उपलब्ध होगा इसके लिए अध्येताओ मे विभिन्न मत हैं। ये मत भी उनके लोकसाहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोणो के कारण हैं इसी दृष्टिकोण-भेद के कारण लोकसाहित्य के क्षेत्र मे विविध सम्प्रदायो का निर्माण हो गया। किसी भी साहित्य एव इतिहास को जिस प्रकार विविध काल खण्डो, प्रवृत्तिमूलक वृत्तियो या विशिष्ट सम्प्रदायो अथवा वादो में बाँटकर अध्ययन किया जाता है उसी प्रकार लोकसाहित्य के सन्दर्भ मे भी विविध सम्प्रदायों के अध्ययन की आवश्कता इसलिए समझी जा सकती है क्योकि—

(1) बिना किसी ऐतिहासिक विश्लेपण के लोकसाहित्य की विविध स्थापित परम्पराओ, अध्ययन दृष्टियो तथा विशिष्टताओ को समझा नही जा सकता है।

(2) लोकसाहित्य विपयक विविध समस्याएँ प्रारम्भ से अब तक क्या रही है और उनके निराकरण के लिए कैसे और क्या दृष्टिकोण और सिद्धान्त अपनाये गये है, इसका अध्ययन इन्ही सम्प्रदाय, विशिष्ट वैचारिक एव सैद्धान्तिक दृष्टियो से किया जा सकता है।

(3) लोकसाहित्य के क्षेत्र मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से क्या बाधाएँ और समाधान उपलब्ध हुए, उनका सम्पूर्ण विश्लेपण इसी रूप से समग्रतः किया जा सकता है।

(4) विश्व लोकवार्ता साहित्य के समकक्ष किसी प्रायद्वीप या देश या क्षेत्रीय लोकसाहित्य की परम्पराओं की समानता असमानता तथा विभेदता का अध्ययन इसी दृष्टि से सहज रूप से किया जा सकता है।

समग्ररूप से समस्त विश्व लोकसाहित्य के चिन्तको के दृष्टिकोणो पर आवृत सम्प्रदायगत विश्लेपण का निष्कर्प मूलत निम्नवत् है. –

लोकसाहित्य के सम्प्रदाय

↓ ↓ ↓

धर्मगाथावादी या भारतीय सम्प्रदाय	नृतत्ववादी या ऐन्थ्रापोलोजीकल सम्प्रदाय	लोकसाहित्यवादी सम्प्रदाय

1. भारतीय अथवा धर्मगाथावादी सम्प्रदाय

इस भारतीय सम्प्रदाय का आरम्भ प्रसिद्ध जर्मन विद्वानद्वय विल्हेमकार्ल ग्रिम तथा जैकव काल ग्रिम द्वारा 18 वी शताब्दी मे किया गया। इन ग्रिम वन्धुओ का लोकवार्ता विज्ञान का पिता (Father of Folkloristics) कहा जाता है। सन् 1856 मे ग्रिम बन्धुओं ने लोकसाहित्य के इस धर्मगाथावादी (Mythological) सिद्धान्त का प्रतिपादन दो मूल बिन्दुओ पर किया कि—

(1) समान लगने वाली कहानियो का मूल यूरोपोय स्रोत मे है।

(2) लोककथाएँ धर्मगाथाओ की ध्वसावशेष है धर्मगाथाओ के अध्ययन से ही उन्हे समझा जा सकता है।

इस धर्मगाथावादी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ताओ मे प्रमुख अदालवर्त कुन्ह् स्क्वार्ज, मन्नहाट, मैक्ससूलर पिकटेत, एफ० आई० वुसलमेव, ए० एन० अफनास्पोव तथा ओ० एफ० मिलर आदि है।

इस सम्प्रदाय की मूल मान्यताएँ इस प्रकार है—

(क) समान गाथाओ का उद्गम एक स्थान से ही हुआ है।

(ख) समान गाथाओ का प्रचलन जहाँ जहाँ हैं, वहाँ की जातियों का मूल उद्गम स्थान भी एक ही था वे जातियाँ मूलत यूरोपीय आर्य परिवार की ही है।

(ग) गथाएँ भापाविकार के कारण उत्पन्न हुई।

(घ) उनका मूल कोई प्राकृतिक व्यापार है।

(ङ) सभी गाथाओ, अभिप्रायो, नामों तथा शब्दो की तुलना की जा सकती है।

इस सम्प्रदाय के मानने वाले ग्रिम वन्धुओ ने लोककथाओ या गाथाओ को धर्मगाथाओ का ध्वसावशेष माना था परन्तु मैक्समूलर ने गाथाओं की भाषा विकार के कारण उत्पत्ति बतलायी। मैक्समूलर की मान्यता थी कि मानवीय संस्कृति के विकास के चार स्तर हैं—

(i) थीमेटिक (शाब्दिक): धातुओ और व्याकरण के तत्त्वो का जन्म।

(ii) डाइलैक्टि (भापिक): वोलियो द्वारा अपना रूप ग्रहण, विविध परिवारो की भापाओ का मूल स्वरूप जन्मा।

(iii) माइथोलोजीकल (धर्मगाथिक,. इस स्तर पर धर्मगाथाएँ बनी

(iv) पोपुलर (ख्यात): इस युग मैं लौकिक राष्ट्र भापाएँ खड़ी हुई है।

लेकिन मैक्समूलर का यह मत व्यापक रूप मे अभिस्वीकृत नही हुआ । स्क्वार्ज महोदय ने गाथाओ की उत्पत्ति का कारण कोई प्राकृतिक व्यापार मानकर स्टार्म थ्योरी का प्रतिपादन किया कि तूफान के प्राकृतिक व्यापार से देवी देवताओं का जन्म हुआ । इसी प्रकार सूर्य की उत्पत्ति सोलर थ्योरी (सौर सिद्धान्त) से मानी ।

इस धर्मगाथिक सम्प्रदाय में लोककहानी के एक स्थान से दूसरे क्षेत्रो तक प्रसारित होने के लिये 'प्रसार' को आधार बना कर थ्योडोर बैन्फे ने 'उधारवादी' या 'थ्योरी ऑफ बोरोइंग' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया । उनके मतानुसार गाथाएँ अथवा लोकगाथाएँ एक स्थान पर ही उत्पन्न हुई और वहाँ से दूसरे क्षेत्रो मे फैलती चली गईं । बैन्फे महोदय ने इस धारणा का प्रतिकार किया कि समान धर्मगाथाओं वाली जातियाँ भी एक ही परिवार की है । उनकी मान्यता थी कि जातियाँ अलग-अलग परिवार की हो सकती है; उनमे समान धर्मगाथएँ या धर्मकथाएँ मिलने का कारण यही है कि उन्हे एक ही मूल स्रोत से उधार लिया गया है ।

बैन्फे महोदय के सिद्धान्त का एक प्रबल निष्कर्ष यही है कि धर्मगाथाओ का मूल उद्‌गम क्षेत्र भारत है । भारत से ही ये कथाएँ युद्धो और आक्रमणों के कारण ही इधर उधर फैली और सक्रमित स्वरूप में विकसित हुई । इस सिद्धान्त के समर्थको मे गेस्टन पेरिस, सेमेन्युअल कासक्विन, क्लौस्टेज, लेनउड आदि है ।

बैन्फे के सिद्धान्त का आधार पचतत्र की कहानियाँ थी और उनका लिखित स्वरूप संस्कृत मे उपलब्ध था लेकिन बाद मे ऐतिहासिक और भौगोलिक प्रसार के प्रवर्तक विद्धान कार्ले क्रोहन ने इसका खण्डन किया तथा बतलाया कि मौखिक कहानियो मे समानता का कारण उन कहानियों की ऐतिहासिक यात्रा या भौगोलिक यात्रा है जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचकर सक्रमित होकर भी समान तत्त्वों से सम्पन्न रहती हैं ।

इस भारतीय मूल मे कथाओ के जन्म स्थान के विरुद्ध एक अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन भी किया गया जिसके प्रवर्त्तको का मत था कि समस्त धर्मगाथाओं का जन्म भारत मे नही, अपितु फरात (यूफ्रेटीज) मे हुआ । पर इस सम्प्रदाय को इसलिए विशेष महत्त्व नही मिल सका क्योंकि इसके लिए प्रमाणों की सार्थकता उपलब्ध नहीं करायी जा सकी ।

इस प्रकार भारतीय अथवा धर्मगाथावादी सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रसारवादी, उधारवादी या फरातवादी सम्प्रदायो की चर्चा तो रही पर वे अधिक समय तक विशेष महत्त्व नही पा सके । भारतीय अथवा धर्मगाथावादी सम्प्रदाय का महत्त्व इसलिए स्थापित रहा है । यही नही, इन सभी सिद्धान्तो मे लोककथाओं या लोक-कहानियो का मूल उद्‌गम भारत में ही माना जाता रहा है तथा यह भी कहा जा सकता है कि आज लोकवार्ता के विकसित अध्ययन-काल मे लोकगाथाओ मे उपलब्ध अभिप्राय अपनी समानता के लिये यात्राएँ करते हुए भी मूल उद्‌गम एक से जुडे है चाहे वह मूल भारत न हो, पर इसके पर्याप्त कारण और प्रमाण सिद्ध हो चुके हैं कि

भारत ही मूल उद्गम स्थल है ।

5. नृतत्ववादी या ऐन्थ्रोपोलोजीकल सम्प्रदाय

जब भारतीय सम्प्रदाय के विपरीत प्रसारवादी या उधारवादी सम्प्रदायो पर बल दिया जा रहा था तो उन सभी सिद्धान्तो की वैज्ञानिक दृष्टियो का विश्लेषण किया जाने लगा तथा उक्त सम्प्रदायों की विविध त्रुटियो का ज्ञान होने लगा । अग्रेजी विद्वान टेलर ने 'प्रिमिटिव कल्चर' नामक ग्रथ 1871 ई० मे प्रकाशित कराया जिममे उन्होने उधारवादी सिद्धान्त के विरुद्ध नृतत्ववादी सप्रदाय (Anthropological School) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि --

1. सभी जातियो के लोगो की जीवन प्रणाली, रीति रिवाज धार्मिक वृत्तियाँ और उपलब्ध साहित्यिक रचनाओं मे समानता का कारण प्रसारवादी दृष्टि या उधार वादी दृष्टि नही हो सकती । यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि प्रसार हो सकता है, पर सभी प्रकार की समानताओ की उपलब्धि का कारण एकमात्र प्रसार नही हो सकता ।

2. मानवीय स्वभाव, मानस, विचार प्रणाली और विकास-क्रम के स्वाभाविक साम्य के कारण सम्भव है । परिणामतः प्रत्येक जाति अपनी लोकगाथाओं या कहानियो का निर्माण अपने स्वतत्र क्षेत्रो मे करती है । अतः इसे 'स्वोद्भावन का सिद्धान्त' कहा जा सकता है ।

3. आदिम मानव ने हमारी समस्त संस्कृति के मूल वीज का निर्माण किया जिसके अवशेप आज भी उपलब्ध होते हैं । जिसके अन्तगत धर्मगाथा या लोकवार्ता का मूल आदिम विश्वास है । आदिम मूल विश्वास ऐनीमिज्म के सिद्धान्त पर निर्भर करते हैं ।

इस सन्दर्भ मे ऐण्ड्रलैग ने नृतत्ववादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा लोक कहानी या धर्मगाथा के विकास की सामान्यतः निम्नलिखित सरणियाँ निर्धारित की :—

प्रथमतः मूल कथा कई अभिप्रायो या मोटिफ्स से युक्त होकर विकसित
द्वितीयतः किसानो की लोक प्रचलित कहानी
तृतीयतः अर्द्धवास्तविक वीर की कहानी के रूप मे विकसित
चतुर्थतः कोई साहित्यिक रूप ग्रहण किया

इस सम्प्रदाय ने धर्मगाथावादी सम्प्रदाय के वैविध्यपूर्ण मतो या सिद्धान्तो की अपेक्षा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया और मानव स्वभाव के निकटतर पहुँच सका । इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत जर्मन विद्वान विल्हेम वुण्ट ने मनोविज्ञान वादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । अपने 'साइकोलोजी आफ नेशन्स' नामक ग्रथ में निष्कर्ष निकाला कि धर्म तथा काव्य के विविध विचार विन्दु विशेप परिस्थितियों मे मनुष्य के मानस मे स्वप्न अथवा भ्रमदृश्यो (Hallucination) में उत्पन्न हुए है ।

इस सम्प्रदाय ने फ्रायडीयन मनोविश्लेषणवाद को भी स्वीकार करते हुए बताया कि लोककथा के निर्माण मे अभिप्रायो (Motifs) का योग दमित काम (लिबिडो) को ही परिणाम है। इसके समानान्तर जेम्सफ्रेजर के 'टोनावाद,(मैजीकल थ्योरी) का भी स्वीकार किया गया।,उन्होने ,गोल्डनबाउ' नामक ग्रथ मे भूतात्मतत्व (ऐनीमिज्म) को स्वीकार करते हुए स्थापना की है कि उससे पूर्व भी लोक-सस्कृति की एक स्थिति और होती है जिसमे धार्मिक भावना के साथ टोना(मैजिक,का भाव भी सम्बद्ध रहता है। फ्रेजर का मत है कि टोने का प्रयोग प्राय: आत्माओ पर होता है जो उसी तरह की व्यक्ति-सम्पन्नकारक शक्तियाँ होती है जिस तरह की धर्म द्वारा अनुमति है। पर धर्म का सम्बन्ध स्तुति (प्रेयर,से होता है और टोना का स्पैल से। पहली स्थिति में देवताओ को अभीप्सित प्राप्ति के लिये फुसलाया जाता है और टोने की मत्र–शक्ति द्वारा अभीप्ट पूर्ण करने के लिए उन्हे विवश किया जाता है। पर टोनावाद का यह रूप स्वीकृति नही पा सकता। यद्यपि नृतत्ववादी धर्मगाथाओ या लोककहानियों में टोना विषयक अभिप्रायो की महत्ता अवश्य ही स्वीकार करते है।

यहाँ यह कहना भी अनुचित न होगा कि मनोविज्ञानवादी सम्प्रदाय से सम्बद्ध विद्वान् जातीम मनोविज्ञान और आदिम मनोविज्ञान के आधार पर भी लोकविश्वासो, स्वप्न दर्शन एवं शकुनादि के विचारो को महत्त्व देते है। इस प्रकार नृतत्वशास्त्रीय दृष्टि से इस सम्प्रदाय का महत्त्व विस्मृत नही किया जा सकता। तभी डा०सत्येन्द्र ने अपने 'लोकसाहित्य विज्ञान' नामक ग्रथ मे इस सम्प्रदाय की महत्ता स्वीकार करते हुए कहा है —"नृविज्ञान शरीर और रक्त की परम्परा का अध्ययन है तो लोकवार्ता उस शरीर की वाणी का। लोकवार्ता मे लोकतत्त्वो के वर्गो को समझने और उनका ऐतिहासिक कालांकन के लिए नृतत्व विज्ञान के बिना काम नही चल सकता।" उस दृष्टि से यह कहना समीचीन होगा कि भारतीय सम्प्रदाय अथवा धर्मगाथा सम्प्रदाय के बाद लोकसाहित्य के सम्प्रदायो मे जो सबसे महत्वपूर्ण सम्प्रदाय है, वह नृतत्वविज्ञानवादी सम्प्रदाय ही है।

ऐतिहासिक सम्प्रदाय नृविज्ञानवादी सम्प्रदाय का अग है। रूसी चिन्तको की औद्योगिक मान्यता के आधार पर उक्त नृतत्वविज्ञानवादी सम्प्रदाय के साथ ही बी०-ए० मिलर के विचार प्रतिपादन के रूप मे ऐतिहासिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ। इस सम्प्रदाय ने लोकसाहित्य को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध दिखाया और इतिहास एव लोकसाहित्य के घनिष्ठ सम्बन्ध का सिद्धात प्रतिपादित किया। क्योंकि जब पुष्ट प्रमाणो से इतिहास उपलब्ध नहीं होता है तो लोकवार्ता से प्राप्त सामग्री से इतिहास की प्रमाणिकता खोजी जा सकती है। इतिहासकार इतिहास लेखन मे लोकवार्ता को ऐतिहासिक तथ्य निरूपण के लिए तथा लोक जीवन से ऐतिहासिक सत्य की खोज करता है। इसी दृष्टि से ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत लोकसाहित्य के अध्ययन मे निम्नलिखित बिन्दुओ पर ध्यान दिया जाता है—

लोकसाहित्य या लोकवार्ता साहित्य—

(क) कहां ?

(ख) कब ?

(ग) किन ऐतिहासिक तथ्यों पर ?

(घ) किन काव्य-स्रोतो के सहयोग से निर्मित हुआ है ?

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नृतत्ववादी सम्प्रदाय के अन्तर्गत दो प्रमुख उप सम्प्रदायो की चर्चा भी की जा सकती है—एक मनोविज्ञानवादी दूसरा ऐतिहासिक।

3. लोकसाहित्यवादी सम्प्रदाय

लोकवार्ता साहित्य के अध्ययन के अन्तर्गत भारतीय या धर्मगाथिक सम्प्रदाय और नृतत्ववादी सम्प्रदाय के अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है—लोक-साहित्यवादी, जिसके जनक अमेरिकी लोकवार्ताविद आर्ने थामसन हैं। एण्टी आर्ने ने प्रारम्भ मे कार्ल क्रोह्न के भौगोलिक ऐतिहासिक लोकसाहित्यवाद का सहयोग किया। फिर स्टिथ थामसन के साथ 'टाइप्स ऑफ द फोकटेल्स इन वर्ल्ड लिटरेचर' मे कहानी विषयक लोककथामानको और मानक कथा रूपों की स्थापना की। स्टिथ थामसन ने आर्ने द्वारा कथामानको के अध्ययन को परिपूर्ण किया और यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि लोककहानी के मूल तन्तु तो अभिप्राय हैं और उन्होने विश्व लोकवार्ता की अभिप्राय अनुक्रमणिका (Motif Index of World Folklore) तैयार की।

इस सम्प्रदाय का दृष्टिकोण वहुत स्पष्ट था। उन्होंने लोकसाहित्य के साथ धर्म का प्रश्न ग्रहण नही किया और न मनोविज्ञानवादियों की भांति आदिम मानस (Primitive Mind) को ही स्वीकार किया। इसके स्थान पर इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तकों—आर्ने और थामसन—ने लोकसाहित्य के रूप, अभिप्राय, उसके साम्य और पारस्परिक आदान-प्रदान आदि के अध्ययन पर बल दिया। लोकसाहित्यवादी सम्प्रदाय की स्थापना है कि प्रत्येक वार्ता का निजी इतिहास और विस्तार क्षेत्र होता है, अतः प्रत्येक वार्ता का स्वतंत्र रूप से पूर्णातिपूर्ण अथवा समग्रतः अध्ययन किया जाना चाहिए।

वास्तविकता यह है कि इस लोकसाहित्यवादी सम्प्रदाय ने धर्मगाथावादी सम्प्रदाय का विरोध भी किया और प्रत्येक लोकवार्ता के निजी इतिहास और विस्तार क्षेत्र के आधार पर उसके विविध रूपान्तरों के सम्भावित मूलरूप का पता लगाये जाने पर बल दिया तथा प्रमुख तन्तुओं को लेकर मूल स्थापित (Archetypes) का विचार करना चाहा। लोकवार्ता विज्ञान के व्यापक क्षेत्र मे मात्र इन्ही सम्प्रदायो का वर्चस्व नही है अपितु कुछ सम्प्रदाय लोककहानियों की रचना के मूल पर भी चिन्तन-मनन करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो गये है। लोककहानियों के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया से सम्बद्ध सिद्धान्तो को दो वर्गो मे रखा जा सकता है—

1. रूपकतत्त्वीय सम्प्रदाय
2. इह्यूमरीय सम्प्रदाय

3. मूल मानसवादी

रूपकतत्त्वीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तकों की मान्यता है कि धर्मगाथाओं और संस्कृतियो मे आने वाले देवताओ की स्थिति किसी प्राकृतिक या दिव्य तत्त्व के रूपक मात्र मे ही उपलब्ध होती है। इसी सम्प्रदाय के अन्तगत प्रकृति प्रतीकवादी भी आते है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तको ने पाश्चात्य धर्मगाथा मे पोसिडिन जल का, बलकन आग का हेरा वायु का रूपक है। भारत मे इसी प्रकार विष्णु या राम सूर्य के रूप मे और हनुमान वायु के रूपक है। लोककहानियो मे प्रकृति के व्यापार भी प्रतीकात्मक होते हैं। इन कहानियो मे मरकर नायक जीवित हो जाता है और जितनी देर वह मृतावस्था मे रहता है, वह उतनी ही देर सोते रहने की बात कहता है। रूपक तत्त्व-वादियो ने सूर्य, चन्द्र, आँधी-तूफान के माध्यम से लोककहानियो मे रूपक या प्रतीको का उल्लेख किया है।

इह्यूमरीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक इह्यूमरेस है। इन सम्प्रायवादियो का मत है कि प्रत्येक धर्मगाथा तथा लोककथा किसी न किसी ऐतिहासिक तथ्य की कल्पना मे लपेटकर तथा तोड़-मरोड़कर रखी जाती है। देवता किसी मृत राजा के स्थानापन्न इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्वीकार किये जाते है। वेनियर तथा लेम्पीअर इस सम्प्रदाय के प्रमुख पोषक है।

मूलमानसवादी सम्प्रदाय के प्रवर्तक लोकवार्ता, धर्मगाथा और लोककथा के अभिप्रायों के जन्म को मूल स्थपित (Archetype) के द्वारा आदि सृष्टि मूलक (Primordial) अथवा आदि मानव मूलक (Prima) प्रथम अनुभूतियों से उत्पन्न होती है। वस्तुत. यह अवचेतनमानसवादियो की स्थापना के अन्तर्गत गठित सम्प्रदाय है। उनके मतानुसार विविध जातियो की धर्मगाथाओ मे लोककथाओ मे तथा लोकवार्ताओ मे कुछ समान बाते बार-बार आती है, वे भौगोलिक विस्तार के सर्वेक्षण मे तथा प्रागैतिहासिक काल से आज तक के ऐतिहासिक अध्ययन मे प्राय. बार-बार मिलती हैं। पर इन का समाधान दमित, उपार्जित या ऐतिहासिक मनोविश्लेषण से नही चलता है, पर जुंग इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए जातीय अवचेतन मे स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त विविध सम्प्रदायो से इतर कुछ अन्य सम्प्रदाय भी विचारार्थ लिये जाते है। इनमे से निम्नलिखित अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—

(i) ऐतिहासिक भौगोलिक सम्प्रदाय

(ii) हेतुकथावादी सम्प्रदाय

(iii) व्यक्तिवादी सम्प्रदाय

ऐतिहासिक भौगोलिक सम्प्रदाय मूलतः लोकसाहित्य सम्प्रदाय का ही अंग है जिसे फिनिशियन सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इसके प्रवर्त्तक जूलियस क्रोहन हैं, जिन्होने स्वीडिश साइडाक्स तथा डेनिश ऐक्सेल आर्लिविक के सहयोग से अन्तरर्राष्ट्रीय लोकवार्ताविद परिषद् की स्थापना भी की थी। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तको की मान्यता

यह थी कि लोककहानियो के मूल आरम्भिक स्थान का निर्णय तथा उनके प्रसार के भौगोलिक मार्ग का अनुसधान किया जा सकता है कि वे किस समय किस स्थान से परिवर्तित, सम्वर्द्धित और प्रसारित हुई। इस प्रकार उनके भौगोलिक मार्ग अध्ययन के आधार पर ही उनके ऐतिहासिक क्रम का निरूपण किया जा सकता है।

हेतुकथावादी सम्प्रदाय के समर्थको की मान्यता है कि लोककथाएँ और धर्म-कथाएँ मूलतः हेतुकथाएँ हैं जो किसी व्यापार की व्याख्या करती है। दह्लहार्ट तथा राइवर्स इसी वर्ग के पोपक है। इस सम्प्रदाय के मतानुसार वहुत सी लोककथाओ मे हेतुकथाओ का अश ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि उसी के माध्यम से मनुष्य ने इस पदार्थ जगत को देखा और उसके कार्य व्यापार को मनुष्यो और पशुओं के व्यापारो मे ढालकर समझना और समझाना चाहा हैं। इस सम्प्रदाय का महत्त्व इस रूप मे समझा जा सकता है कि हेतुकथावादी अंश से हम तत्कालीन सांस्कृतिक मान-सिकता का अध्ययन कर सकते हैं।

व्यक्तिवादी सम्प्रदाय के पोपको की मान्यता है कि लोकवार्ताओं का निर्माण मूलतः व्यक्ति ही करता है क्योकि सामान्यत. लोक मे ऐसी कोई स्थिति सम्भव नही होती कि उससे उसकी निर्माणकारी क्षमता देखी जा सके। इसलिए इन लोकवार्ताओ का निर्माण प्रायः व्यक्ति ही करते है पर उनमे उनका व्यक्ति नाम प्रचलित नही होता। इस मत के प्रवल समर्थक और प्रवर्त्तक विद्वान् हैन्स नॉमन्न है। उनका मत है कि लोक सामन्यतः नवनिर्माण नही कर सकता अपितु पुनर्निर्माण (Recreate) ही कर सकता है।

इस व्यक्तिवादी सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया स्वरूप एक अन्य सम्प्रदाय की उद्-भावना भी हमारे समक्ष स्पष्ट होती है जो यह मानकर चलता है कि 'लोक' मे उद्भाविनी या निर्माण्क शक्ति होती है। इस मत के प्रवल पोपक जे०जी० हरडर है जो मानते हैं कि लोक मे से ही उद्भावनाएँ ग्रहण कर व्यक्तिनिष्ठ प्रतिभाएं अपना सृजनात्मक चमत्कार दिखलाती है क्योकि लोक की प्रतिभा सहज निर्माणशील होती है। यही कारण है कि लोकवार्ता की परम्परा मे सदैव नवीन उन्मेषो की उद्भावनाएँ समाहित रहती हैं।

उपर्युक्त सभी सम्प्रदायों मे भारतीय या धर्मगाथावादी सम्प्रदाय अपने विशिष्ट परिमार्जनो के साथ जहाँ आम स्वीकृति पाता है, वही लोकसाहित्यवादी सम्प्रदाय भी अपनी महत्ता स्थापित करने में पीछे नही रहता है। आज सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दृष्टि से अध्ययन मे आर्ने-स्टिथ थामसन प्रणीत सम्प्रदाय का योगदान है।

—हिन्दी विभाग, कुमाऊ विश्वविद्यालय
नैनीताल-263002



लोकसाहित्यः महत्त्व और उपादेयता

युगल किशोर चतुर्वेदी

लोकमानस और लोकजीवन सदैव से विभिन्न कलाओ मे अभिव्यक्ति पाता रहा है। हर व्यक्ति में नैसर्गिक कारयित्री प्रतिभा होती है। जीवन के विभिन्न घात-प्रतिघात, क्रिया-प्रतिक्रियाओं से सतप्त अपनी मनीपा के अनुरूप वह अपने परिवेश, अपने समाज, अपने जगत की रचना या पुनर्रचना करने को हर समय व्यग्र रहता है। वस्तुत· यह वृत्ति और आकुलता ही समस्त कलाओ और क्रातिओ का उत्स है। उसकी यह चेतना हर कालमन्वन्तर मे विभिन्न रूपाकृतियो मे मुखरित होती रही है। जव आभिजात्य सस्कारसम्पन्न विशिष्ट वर्ग ने उसे वाणी प्रदान कीतो वह परिष्कृत साहित्य की सज्ञा से अभिहित हुई। पर इस विस्तीर्ण लोक मे परिव्याप्त कोटि–कोटि अज्ञ, अल्पज्ञ जन के अन्तर से अन्त सलिला की तरह निःसृत समस्त वाणी–विलास रूढ परिभापानिवद्ध साहित्य की परिधि मे नही आयेगा। सुदूर ग्राम प्रान्तरों, अचलो, ढानियो और उपत्यकाओ की क्रोड मे अनन्त काल से निवास करने वाले प्रकृति पुत्रो और पुत्रियो के भोले विश्वासो, परम्पराओ, प्रवादो तथा रागरग-मय अथवा अभाव पीडाजन्य जीवनानुभूति को जव अनगढ गीतो, रोचक कथा किस्सो ख्यात-वात, कहावतो के रूप मे अभिव्यक्ति मिलती हैं तो वह समस्त सामग्री साहित्य की मम्मान्य कोटि से इतर लोकसाहित्य की सज्ञा पाती है। डा० सत्येन्द्र न लिखा है कि लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य सस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहकार से शून्य हैं और जो एक परम्परा के प्रवाह मे जीवित रहता है। ऐसे लोक का साहित्य ही लोकमाहित्य है।

ज्ञान–विज्ञान और समाज–विकास के विभिन्न पड़ावो को पार करता हुआ मनुष्य आज वीसवी सदी के अन्तिम चरण पर आ लगा है। यहाँ उसकी यह मान्यता और गर्वोक्ति निराधार और अनुचित भी नही कि इस ब्रह्याण्ड और विशाल भूतल के सारे गुह्यतम रहस्यो को भेदकर उसने विश्व के समक्ष पारदर्शी रूप मे उपस्थित कर दिया है। त्रिलोक-विजय की उसकी चिरसाध अव स्वप्न-मात्र नही। पर क्या इस आधुनिक यान्त्रिकी सभ्यता और व्यवस्था की चमक-दमक से सर्वाशत. अभिभूत जन अपने तथाकथित सुखवैभवसम्पन्न वर्तमान से पूरी तरह सतुष्ट और आश्वस्त हैं? भौतिक समृद्धि और साज सामान सजोने की आसुरी स्पर्द्धा और लिप्सा ने क्या

उसके सहज नैसर्गिक जीवन की सारी सरसता और स्निग्धता को सोखकर उसे बुरी तरह नि.सत्व नहीं कर डाला है ? किस तथाकथित सभ्यता और शालीनता का यह प्रवंचक जाल है कि चरम वेदना और पीडा के घनीभूत क्षणो मे भी व्यक्ति को खुलकर रोने नही देना और न आनन्द-विस्मय की पुलक वेला में आत्मविह्वल होने की अनुमति देता है ? इसीलिए आज तो ऐसे थोथे, बेमानी जीवन की विभीषिका को ढोते-ढोते व्यक्ति आज बुरी तरह टूट रहा है। खंड-खंड हो रहा है। पर आभिजात्य संस्कार और वैशिष्ट्य के मुलम्मे से आवृत उसका मन मस्तिष्क, विडम्बना की बात है कि अपनी छटपटाहट और आकुलता को बाहर उकेर भी नहीं सकता। फलस्वरूप आज हृदयाघात आदि विषम व्याधियां मानव जाति की सुरक्षा और अक्षुण्णता के लिए बडी विकट चुनौती सिद्ध हो रही है।

विचारणीय है। ऐसा सब क्यो ? हमारे मत में वर्तमान विषम शोचनीय परिस्थिति के लिए सबसे बडा उत्तरदायी कारण मनुष्य की अपनी मौलिक जीवन-पद्धति की प्रधान उत्स प्रकृति से पलायन वृत्ति है। प्रकृति के विभिन्न नाम रूप रंगमय उपकरण उपादान सूरज-चांद, हिमाच्छादित उत्तुंग पहाड़, प्रफुल्लित हरे-भरे वृक्ष क्रीडा किल्लोल करती चपल सरिताएँ फूंकार करते उदधिराज का अनन्त पारावार वनराजि का कमनीय शृंगार करता इन्द्र धनुष नवोल्लास और उत्फुल्लता का अभिनव मनोरम संदेश वाहक ऋतुराज, ये सब जबसे हमारे जीवन के प्रेरक आह्लाद कारी तत्त्व नहीं रहे तभी से हमारे आचार विचार, कर्म-व्यवहार सभी से सहज सरस सम्बन्धो की मधु गंध और आत्मीय ऊष्मा तिरोहित हो गई। भोले, निरीह मनु पुत्र का प्रकृति से एक विशिष्ट जन्मजात रागात्मक सम्बन्ध है। उसे वह निकट परिजन के रूप मे देखता है। धरती उसकी मां है, आकाश उसका पिता है, पुरवा उसकी बहिन है, सूर्य उसका भाई है क्योकि मात्र उसका ही नही पूरा जगजीवन इन सबसे पोषण पाता है—

छिन एक चालो परवा भाण
मेहारी म्हारे लग रही चावं।

अथवा

सूरया वीर बदली ल्याई रे।
झाला दे दे तायें बुलाऊं
थूं म्हारे देश आई रे।।

लोक-जीवन थोथे आडम्बर और मिथ्या भौतिक प्रसार मे चरमानन्द खोजने की चेष्टा नहीं करता। आज के दिन तक भी वह मां हरियाली के स्नेह और प्यार को भूला नही है—

म्हारे आगण आम पिछोकडे मरवो
ओघर सदा प्रे गुहावणो।

उसके लिये परिवार का वृक्ष सही सलामत तभी रहेगा, जब दूध मलाई से उसका सिंचन होगा—

मांखडिया री पाल बँधा दयो मारूजी
नीमलडी सिचा-द्यो काचा दूध सूं ।

वट पीपल के विशाल वृक्ष और हरे-भरे लम्वे कडवे नीम को निहारते ही बहिन के अन्तर से हठात् स्नेहाशीष की झड़ी वरसने लगती है—

बधज्यौ रे वीरा, वड पीपल ज्यूं
फलज्यौ रे वीरा कड़वे नीम ज्यूं ।

ये किसी आधुनिक सुशिक्षित वाला की नितान्त रस्मिया कामना मात्र नहीं, भारत के हृदय ग्रामाचल मे परिव्याप्त स्वत नि सत लोकमानस की अनुगूंज हैं। लोकगीत ही क्यो सम्पूर्ण लोकसाहित्य लोक की समग्र मनीपा को अपने मे समाहित आवेप्टित किये हुए है। हर क्षेत्र और समाज मे अनन्त काल से प्रचलित लोक-गाथाएँ जन-मन का रजन, ज्ञानवर्धन और मार्ग दर्शन करती रही हैं। कालान्तर मे जो जातक, पचतंत्र अथवा ईसप की विश्व विश्रुत कथाओ के रूप मे समाहत हुई सुदूर अतीत में वे लोक में जन समान्य के बीच गाथाओ के रूप मे प्रसिद्ध थी। उनके सम्यक् अध्ययन से उस देश-काल के समाज, संस्कृति, आचार-व्यवहार, रीति-नीति की अधिकृत जानकारी हमे प्राप्त होती है। भारत के हर प्रदेश के अपने लोक-विश्वास और परम्पराएँ हैं। उनमे हमारे जीवन का आदिम रूप सुरक्षित है। अगर हमे असली भारत की आत्मा की खोज करनी है, लोक-मानस के स्पन्दन को सुनना है तो देश मे, चतुर्दिक-कण-कण मे पग-पग पर व्याप्त भारती के अनहद नाद को पहचानना होगा। आज भी महाराष्ट्र की सुप्रसिद्ध नाट्य विधा तमाशा सुन्दर चटकीली लाव-नियो के कारण जन-मानस पर अपनी अमिट छाप छोडता है- मराठी लावणी का रूप प्रमुखतः विलासिता की भित्ति पर अवस्थित था तो सास्कृतिक सदर्भ मे भारतेंदु ने इसे हिन्दी मे यो प्रतिष्ठित किया—

नहीं तुम्हे जाने प्यारे जिनको तुम आप ही बतलाओ।
देखें वही वस जिसे तुम खुद अपने को दिखलाओ ॥
क्या मजान्न है तेरे नूर की तरफ आँखें कोई खोले।
क्या समझे कोई इस झगडे के बीच आकर बोले ॥
ख्याल के बाहर की बातें भता कोई क्यों कर तोले।

गुजरात का प्रसिद्ध लोक नाट्य 'भवाई' भी लगभग ५०० वर्षों से गुजरात के अतिरिक्त राजस्थान, मालवा के सीमावर्ती क्षेत्र तथा कच्छ काठियावाड प्रदेश म अत्यन्त लोकप्रिय बना हुआ है। इतना ही नही, शिष्ट गुजराती नाटक के विकास मे भी परोक्ष रूप मे इसकी भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार तमिलनाडु का लोकमच 'तेरुं' वकुतु (तेरु अर्थात् मार्ग और कूतु का अर्थ है नाटक) लोक परक शैली मे लोक-जीवन के अकृत्रिम चरमोल्लास की एक मनोहारी छवि उपस्थित करते ह।

केरल के कूटियाट्टम अर्थात् मधुक्ताभिनय की एक अलग ही धजा है। संस्कृत मैल-यालम के सुयोग से रचित यह नाट्य रूप सैकड़ो वर्षों मे केरलवासियो को सम्मोहित किये हुए है। और व्रज की रास लीला की भव्य, मुग्धकारी सुषमा का तो बखान ही क्या जो अपनी अमित लोक मगल और अक्षय लोकरजनकारी गरिमा के कारण समस्त भारत की कोटि धर्म प्राण जनता को सदियो से भावविभोर किये हुए है।

इस प्रकार हम देखते है कि आधुनिक नागरिक सभ्यताप्रसूत अत्यल्पसख्यक विशिष्ट आभिजात्य वर्ग जो सहज अल्हड लोकजीवन को यह मानकर स्वय को जन सामान्य मे इतर रखने में ही अपनी गुरुता और विलक्षणता की सुरक्षा समझता है, विश्व के एक विशाल वर्ग की आत्मा की वाणी लोकसाहित्य के विभिन्न रूपो-लोक गीत, लोकवार्ता, लोकनाट्य, कहावत आदि मे अनादि काल से अक्षुण्ण है। अपनी अस्मिता, अपनी मनीषा, प्राणशक्ति को परखने और पहचानने के लिये बार-बार हमे लोक और साहित्य के पास ही लौटकर जाना पडेगा।

निस्सन्देह इस सन्दर्भ मे यह विशेष प्रसन्नता की बात है कि आज का साहित्य कर्मी लोक शक्ति की इस मूल्यवान धरोहर की सुरक्षा के लिये पूर्वापेक्षा अधिक सन्नद्ध और सजग है।

—प्रियवदा सदन
अशोक मार्ग
जयपुर (राज०)



लोक-साहित्य : वर्तमान परिप्रेक्ष्य में

एस० डी० चारण

अत्यल्प बुद्धि वाले एव मध्यम वर्गीय लोग तो क्या ख्यातनामा विद्वान् तथा प्रसिद्ध कलाकार भी प्रायः मात्र पुरातन भित्ति-चित्रो, लोक-गीतो, कथाओ, गाथाओ और नाट्यो आदि को ही लोक-कला एव लोक-साहित्य की सज्ञा प्रदान कर अपनी भ्रामक धारणाओ को समग्र समाज पर थोपने का असफल प्रयास करते रहते है। हमारा उनसे यही विनम्र निवेदन है कि लोक-साहित्य का एक छोर पुरातनता से अवश्य जुड़ा होता है पर इसका तात्पर्य यह नही कि पुरातनता को ही लोक-साहित्य का पर्याय स्वीकारा जाय। जिस भाँति और जिस रूप मे आजके दिन भी हमारे समाज मे लोक-तत्त्व विद्यमान है, उसी प्रकार लोक-साहित्य भी अपने प्राचीन स्वरूप मे वांछित परिवर्तन लाते हुए प्रतिपल नूतन रूप मे सर्जित हो रहा है। उक्त कथन को हम इतर शब्दो मे इस प्रकार व्यक्त कर सकते है कि लोक-साहित्य मनुष्य जाति के जन्म जितना प्राचीन होते हुए भी सद्य-प्रसूत शिशुसम नूतन है। इस साहित्य की जीवन्त एव युग-सापेक्ष शक्ति कराल काल की विध्वसात्मक शक्ति को भी पराभूत कर अद्यावधि सर्व-साधारण के आह्लादन के साथ ही उसमे विकट विषमताओ तथा सामाजिक-विडम्बनाओ को सहर्ष स्वीकारने की भावना सचरित कर रही है। काल-जयी लोक-साहित्य की परिवर्तनधर्मा प्रकृति ने युगानुरूप आवश्यक परिवर्तनो को स्वीकार कर अपने अक्षुण्ण अस्तित्व को सदा बनाये रखा है, और भविष्य मे भी बनाये रखेगी।

वर्तमान समय मे परपरा से चले आ रहे लोक-गीतो, कथाओ, गाथाओ, नाट्यो, लोकोक्तियो, बाल-खेलो, उत्सवो, सस्कारो आदि को एक ओर नये रूपो मे व्याख्यायित किया जा रहा है तो समानान्तर दूसरी ओर इनकी नव-रचना-प्रक्रिया भी जारी है।

लोक साहित्य को मैं शाश्वत साहित्य की कोटि मे परिगणित करता हूँ और शाश्वत साहित्य की सामयिक सार्थकता स्वत. सिद्ध है। इसके समर्थन में कुछ भी कहने की कोई आवश्यकता नही हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे लोक-साहित्य की प्रासगिकता को हम बड़े पैमाने पर इन बिन्दुओ के सहारे स्पष्ट कर सकते हैं—

—लोक-साहित्य के वे अश जो परम्परित होते हुए भी वर्तमान सदर्भो को उजागर करने की क्षमता रखते हैं।

—लोक- साहित्य की विधाओ मे निरूपित सामयिक समस्याएँ एव इन विधाओ के माध्यम से आधुनिक विचारो का प्रचार-प्रसार।

—परंम्परित साहित्य मे प्रस्तुत युग-सापेक्ष परिवर्तन ।

—लोक-साहित्य-वर्तमान शिक्षा-पद्धति हेतु सफल एव श्रेष्ठ माध्यम ।

—श्रेष्ठ साहित्यकारों द्वारा प्रभावात्मक आत्माभिव्यक्ति हेतु लोक-धर्मी विधाओं का चयन ।

बहुत गहराई और सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर विदित होगा कि नाना विषयो पर समग्र विश्व के निवासियो का चिन्तन एव तदनुकूल व्यवहार प्राय एक सा होता है। फलस्वरूप विश्व लोक-साहित्य मे अभिव्यक्त अनेक तथ्य समान से होते हैं। विश्व के सभी देशो मे किसी जमाने मे सामन्ती व्यवस्था अवश्य रही है। निर्धन, शोपित एव प्रपीड़ित जनता अपनी विचारधारा को परोक्षत. लोक-साहित्य के माध्यम से ही अभिव्यक्ति देती रही है। सामती-व्यवस्था मे आश्रय पाने वाले एव उसी व्यवस्था की हिमायत करने वाले, बिके हुए साहित्यकारों ने कभी भी अपने साहित्य के माध्यम से जन-साधारण के मूक रुदन को प्रकट नहीं होने दिया क्योंकि ऐसा करने पर उन्हे अपनी रोटी छिन जाने का भय जो बना रहता था। वे साहित्यकार होकर भी स हित्यकार की कसौटी पर खरे नही उतर सके। आम जनता सदा-सर्वदा से सामाजिक स्तर पर असमान-वितरण-पद्धति के विरुद्ध एव समानता की भावना मे विश्वास करने वाली रही है। सामन्तो के लौह-शृखला-बद्ध शिकजो मे कसते-कसते आम जनता ने यही अनुभव किया कि हम सब मिलकर ही अपनी कठिनाइयो को दूर कर सकते हैं। इन तथाकथित पूंजीपतियो एव सामन्तो से किसी प्रकार की सहायता की वाछा रखना व्यर्थ है। साधारण व्यक्ति भली-भांति यह जानता था कि शोपित की मदद शोपित ही कर सकता है अन्य कोई नही। इसी ठोस विचारधारा को चिडिया और कौवे' की कहानी के माध्यम से सबल एव सार्थक अभिव्यक्ति दी गई है। यह कहानी अत्यल्प परिवर्तन से विश्व के लगभग साठ से भी अधिक देशो मे अति प्राचीन काल से चली आ रही है। कौवा चिडिया से प्रत्यक्षतः मोती पर प्रकारान्तर से उसका अधिकार छीनता है। स्वाधिकार वचिता चिडिया सामन्ती-व्यवस्था के पोपको (क्रमश बरगद का वृक्ष, सुथार, राजा, रानी, चूहा, बिल्ली, कुत्ता, लकडी अग्नि, समुद्र, हाथी - ये सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं एव सामन्ती व्यवस्था के पोपक तथा समर्थक है) के सम्मुख फरियाद लेकर पहुँचती है पर सर्वत्र उसे निराशा ही निराशा हाथ लगती है। अन्ततोगत्वा शोपितों का प्रतीक स्वीकारी गई और धूल मे रेंगने वाली चीटी असहाय चिड़िया की सहायतार्थ आगे आती है तभी सारी सामन्ती व्यवस्था चिडिया एव चीटी (शोपित समाज) के समक्ष घुटने टेक देती है। वतमान युग मे सवेग प्रसार पाने वाली मार्क्सवादी विचारधारा का भी आधारभूत सिद्धान्त है—मजदूर एकता एवं मूलमत्र है शोपित ही शोपित के दु.ख-दर्द को जान सकता है और वही शोपित की सहायता करने मे अपना सर्वस्व लुटा सकता हे। इस गम्भीरतम विपय की सचाई को बखूबी उक्त क्रमबद्ध लोक-कथा मे बड़े सरल तथा मनोरजक ढग से निरूपित किया गया है। आज महता आवश्यकता

है—लोकसाहित्य की विविध विधाओ मे निरूपित उक्त प्रकार के तथ्यों को वर्तमान संदर्भो से जोड़ते हुए उद्‌घाटित करने की। ये अपने पारम्परिक विधान मे वर्तमान समस्याओ को सँजोए हुए है।

प्रत्येक देश मे उपलब्ध लोक-साहित्य की विविध विधाओं का सम्यक् विश्लेषण करने से स्वत ज्ञात हो जाता है कि इनमें समाज की अनेक सामयिक समस्याएँ चित्रित है। उदाहरणस्वरूप हम राजस्थान प्रदेश में प्रचलित 'दारु रौ परताप' शीर्षक एक लोक-कथा प्रस्तुत कर रहे है। इस कथा के अनुसार एक गाँव के ठाकुर की प्रसिद्धि वैद्य के रूप मे हो गई। उसके पास सभी प्रकार के रोगो के लिए केवल दो ही उपचार थे—(१) रोगी को थोडी सी शराव पिला देना या (२) रोगी के शरीर पर लोहा गर्म करके 'डाम' लगा देना। जिसने कभी शराब चखी भी न हो तो पहली वार थोडी सी शराव पीने पर उसे हल्का सा नशा आ जाता और स्वल्प समय के लिए उसे अपने रोग का विस्मरण हो जाता तथा गर्म लोहे से शरीर के किसी भाग के जल जाने से रोगी पहले वाले रोग को कुछ देर के लिए भूल जाता। फलस्वरूप ठाकुर की झूठी वैद्यारी चल निकली। एक दिन एक बुढिया अपने पोते (जो बडी खाँसी से ग्रस्त था) को लेकर ठाकुर के पास पहुँची। ठाकुर ने बालक को दवा के रूप मे दारु पिला दी। जिज्ञासावश बुढिया ने ठाकुर से पूछ ही लिया—'क्या इमसे मेरे पोते की खाँसी नष्ट हो जायेगी?' हँसते-हँसते ठाकुर ने उत्तर दिया—'डोकरी तू भी पागल लगती है। अरे, शराव पीने से तो राज्य नष्ट हो गये हैं, फिर इस नाकुछ चीज खाँसी की क्या औकात।'

कथा तो छोटी ही है पर सदेश बड़ा है। हमारे देश मे जहाँ शराववदी हेतु रोज जो आन्दोलन किये जा रहे है, ऐसी उपदेशपरक लोक कथाएँ आकाशवाणी से अथवा विविध मचो से प्रसारित करवाकर इन आन्दोलनो को भली-भांति प्रभावकारी एव सफल वनाया जा सकता है। प्राचीन होते हुए भी इन लोककथाओ की वर्तमान परिस्थितियो मे अर्थवत्ता है, क्योकि हमारे यहाँ लाखो लोग करोड़ो रुपया शराब मे फूंक रहे हैं। परिणामतः व्यक्ति के आर्थिक उत्थान एव राष्ट्रीय विकास मे बाधा उपस्थित होने लगती है। एक लोक प्रचलित सोरठे मे भी इसी भाव को चुनौती के स्वर मे दर्शाया गया है—

"खरचौ घणौ खराव, आमद सूं करणौ अधिक।
सब दिन पीणौ शराव, दुख रौ मारग देवला॥"

हम आये दिन देखते और सुनते है कि भारत सरकार एव अनेक राज्य सरकारो के अनेक प्रचार-प्रसार मन्त्रालयो द्वारा शराववदी, अफीमवदी, परिवार-कल्याण आदि से संवधित अनेक कार्यक्रम प्रचारित-प्रसारित किये जाते हैं, जिसमे अधिकाशत. लोक-गीतो, लोक-कथाओं एव लोक-नाट्यो का ही सहारा लिया जाता है। यह लोकसाहित्य के जीवट का परिचायक है। आज के इस विज्ञापन प्रधान युग मे यह सव आवश्यक एव उचित प्रतीत होता है।

वर्तमान परिपेक्ष्य मे लोक साहित्य की विवेचना से एक यह तथ्य भी हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है कि परम्परित साहित्य मे यथावश्यक युग-सापेक्ष परिवर्तन या तो आ चुके है अथवा आ रहे है । जैसे-जैसे जीवन की परिस्थितयाँ बदलती है, उसी के अनुरूप मानव-मानस की विचारधाराएँ भी परिवर्तित होती हैं । अब से कुछ वर्ष पूर्व तक स्त्री के मानस मे लोक-लाज के भय से मा एव बहिन की अपेक्षा सास तथा ननद का आदर भाव प्रकट रूप मे अधिक रहता था, पर समय ने पलटा खाया । स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र नारी व्यावहारिक दृष्टिकोण लेकर आगे आई । अब उसे सास प्राणलेवा एव ननद डायन सी प्रतीत होने लगी । फलत: उसने मृत्यु सम कष्टप्रद प्रसव-वेला मे सास या ननद के स्थान पर अपनी माँ या बहिन को बुलाना प्रारम्भ कर दिया । सामाजिक परिवर्तन को लोक-गीत ने अगीकार तो अवश्य किया, परन्तु इस बात को परम्परित नैतिक मर्यादा के अनुरूप न पाकर अपना स्वर इस प्रकार अलापा—

'जच्चा ने ऐसा जुल्म किया, अगरेजी जापा शुरू किया ।
नणदल को बुलाना बन्द किया, बहनड़ को बुलाना शुरू किया ।'

यह सब परिस्थितिवशात् हुआ । आज जब कौशल्या सी सास ही नहीं रही, तो फिर बहू के परिवर्तित स्वभाव को दोष देना व्यर्थ है । खैर हमारा यहाँ यह तात्पर्य है कि लोकसाहित्य बदलते सामाजिक मूल्यों को अपने कलेवर मे स्थान देता हुआ वर्तमान परिस्थितियो के अनुरूप निर्मित होता रहता है । आज भी समाज मे अनेक अवसरो पर विविध लोक-गीत गाये जाते हैं, जिनके कलेवर एव लय को पूर्ववत् रखते हुए भी गायिकाओ ने उनके कथ्य मे युगानुकूल परिवर्तन कर दिये है। आज इन गीतों की नायिका अपने प्रिय के समक्ष बैलगाड़ी अथवा रथ मे बैठने की इच्छा प्रकट नही करती, वह तो इस युग के द्रुतगामी वाहन हवाई जहाज मे बैठने की कामना व्यक्त करती है, चाहे इसके लिए प्रिय को कितना ही व्यय-भार वहन करना पड़े । वह इस युग मे रहकर किसी से पिछडना नही चाहती । कल लोग यह नहीं कहे कि लोक-नायिका कुछ जानती ही नहीं । उसने अपने आधुनिक-बोध को इस परिवर्तन द्वारा व्यक्त किया है—

'रुपिया लागैं जितरा लागो
बैठो हवा-जहाज मे ।'

इस प्रकार हम पाते हैं कि लोक-साहित्य की विधाओ मे वर्तमान में आये विविध परिवर्तन लोकसाहित्य की कालजयी शक्ति के परिचायक है ।

पाश्चात्य देशो मे तो इस प्रकार के प्रयोग हो भी चुके है और हमारे यहाँ भी अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ शिक्षा-विद् यह राय कई बार दे चुके है कि प्राथमिक स्तर तक की शिक्षा लोक-साहित्य की विविध विधाओ के माध्यम से ही दी जाय । बालक का अविकसित मानस इनके माध्यम से कई गुरु गम्भीर बाते भी सहज ही मे ग्रहण कर सकता है । इससे वर्तमान शिक्षा पद्धति का उबाऊपन भी समाप्त हो जाएगा । श्रीयुत सामर जी ने कठपुतलियो के माध्यम से ऐसे नाना उदाहरण प्रस्तुत कर दिये जो बालक

के प्राथमिक शैक्षिक जीवन मे बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते है। लोकोक्तियाँ नीति-शिक्षण, आदर्श स्थापन एव चारित्रिक निर्माण मे जहाँ अत्यधिक सहायक सिद्ध हो सकती हैं, वहा पहेलियाँ शिशु की सहज जिज्ञासा को जागृत तथा तृप्त करने का श्रेष्ठ आधार हो सकती है और लोक–गीतो की मधुर स्वर-लहरी विद्यार्थी का अच्छी तरह से आह्लादन कर सकेगी, क्योकि इनमे शिक्षार्थी आत्मिक नैकट्य की अनुभूति करता है। मूढ़ राजकुमारो को कुशल व्यवहारविद् बनाने हेतु ही पचतन्त्र की कहानियो की सर्जना हुई थी।

प्रत्येक देश की लोक-कथाओं का निजी एव विशिष्ट महत्त्व होता है। लोक-कथाओ की निर्मिति मूल-अभिप्रायो से सभव है। ये अभिप्राय व्यावहारिक ज्ञान के सूत्र होते है। हमे भी आज लोक-कथाओ का अध्ययन-अध्यापन मात्र मनोरजन के लिए न करके उनमे विवेचित एव व्याख्यायित मूल अभिप्रायो को ध्यान मे रखकर करना चाहिए। ऐसा करके हम सामाजिक जीवन को सुखी एव सफल बना सकते है। सृष्टि के प्रारम्भ में सौतेली मां का जो स्वभाव एव व्यवहार हुआ करता था, सभ्यता की इतनी उन्नति के बाद भी उसके स्वभाव एव व्यवहार मे लेशमात्र भी परिवर्तन नही आआ है। सारतः कहा जा सकता है ये अभिप्राय हमारे पथ–प्रदर्शक है।

प्रत्येक देश की लोक कथाओ मे एक बहुत बड़ा वर्ग सर्प कथाओ का मिलता है। इन सर्प–कथाओ में नारी और पुरुष के यौन सबधो को प्रतीकात्मक ढग से नैसर्गिक रूप मे अभिव्यजित एव विश्लेषित किया गया है। वर्तमान युग मे अनेक प्रख्यात मनोवैज्ञानिको ने इन सर्प–कथाओ का सबल ग्रहण कर मानसिक विकारो का अध्ययन करने मे सफलता पाई है। इस दृष्टि से भी लोक-साहित्य की वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे महत्ता स्पष्ट है।

इस सम्बन्ध मे जितना लिखा जाय, वही कम होगा। आज विश्व स्तर के अनेक कवि लोक-धर्मी शैलियो मे साहित्य–सर्जना कर स्वयं को धन्य मानते हुए अपनी सफलता का दावा कर रहे है। सिनेमा जगत मे लोक-धुनो पर जिन गीतो की रचना होती है, वे गीत अपेक्षतया अधिक प्रसिद्धि पाते है।

लोक-साहित्य की महत्ता हर युग मे रही है, वर्तमान युग मे है और भविष्य मे भी निर्विवाद रूप से रहेगी। एक ऐसे प्रलय दिन की कल्पना कीजिए—जब सब कुछ जल-प्लावित हो जायेगा। अभिजात्य साहित्य के अमूल्य ग्रथ-रत्न नष्ट हो जायेंगे। पर यदि सौभाग्यवश एक भी मनु बच रहा तो सम्पूर्ण लोक-साहित्य भी पुनर्जीवित हो कर नये सिरे से मानव-जाति का पथ प्रदर्शन करेगा।

—हिन्दी विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय
जोधपुर (राजस्थान)



लोकसाहित्य और आधुनिकता

कृष्ण चन्द्र गुप्ता

प्रायः यह माना जाता है कि लोकसाहित्य मे सहज अर्थात् अपरिष्कृत, अकृत्रिम, अनगढ, 'अनपालिश्ड' और यहाँ तक कि 'रफ' एव परम्परागत लोकमानस की अभिव्यक्ति होती है। लेकिन ऐसा स्वीकार करना तभी सभव है जव सहजता, अपरिकार, अकृत्रिमता, अनगढ़ता और आधुनिकता मे विरोध हो। यदि आधुनिकता से तात्पर्य केवल तार्किकता यात्रिकता और औद्योगिक सभ्यता, वैज्ञानिकता, इहलौकिकता, पश्चिमी अधानुकरण, फैशनपरस्ती, आयातित विचारधारा अति विशिष्ट एव रुग्ण वैयक्तिकता, नास्तिकता एव अराजकता से ही है तव तो निश्चित रूप से ऐसी आधुनिकता का अभिव्यक्ति लोकसाहित्य मे नही होती, लेकिन आधुनिकता से तात्पर्य यदि सामयिक समस्या, नवीन जीवन मूल्य जडता एव रूढि-विरोध, वदलते हुए दृष्टिकोण, सघर्ष एव समन्वय से विकसित होने वाली जीवन-पद्धतियाँ, वास्तविकता, विपमताएँ, वास्तविकता की कठोरताएँ शोषण अन्याय और दुराचार के विरोध से है तो ऐसी आधुनिकता लोकमानस को जिस रूप मे प्रभावित करती है उससे सहज ही प्रेरित होकर लोकसाहित्य का अज्ञात अनाम रचयिता उसे वाणी देता है। यह तो ठीक है कि जिस रूप मे कोई वैचारिक आन्दोलन जितनी शीघ्रता से बुद्धिजीवियो को प्रभावित कर अपनी साहित्यक अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है वैसी गति से लोक-जीवन को प्रभावित न कर पाने पर लोक कवि के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति नही हो पाती, लेकिन यदि कोई आन्दोलन, लोकमानस मे रम जाता है या उसे झकझोर देता है तव उसका प्रतिफलन लोक-साहित्य में सहज रूप में हो ही जाता है। नसवन्दी, मँहगाई, दहेज, वेकारी, भुखमरी सम्वन्धी लोकगीत इसके प्रमाण है। लोक-साहित्य केवल मधुर, करुण, वीर रसात्मक ही नही है। लोक जीवन की सामान्य से सामान्य प्रवृत्ति, हलचल, उथल-पुथल, सामाजिक जीवन की समस्याएँ ही नही, अभिशाप भी, धार्मिक, कर्मकाण्ड की अवांछनीयता आदि लोकसाहित्य का विषय रही हैं और यह सव आधुनिकता के अन्तर्गत ही आता है।

परम्परा पर आधारित होने के कारण लोक-साहत्यि को प्रायः आधुनिकता के समावेश के लिए अनुपयुक्त मान लिया जाता है। क्योकि परम्परा और आधुनिकता मे विरोध प्रायः स्वीकार किया जाता है जवकि परम्परा तो सतत् गतिशीलता का ही नाम है भले ही गति कितनी ही धीमी या अदृश्य क्यों न हो। हाँ, रूढ़ि और परम्परा

मे अन्तर है। रूढि और आधुनिकता मे प्राय विरोध होता है। यद्यपि आधुनिकता मे भी नयी रूढि, रीतियाँ बनती चलती है और फिर उनका विरोध भी होता है। विकास की यही प्रक्रिया है। यदा-कदा गति तीव्र और प्रचण्ड होकर कोई विस्फोट कर देती है। अत आधुनिकता जब जनजीवन को स्पर्श करने लगती है, उसमे रम जाती है, इसको झकझोर देती है तब लोकमानस से निकलकर वह लोकसाहित्य की विभिन्न विधाओ मे व्यक्त होती है ।

अत प्रत्येक भाव या विचारान्दोलन, जो जनमानस को झकझोर देता है, लोकसाहित्य मे वाणी पा जाता है। अपने प्रभाव, शक्ति, गति, अनिवार्यता और युग की आवश्यकता के अनुपात मे आधुनिकता या उसके तत्त्व लोकमानस को गहराई से आन्दोलित करने के कारण लोकगीतो मे भी अभिव्यक्ति प्राप्त करते रहे है। उदाहरणार्थ प्रथम स्वाधीनता सग्राम की लोमहर्षक घटनाएँ एव मृत्युञ्जय पात्र, फिर चाहेवे राष्ट्रीय प्रदेशीय या स्थानीय स्तर के हो, लोकवर्णित होते है। सामयिक सुधार आन्दोलनो की छाया भी लोकसाहित्य पर पडती है। औद्योगिक-यात्रिक सभ्यता के फलस्वरूप ग्रामीण जीवन की सहजता, सरलता प्राकृतिक परिवेश की समाप्ति, धूल धुँआ की प्रवृति, ये सब लोकगीतों के विषय बने हैं। सामन्ती, महाजनी, पूँजीवादी शोषण कीप्रतिध्वनियाँ भी लोकगीतोमे सुनाई पडती हैं। इनसे टकराने वाले स्थानीय, प्रदेशीय एवं राष्ट्रीय स्तर के लोकनायक की चरितावली का भरपूर वखान लोकगीतो मे मिलता है। धर्मजाति, देश, स्वाभिमान पर मर मिटने वाले शूरवीरो की गौरव गाथाएँ भी सहजतासे इनमे मिलती है ।

इन लोकगीतों एवं गाथाओ का उपयोग समर्थ एवं प्रतिभाशाली कवि अपनी कृतियो मे करते आ रहे है। वीरगाथाकाल से ही यह प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। भक्तिकाल मे भी सूफी कवियो ने प्रेमाख्यानको मे लोककथाओ का भरपूर उपयोग किया है। तुलसी-सूर जैसे समर्थ कवियो ने अवधी, ब्रज के लोकगीतो से काफी सामग्री ली है। आधुनिक युग मे भारतेन्दु एव उनके समकालीन अनेक कवियो ने लावनी, कजरी, और विरहे लिखे है। सुभद्राकुमारी चौहान ने 'खूब लडी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी' प्रचलित लोकगीत के आधार पर ही लिखा है। इधर बंगला की प्रख्यात कथाकार महाश्वेता देवी ने आदिवासी जीवन को लेकर जो 'जगल के दावेदार', 'चोट्टिमुण्डा और उसका तीर' 'घहराती घटाएँ' लिखा है उनमे तो लोकमानस में उमडने-घुमड़ने वाले भावोद्रेक को ही मूलत आधार वनाया है जिनकी सहज और प्राणवन्त अभिव्यक्ति मुण्डा लोकगीतों मे हुई थी। १८५७ के आसपास विहार बंगाल सीमान्त के आदिवासियो ने जो विद्रोह वीरसा मुण्डा के नेतृत्व में किया था उसकी सारी ऊष्मा मुण्डा लोकगीतो मे उपलव्ध हैं, वहीं से लेखिका ने उसी विद्रोह के वर्चस्वी स्वरूप को, जो उन लोकगीतो में सहजत व्यक्त हुआ है, अपने कथा साहित्य के प्राणरस के रूप में प्राप्त किया है।

आदिवासी लोकमानस को वधने वाले वे दृश्य, वे मार्मिक आघात, वे हृदय-

द्रावक दृश्य, वे नृगस अत्याचारो के नारकीय दृश्य, उनकी छटपटाहट, असहायता को जहाँ और भी अधिक दयनीय वना देते हैं वहाँ उनसे जूझने का सकल्प भी दृढ़ कर देते है। अपनी सामूहिक वेदना तड़प और उसके उवरने की विकट जिजीविषा को और भी अधिक वल प्रदान करने के लिए तथा सभी शोषितों को एकत्र करने के लिए सामूहिक लोकगान के रूप मे इनकी अभिव्यक्ति हुई है। शोषकों के चगुल से छुटकारा पाने की जो अदम्य जीवन शक्ति उनके सीने मे कसमसाती है, वह सहज रूप से उनके होठो पर लोकगीतों की टूटी-फूटी कडियो के रूप मे उभरती है। फिर कोई रचना समथ प्रतिभा का व्यक्ति इन्हे जोडकर लोकगीत वना देता हैं। इस सघर्ष की आग को बुझने से वचाने के लिए मानो लोकगीत एक माध्यम वन जाता है। 'घहराती घटाएँ' की कहानियो मे महाश्वेता देवी ने लोकगीत के उद्गम के वड़े सहज और विश्वसनीय चित्र दिये हे। 'चौहिमुण्डा और उसका तीर' में चौहिमुण्डा नायक कहता है—'यह लोग वहुत जरूरत पडने पर ही गान वनाते है। सव लोग ही पानी की तरह हाथो को अलग-अलग मारकर भाग रहे थे, गान वाँधकर यह लोग सहारा ढूँढते है।" [पृष्ठ—१७०]

हिन्दी के कुछ मचीय नवगीतकारो ने लोकगीतो के कथ्य और शिल्प को अपने उद्देश्य और युग की आवश्यकता के अनुरूप नया स्वरूप प्रदान कर कवि कर्म की साथकता प्राप्त की है।

अव प्रश्न यह है कि यह आधुनिकता है या नही ? नित नवीन होने वाली घटनाओ से जीवनधारा मे जो गति आती है, उसकी अभिव्यक्ति लोकसाहित्य और विशेषतः लोकगीतो मे तभी होती है जब वह लोकमानस को गहराई से छूती है, लोकजीवन का अग वनती है। उसे प्रत्यक्षतः परोक्षतः प्रभावित या दुष्प्रभावित करती है, उसकी जीवनधारा मे हलचल ही नही अपितु तूफान पैदा करती है। आधुनिकता का कोई आन्दोलन जव जनमानस में उतर आता है तभी लोकसाहित्य मे अभिव्यक्ति पाता है। यदि वह विशिष्ट वौद्धिक वर्ग की चर्चा तक ही सीमित रहता है या अतिविशिष्ट वर्ग के वौद्धिक व्यायाम तक ही सिमट गया है या आँधी की तरह ऊपर से ही निकल गया है या अपनी अल्प प्राणशक्ति से लोकमानस को आन्दोलित करने में असफल रहा है तो वह लोकसाहित्य मे अभिव्यक्त नही हो पाता। आयातित विचारधारा एव फैशनपरस्ती के अधीन राष्ट्रीय या अन्तरराष्ट्रीय आन्दोलनो का आयात निर्यात, महानगरीय वुद्धिजीवियो की वैठे-ठाले की वकवास, क्योंकि लोकजीवन से सम्पृक्त नहीं हो पाती इसलिए उसकी अभिव्यक्ति लोकसाहित्य मे नही हो पाती। वैसे भी भारतीय लोक जीवन अशिक्षित, रूढ़िरीतिप्रिय, स्थितिशीला अधिक है। शताव्दियो के सही गलत सस्कारो से जकड़ा हुआ है। उसमे हलचल पैदा करने के लिए कोई प्रचण्ड विस्फोट चाहिए न कि वुद्धिजीवियो और शहरी लोगो की वैठके वहसें पर्चेवाजी, नारेवाजी या पत्र पत्रिकाओ का नियत या अनियतकालिक प्रकाशन। आज रेडियो, टेलिविजन, पत्र, पत्रिकाओ के प्रसारण से लोकजीवन की ऊपरी सतह पर

कुछ हलचल है लेकिन वह लोकमानस मे प्रविष्ट अभी नही हुई है। अतः यदि कोई चाहे तो कह सकता है कि लोकगीतो मे आधुनिकता का प्रवेश न होना लोकमानस की जड़ता का सूचक है। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि आधुनिकता अपनी शक्तिहीनता के कारण ही लोकमानस को प्रभावित करने मे असमर्थ है क्योकि इसके एक नही अनेक उदाहरण है कि जब आधुनिकता ने लोकमानस को झकझोरा है तो उसकी अभिव्यक्ति लोकसाहित्य मे हुई है।

हिन्दी–विभाग
सनातनधर्म कालेज,
मुजफ्फरनगर





आंतरिक और स्वाभाविक प्रेरणा से बहनेवाला लोक–जीवन और उच्च अभिरुचि और उच्च आदर्श के बन्धनो को स्वीकार करके बहने वाला शिष्ट जीवन–दोनों मिलकर विराट् समाजिक जीवन बनता है। लोक-जीवन का वीर्य और शिष्ट जीवन की संस्कारिता दोनो जब ओतप्रोत होते है तब राष्ट्र का चरम उत्कर्ष होता है। अगर लोक-जीवन में असयम आ जाये और शिष्ट जीवन में कृत्रिमता और दभ आ जाये तो राष्ट्र क्षीण होता है। हम लोगो ने अपनी सामान्य जनता के स्वाभाविक विकास में बहुत कम दिलचस्पी रखी और जहाँ हो सके बाधायें डाली। इस राष्ट्रीय दोष या पाप का फल हम आज तक भुगत रहे है। अब हमे लोक-जीवन के प्रति श्रद्धा और आदर के साथ ध्यान देना चाहिए।

—काका कालेलकर

लोकसाहित्य : परम्परा बनाम आधुनिकता

अरुणा दुर्बलिश

लोक-साहित्य को समग्र भावन–चेतना की आशिक अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। यह प्रायः अलिखित रूप मे ही विद्यमान रहता है और इसके अन्दर एक सम्पूर्ण लोकपरम्परा तथा लोकसस्कृति जीवित रहती है। यदि लोकसाहित्य अतीत की प्रतिध्वनि है तो वर्तमान की आवाज भी उसमे सम्मिलित है।

लोक-साहित्य सनातन परम्पराओ की साकेतिक अभिव्यक्ति का साहित्य है जिसमें सामाजिक चेतना के सस्कार सुरक्षित रहते है। लोक-साहित्य के द्वारा ही लोकमानस परिभाषित्त होता है। उसका वाहरी कलेवर काल मे घटित घटनाओ के आधार पर परिवर्तित होता रहता है, किन्तु अन्तर निरन्तर अकालिक मूल्यो की ही अभिव्यक्ति करता है। लोक-साहित्य परम्परागत अर्थो के मर्म को सजीव रूप मे हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। भारत की मूल्य चेतना लोक-साहित्य से जुड़ी है और लोक-साहित्य की मूल चेतना परम्परा से।

आधुनिकता न तो अपने आप मे एक मूल्य है, न परिणति। अतीत या परम्परा से कटी हुई आधुनिकता का कोई महत्त्व नही। यह विकास की एक जटिल प्रक्रिया है जो अकस्मात् घटित नहीं होती धीरे–धीरे हमारी अस्मिता का अंग बनकर प्रकट होती है। जहाँ डॉ० रामदरश मिश्र आधुनिकता को केवल समयगत परिवर्तन न मानते हुए एक मूल्य भी मानते है और उसे परिवेशगत यथार्थ चेतना की अनुभूतिगत और बौद्धिक पकड़[1] से जोड़ते है, वही डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने आधुनिकता को एक प्रक्रिया के रूप में माना है मूल्य के रूप में नही। क्योकि मूल्य रूढ़ हो जाता है और प्रक्रिया गतिशील होती है।[2] महावीर दाधीच ने आधुनिकता को आज के मानव की अस्तित्व–सकट एवं मूल्य-संकट की अनुभूति माना है।[3]

लोक-साहित्य परम्परा का अग है, उस परम्परा का, जो दीर्घकाल से हमारे पूर्वजों के चिन्तन तथा व्यवहार से गुजरती हुई हम तक आई है। इस लम्बे मार्ग मे अनेक पड़ाव भी हुए, पर जो निरन्तर गतिशील रहती हुई आज आधुनिकता से जुड़ गई है। लोक-साहित्य परम्परागत मान्यता और विश्वास से जुड़ा है फिर भी उसका

---

1. हिन्दी कहानी एक अन्तरग परिचय, पृ० 60
2. हिन्दी कहानी एक नई दृष्टि, पृ० 25
3. आधुनिकता और भारतीय परम्परा, पृ० 117

नैरन्तर्य इस बात का सूचक है कि वह पगु और निर्जीव रहने की वजाय परिस्थितियों के अनुसार चलना और विकसित होना जानता हैं। लोक-मानस ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों को औत्सुक्य के साथ देखता है। उससे उत्पन्न चेतना को स्वीकृति देता है और अपने गीतो तथा कहानियो मे उसे पिरो लेता है। इसीलिए वह वर्तमान को अपनी सम्पूर्ण सामाजिक देनो के साथ आज भी जीवित हैं।

परम्परा के अन्दर एक पूरी सस्कृति समाहित रहती है। 'पुरानी सॉस्कृतिक परम्परा का एक पक्ष सार्वभौम आधुनिक सभ्यता की भूमिका मात्र है जिसमे वह अपना परिष्कृत एव विकसित रूप पाती है। परम्परा का दूसरा पक्ष जो आधुनिकता के अनुकूल नही है, काल के द्वारा निरस्त जकडन मात्र है। .... परम्परा का एक प्रगतिशील मानववादी पक्ष है जिसका समन्वय आधुनिक विज्ञान एव प्रविधि के साथ किया जा सकता है।'[1] परम्परा वर्तमान युग मे भी सर्जनशील होती है वह आदर्श और यथार्थ को जोडती है और मानव सस्कृति को सार्वभौम वनाती है। इस दृष्टि से लोकसाहित्य को परम्परा का अग मानते हुए इसकी व्यापकता को अस्वीकृत नही किया जा सकता। वह संस्कृति तथा सभ्यता का प्रसारक है, इतिहास की मधुरता का पोषक है, मानव की नीति कुशलता, सामाजिकता, अध्यात्म, ज्ञानगरिमा का रक्षक तथा अभिव्यञ्जक है।

आधुनिकता के मूल मे वैज्ञानिक दृष्टि है और परम्परा के मूल में सास्कृतिक दृष्टि दोनों का अन्तिम लक्ष्य ऐसी मानवीय चेतना की अभिवृद्धि है जो जीवन को सहजता, समग्रता और साकेतिकता देने मे समर्थ है। लोकसाहित्य लोक व्यवस्था एव जनसमुदाचार के परिवर्तनों की ऐतिहासिक व्याख्या है। वह पुरागी परम्परा की ऐसी व्याखया प्रस्तुत करता है जो उसे प्रचलित आधुनिक दृष्टि के निकट ले आती है। लोकमाहित्य की विवेचना का उद्देश्य आज के आलोचकों के सम्मुख यही है कि उसके माध्यम से अतीत के तथ्यों की वैज्ञानिक गवेषणा तो हो ही, साथ ही उसकी उपलब्धियो का आधुनिक मानदण्डो के आधार पर मूल्याकन भी हो सके।

लोक-साहित्य के अन्तर्गत मनुष्य का अपनी परिस्थिति को अनुकूल बनाने का चेतन या अचेतन प्रयास परिलक्षित होता है। लोकसाहित्य की परम्परा को आधुनिक सन्दर्भ देने या उसे आधुनिक जीवन-दृष्टि से परखने मे हमे निश्चित रूप से उसके साहित्यिक और सांस्कृतिक दाय को भी देखना होगा। लोक-गीत तथा लोक-कथाएँ लोक-साहित्य का अधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय अग है। इसके माध्यम से जन-जीवन के परिवर्तित रूप तथा उस पर पड़े विभिन्न प्रभावो को आसानी से परिलक्षित किया जा सकता है। 'यद्यपि लोक कथाएँ मौखिक रूप से पीढियो से पीढ़ियो तक गुजरने के कारण बहुत कुछ अपना परिवेश भी वदलती रहती हैं, परन्तु इनमे परम्परा का सूत्र कभी लुप्त नही होता। जन-जीवन की आस्थाएँ रूढ़ियाँ, संघर्ष-

1. डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे–भारतीय परम्परा के मूल स्वर, पृ० 3

परक प्रेमगाथाएँ अपने समस्त चमत्कारों और अलौकिक कार्य-व्यापारो के साथ–साथ विदग्ध सवेदनशीलता के ऐसे अन्त.सूत्र मे आवद्ध होती है कि वे एक क्षेत्र अथवा प्रदेश की होने पर भी मानव–मात्र की सम्पत्ति बन जाती है।[1]

लोक-साहित्य के किसी भी अन्य रूप के मुकावले लोकगीत समकालीन परिवर्तनों को अधिक ग्रहण करते हैं क्योकि लोक अपनी रसात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति इन्ही के माध्यम से करता है। महापुरुषो अथवा वीर पुरुपो की स्मृतियाँ शीघ्र ही लोकगीतो मे समाविष्ट हो जाती हैं। फैशन, शिक्षा, दहेज आदि आधुनिक विषयों का समावेश लोकगीतों मे सहज भाव से हो गया है।[2]

लोक-साहित्य 'श्रव्य' विधा है। उसका कोई लिखित रूप नही होता। फलतः उसकी प्रमुख विशेपता परिवेश के साथ उसका सामञ्जय अर्थात् परम्परा के साथ आधुनिकता का निर्वाह है। वह परिवेश के अनुकूल अपने को ढालता चलता है और जव हम आधुनिकता का अर्थ समकालीन परिवेश के प्रति जागरूकता से लेते हैं तो लोकसाहित्य अपने आप आधुनिकता से जुड़ जाता है और इस तरह परम्पराओ को समेटे रहने पर भी वह चिर नवीन ही वना रहता है।

लोकसाहित्य अपने काल की सामाजिक चेतना का यथार्थ प्रतिविम्ब है इसीलिए युगानुरूप वह अपने में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक प्रवृत्तियों का समावेश करता चलता है यही उसकी जागरूकता उसके अन्दर स्थित आधुनिकता के तत्त्व को स्पष्ट करती है। उदाहरणार्थ लोकसाहित्य के अन्तर्गत ग्रामो में खेली जाने वाली नौटंकियाँ या लोक-नाट्यों में तत्कालीन स्थितियों पर सटीक व्यंग्य मिलते हैं। यहाँ तक कि परिनिष्ठित साहित्य भी उन्हीं लोकसाहित्य की परम्पराओ को ग्रहण कर लेता है। खुसरो की मुकरियाँ यदि लोकसाहित्य के अन्तर्गत आ जाती हैं तो भारतेन्दु की मुकरियाँ भी लोकसाहित्य का लिखित रूप ही हैं, जिनमे व्यंग्य और तर्को का सहारा लेकर अंग्रेजी राज, फैशनपरस्ती, आदि नवीन विपयों का समावेश कर लिया गया है।

लोकसाहित्य मे यदि आधुनिकता को स्वीकारा भी गया है तो सवेदना के स्तर पर, चिन्तन के स्तर पर नही। यों भी लोक-साहित्य चिन्तन से दूर ही होता

---

1. डॉ० शिवमगल सिंह 'सुमन'—लोक कथा विज्ञान, पृ० 13
2. उदाहरणार्थ–

क घोड़ा पै होदा हाथी पै जीण :
जल्दी से भागगयल वारेन हेस्टींग ।।

ख आज नयें फैशन से वन्ना सजायेंगे
घोड़ी पे चढना फैशन नही है
बम्वई से मोटर मँगायेंगे ।

ग हो देवर तैयार पढ़न से हटा नही करते ।
गाँव गाँव में खुले मदरसे पढ़न से हटा नही करते ।।

है क्योंकि वह सहज सरल अभिव्यक्ति का ही दूसरा रूप है। परम्परा यदि रूढ हो जाये तो उसका निर्जीव होना स्वाभाविक है। इसलिए लोकसाहित्य बराबर परम्परा के रूप को विकसित करता रहता है और उसे जीवन्त बनाये रखता है। इसीलिए आधुनिकता की चकाचौंध मे भी वह जीवित है। वर्तमान जीवन की जटिलताओ, वैज्ञानिकता तथा मानव मन की बदलती रूपवृत्तियों के चित्रण के साथ वह आज भी जीवित है।

सक्षेप में यही कहा जा सकता है कि आधुनिकता जिस मोहमुक्त जागरूक दृष्टि और वृत्ति को जन्म देती है, परम्परा उसका सरक्षण करती है। दरअसल परम्परा कोई अचेतन वस्तु नही, वह देश काल–परिस्थितियो के अनुसार विकसित होती रहती है। 'जातीय संस्कार और परम्परा से आधुनिकता और आधुनिकीकरण का रिश्ता एक समानान्तर तलाश का रहा है।'[1] लोकसाहित्य अतीत और परम्परा का सचय है, आधुनिकता वर्तमान मे अतीत की जागरूकता को रेखांकित करती है, परम्परा मे आधुनिक सन्दर्भों को व्यवस्था देती है। इसीलिए लोकसाहित्य सदा सामाजिक परिस्थितियों और अनिवार्यताओ के अनुकूल ढलता जाता है। वह अपनी जमीन के जरूरी रिश्तों को कायम रखता है और लोकधर्मिता से उसे जोड़ता है।

—हिन्दी-विभाग
कनोहर लाल महिला महाविद्यालय
मेरठ

□

1 डॉ० धनजय वर्मा–आलोचना की रचनायात्रा, पृ. 154

लोक-साहित्य और शिष्ट-साहित्य

तारा कान्त मिश्र

लोकसाहित्य मानव समाज के उन लोगों का साहित्य है जो आधुनिक सभ्यता, संस्कृति एवं नागरिक सस्कारों से दूर अपनी आदिम प्रवृत्तियों से आवद्ध सहजावस्था मे जीवन व्यतीत करते है। इस साहित्य में उनकी समस्त भावधारा विरामहीन एवं अन्तहीन रूप में प्रवाहित होती रहती है। परम्परा इस साहित्य का आधार है और जन भाषा इसकी अभिव्यंजना का माध्यम। श्रुति और स्मृति के द्वारा यह जन-जीवन मे सचित और सुरक्षित रहता है। यह साहित्य जनता के नैसर्गिक उद्‌गारो की सहज, स्वाभाविक तथा मौखिक अभिव्यक्ति का साहित्य है, जिसमे उसकी सम्पूर्ण आशा–आकाक्षा, उल्लास–अवसाद, चिन्तन–मनन तथा धारणाओ को वाणी मिलती है। यह साहित्य पिंगलशास्त्र की दुरूहता, अलंकारों के अतिशय भार, प्राविधिक क्लिष्टता और अन्य कृत्रिम विधि–विधानो से प्रायः मुक्त रहने के कारण सहज सवेद्य तथा वोधगम्य होता है। लोक-मानस से सतत जीवन शक्ति प्राप्त करने के कारण इसमे रसमयता और हृदयस्पर्शिता का अद्‌भुत सामञ्जस्य मिलता है। यही हेतु है कि जनता इसे अतीव हर्ष और उत्साह के साथ ग्रहण करती है। लोक-साहित्य का स्वच्छन्द प्रवाह जनता–जनार्दन की जीवन–सरिता के सदृश अवाधगति से निरन्तर अग्रसर होता रहता है जिसके फलस्वरूप मानव-समुदाय का जीवन सदा–सर्वदा रसार्द्र और आस्वाद्य वना रहता है। "यथार्थतः यह साहित्य उतना ही स्वाभाविक होता है जितना जगल मे खिलने वाला फूल, उतना ही स्वच्छन्द, जितना आकाश मे विचरने वाला पक्षी तथा उतना ही सरल तथा पवित्र जितना गगा की निर्मल धारा।" [1] निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आदिकालीन प्रवृत्ति एवं परम्परा पर आधृत जन-वाणी मे मुखरित, आभिजात्य सस्कारो से दूर रहने वाले मानवो के उद्‌गारो की मौखिक अभिव्यक्ति का सरल–तरल साहित्य लोक-साहित्य है।

भारतीय वाङ्‌मय में लोक-जीवन की गरिमा को प्राचीन काल मे ही स्वीकृति प्रदान की जा चुकी थी। वैदिक–विधि–निषेधो के समानान्तर लोक व्यवहार

1. राहुल साकृत्यायनः हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (षोडश भाग), प्रस्तावना, पृ० सं०–15

की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रही। यद्यपि 'लोक' शब्द का प्रयोग जिन अर्थों में प्राचीन साहित्य में हुआ, लोकसाहित्य में समग्रत: उन्ही अर्थो मे नही किन्तु भौतिक सृष्टि, जन सामान्य, प्रजागण आदि के लिए प्रयुक्त होने के कारण 'लोक' आज के जन–जीवन एवं लोक–व्यवहार की ओर संकेत अवश्य कर देता है।

प्राचीन साहित्य के अध्ययन–अनुशीलन से ज्ञात होता है कि 'लोक' वेद से विभिन्न अथवा 'वेदेतर' के लिए प्रयुक्त होता था जिससे आर्येतर जातियाँ तथा पार्थिव जीवन-दोनों का निर्देश हो जाता है। व्युत्पतिगत अर्थानुसार 'लोक' का संबध देखने से है और 'वेद' का सम्बन्ध जानने से।[1] सभवत. आदिकाल मे लोक और वेद का प्रयोग क्रमश. द्रष्टा और ज्ञाता के लिए भी होता रहा हो। काल-प्रवाह में पड़कर दोनो के अन्तर्बाह्य रूपो मे परिवर्तन हो गया। 'वेद' तो विभिन्न विधि-निषेधो के बन्धन में पड़कर 'विशिष्ट' बना रहा और 'लोक' नियमो के बधन से परे रहकर स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण करते हुए 'सामान्य' बन गया यह शब्द अपने प्रयोग की परम्परा मे दिनानुदिन अर्थ विस्तार करता गया और जन-जीवन के निकट आता गया। 'लोक' अब किसी वर्ग विशेष या समुदाय का द्योतक नही अपितु अपार जन समूह का अभिन्न अंग और जन-सामान्य का आत्मीय बन गया है। मिथिलाचल मे तो 'लोक' शब्द परिजन–पुरजन से लेकर 'पत्नी' तक का पर्याय-वाची बन गया है।[2] किसी अतिथि को अपने यहाँ आते देखकर मिथिला वासी सर्व प्रथम उनसे यही प्रश्न पूछते हैं:—

'की लोक–वेद सब सकुशल छथि ?'

यहाँ लोक और वेद स्त्री तथा परिवार के सभी सदस्यो के बोधक बनकर सर्वथा नवीन अर्थवत्ता से सयुक्त दीख पड़ते हैं जो निश्चय ही अनुसधान का मनोरंजक विषय है।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे "लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गाँवो मे फैली हुई समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नही है।"[3]

वस्तुत. लोक पृथ्वी पर फैले उस विशाल जन-समूह का ज्ञापक है जो शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना से शून्य होने पर भी सभी विषयो का ज्ञाता है। ग्राम और नगर संस्कृत और असंस्कृत सभ्य और असभ्य तथा वैदिक और अवैदिक इन सभी संकीर्ण तथा सीमित परिधियो से ऊपर उठकर 'लोक' अपनी विराटता में अनन्य है। वह ब्रह्म के समान व्यापक है और किसी सीमा तक सम्पूर्ण संसार को अपनी लपेट मे लिए हुए है। आज के युग का यह नवीन उपास्यदेव 'लोक' मानव-

---

1. स० राहुल सांकृत्यायन हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (षोडश भाग),प्रस्तावना–,1
2. G. A. Grierson : Bihar Peasant life. Page 360
3. 'जनपद' त्रैमासिक पत्रिका वर्ष–1, अक–1 पृ० 65

कल्याण का नूतन वरदान लेकर इस धरा पर अवतरित हुआ है। यही कारण है कि विश्व के अन्य देशों के साथ–साथ भारत में इसके अभिनन्दन की भव्य तैयारी की जा रही है। 'लोक' की व्यापकता, भावाभिव्यंजकता तथा लोकप्रियता का ही सुपरिणाम है कि इसका व्यापक प्रयोग अब भारत के राजनीतिक क्षेत्र में होने लगा है। लोकतन्त्र, लोकसभा, लोकपाल आदि इस बात के साक्षी हैं।

लोकसाहित्य का 'साहित्य' शब्द भी अपने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसके अन्तर्गत मात्र भावात्मक चित्र एवं काव्यात्मक वर्णन ही समाविष्ट नहीं होते अपितु लोक जीवन की वाणीगत समस्त अभिव्यक्तियाँ समाहित होती हैं। कथ्य और शिल्प-दोनों ही दृष्टियों से लोकसाहित्य शिष्ट अथवा कलात्मक ललित-साहित्य से पृथक् होता है। यही कारण है कि लोकसाहित्य में हमें विविध भावों और रसों के संग–संग भोजन, आच्छादन, परिधान, परम्परा, रूढियों, आस्था, टोना–टोटका, जन्म, मरण, संस्कार अनुष्ठान, कृषिकर्म आदि का भी मोहक विवरण प्राप्त होता है। इस साहित्य में लोकजीवन अपनी समग्र विविधताओं एवं विचित्रताओं के साथ अन्तर्मुक्त होता है। यह आबाल–वृद्ध–वनिताओं के आह्लाद और मंगल का साहित्य है। इस विवेचन संदर्भ में यह तथ्य स्मरणीय एवं ध्यातव्य है कि शिष्ट साहित्य में चेतन मानस का प्राधान्य होता है किन्तु लोकसाहित्य में आदिम-मानस अथवा लोक-मानस का।

आज के वैज्ञानिकों अथवा मनोवैज्ञानिकों ने मानव–मस्तिष्क का विश्लेषण करते हुए उसके तीन स्तरों का उल्लेख किया है चेतन मानस (Conscious Mind) अवचेतन मानस (Sub- Conscious Mind) और अचेतन मानस (un con–scious Mind) परन्तु लोकसाहित्य शास्त्रियों ने एक नयी मानसिक स्थिति का उद्घाटन किया है और वह है आदिम मानस (Primitive Mind) अथवा लोक मानस (FolkMind) डॉ० सत्येन्द्र के मतानुसार यह वह मानसिक स्थिति होती है जो आदिमकालीन, प्राकृतिक तथा उत्तराधिकृत होती है। यह मानस प्रत्येक मानव में जन्मजात होता है। आदिकाल में आदिमानवों ने जब विराट विश्व को देखा तो उन्हें एक दिव्य अनुभूति हुई। प्रकृति के व्यापक रूप को लख कर उनका रोम–रोम अभिभूत हो गया। उस व्यापक तथा विचित्र प्रभाव के कारण जो उनकी मानसिक स्थिति हुई वही आदिम मानस है। चेतन मानस के सदेश कार्य-कारण के संबंधों से यह आदिम मानस नियन्त्रित नहीं होता। अतएव यह तर्कहीन, आस्थाशील एवं ग्रहणशील होता है। यही हेतु है कि लोकसाहित्य में अनेक अंधविश्वासों तथा जादू-टोना संबंधी बातों का वर्णन मिलता है।

आचार्य विश्वनाथ के 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' अथवा आचार्य जगन्नाथ के 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द. काव्यम्' के सिद्धान्तानुसार लोकसाहित्य भी शिष्ट साहित्य के समान साहित्यिकता अथवा रसमयता या रमणीयता की कसौटी पर खरा उतर जाता है परन्तु सुनियोजित रचना नहीं होने के कारण वह शिष्ट साहित्य के

सदृश शास्त्रीयता नही प्राप्त कर पाता। दूसरी बात यह है कि लोकसाहित्यकार प्रायः शब्द–शिल्पी नहीं होता। एतदर्थ जो पद-लालित्य या शब्द विन्यास हमें शिष्ट साहित्य मे उपलब्ध होता है वह लोकसाहित्य मे दुर्लभ है, फिर भी लोकभाषा की अपनी विलक्षणता होती है। बाहर से तो वह अनगढ़ तथा शुष्क दीख पड़ती है परन्तु अन्तसलिला सरस्वती की भाँति उसके भीतर में रस की अक्षय धारा प्रवाहित रहती है जिसके कारण लोकसाहित्य के पाठकों को सतत रसानुभूति होती रहती है।

लोक भाषा की अपनी विशिष्टता होती है जिसके कारण आदिकाल से ही कवियों ने इसका अ श्रय ग्रहण किया है।

आज के कवि और कथाकार भी अनके आचलिक तथा स्थानीय भापाओ के प्रयोग के द्वारा अपनी रचना को अधिकाधिक सुवोध और सरस वनाने का प्रयास करते है।

इस प्रकार भाव और भाषा दोनो ही दृष्टियो से अगर लोकसाहित्य और शिष्ट-साहित्य पर विचार किया जाय तो दोनो की भिन्नता सहज ही परिलक्षित होने लगती है।

लोकसाहित्य समस्त जनता का साहित्य होता है किन्तु शिष्ट साहित्य शिक्षित एवं सस्कृत व्यक्तियो का साहित्य। लोकसाहित्य में लोकमानस की प्रधानता रहती है, शिष्ट-साहित्य मे चेतन मानस की, लोकसाहित्य के प्रणेता अज्ञात होते है शिष्ट-साहित्य के रचयिता ज्ञात। लोकसाहित्य मौखिक तथा परम्परागत होता है, परन्तु शिष्टसाहित्य लिपिवद्ध, लोकसाहित्य मे प्रतिपाद्य विषयो की अभिव्यंजना सरस तथा अनौपचारिक ढग से होती है लेकिन शिष्ट-साहित्य मे पाडित्यपूर्ण तथा औपचारिक ढंग से, लोकसाहित्य की भाषा प्रायः अनगढ़ एवं अपरिमार्जित होती है परन्तु शिष्ट-साहित्य की भाषा प्रायः ललित, प्रांजल और परिष्कृत।

स्पष्टतः कहा जा सकता है कि लोक-साहित्य शिष्ट-साहित्य से अधिक व्यापक, स्वाभाविक तथा लोकप्रिय होता है। यही हेतु है कि प्राचीन काल से ही यह सजीव, सरस एव प्रवाहपूर्ण लोकसाहित्य यान्त्रिक शिष्ट-साहित्य के लिए पृष्ठभूमि तैयार करता रहा है सच्चाई तो यह है कि लोकसाहित्य जनता द्वारा जनता के लिए जनता की वाणी मे निर्मित होता है। अतएव आज के लोकतान्त्रिक युग मे लोक-जीवन की तरह इसकी भी उपेक्षा नही की जा सकती। आज तो संसार के बड़े-बडे लब्धप्रतिष्ठ एव मूर्धन्य साहित्यकार और मनीषी लोकसाहित्य के सकलन, प्रकाशन एव अध्ययन अनुशीलन मे सलग्न दीख पडते हैं। जिस प्रकार आज का कृत्रिम-अभाव ग्रस्त नागरिक जीवन गाँव के नैसर्गिक-आह्लादपूर्ण जीवन की ओर ललचाई दृष्टि से देखता है, ठीक उसी तरह आज का शिष्ट साहित्य भी लोकसाहित्य से ससकोच जीवन–दायिनी शक्ति की याचना कर रहा है।

लोक-गीतो मे चित्रित नायिकाओ के वैशिष्ट्य पर विचार करते हुए डॉ०

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'लोक गीत की एक-एक वहू के चित्रण पर रीति-काल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खडिताएँ और धीराएँ निछावर की जा सकती हैं क्योंकि ये निरलकार होने पर भी प्राणमयी है और वे अलंकारो से लदी हुई होकर भी निष्प्राण है। ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र विशेष की मुखापेक्षी नहीं हैं और अपने आप में परिपूर्ण हैं।'[1] डॉ० द्विवेदी की यह उक्ति लोकगीतो की नायिकाओ के सदृश समस्त लोकसाहित्य की नायिकाओ और स्वय लोकसाहित्य के लिए भी अक्षरश. सत्य प्रतीत होती है।

—हिन्दी-विभाग
बी० एस० कालेज, दानापुर
पटना (विहार)



वास्तव में लोक-साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढी हो, पर आज जिसे सामान्य लोक-समूह अपना ही मानता है और जिसमे लोक की युग-युगीन वाणी-साधना समाहित रहती है, जिसमे लोक-मानस प्रतिबिम्बित रहता है। इसी कारण जिसके किसी भी शब्द मे रचनाचैतन्य नही मिलता, जिसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक स्वर, प्रत्येक लय और प्रत्येक लहजा सहज ही लोक का अपना है और उसके लिए अत्यन्त सहज और स्वाभाविक है।

—सत्येन्द्र

1 डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 130

लोक-साहित्य एवं शिष्ट-साहित्य

कुन्दनलाल उप्रेती

वास्तव मे लोक-ज्ञानाढ्य, बौद्धिक चेतना, सुसंस्कृत तथा परिष्कृत रुचि वाले मनुष्यों के समुदाय से इतर आभिजात्य संस्कार, पांडित्य एवं शिक्षा से हीन अथवा अल्पशिक्षित मनुष्यों का एक ऐसा समुदाय है जो मानव की आदिम प्रवृत्तियो तथा परम्पराओ की धारा में बहता हुआ अकृत्रिम जीने मे विश्वास रखता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति जिन तत्त्वो के माध्यम से होती है, वे लोकतत्त्व कहलाते हैं और ऐसे समुदाय की सहज अभिव्यक्ति (जिनमें ये लोकतत्त्व विद्यमान हो) जिस शब्द-विधान (वाणी-विधान) द्वारा होती है, वह लोकसाहित्य कहलाता है।

अतः स्पष्ट है कि लोकसाहित्य लोक की सहजानुभूति की सरल वाणीगत अभिव्यक्ति है। लोकसाहित्य की सर्जना में वैयक्तिक अनुभूतियाँ ही उभर कर नहीं आतीं वरन् उसमे लोकानुभूति की प्रधानता भी रहती है और अनुभूति का यही रूप साकार होकर लोकमानस की अनुभूति बन जाता है। डॉ० सत्येन्द्र ने लोकमानस को लोक-विश्वासों का अधिष्ठाता और लोकतत्त्व की परम्परा से प्राप्त विश्वजनीन मान्यताओ का प्रतिरूप सिद्ध किया है। यह सच है कि लोकसाहित्य लोकमानस की अभिव्यक्ति है, लेकिन शिष्टसाहित्य से इसके अलगाव बिन्दुओ पर विचार करते समय हमें कुछ अन्य पहलुओं पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है।

शिष्ट और लोकसाहित्य को अलग करने के लिए अब तक जो रेखाएँ परम्परागत मौखिक, लिखित, अज्ञात रचयिता, रचना-काल आदि खींची जाती रहीं हैं, वे इन दोनो का अन्तर स्पष्ट करने मे सहायक तो होती है पर पर्याप्त नही है। प्रायः कहा जाता है कि नागर व शिष्टसाहित्य श्रुति या परम्परा पर आधारित नहीं होता जबकि लोकसाहित्य श्रुति या परम्परा पर आधारित होता है अर्थात् शिष्टसाहित्य लिपिबद्ध होता है और लोकसाहित्य मौखिक। यह भी कहा जाता है कि लिपिबद्ध कर देने के बाद लोकसाहित्य की अनुप्राणिका शक्ति नष्ट हो जाती है। इस मत का समर्थन करने वालो का तर्क यह है कि लोकगीत, लोककथाएँ लोकगाथाएं आदि को लिपिबद्ध कर देने से उनमे सौंदर्य और चमत्कार भले ही आ जाए लेकिन वह स्वाभाविक सौंदर्य और उन्मुक्त प्रवृत्ति नही रह जाती जिसमे वे जन्मे, पनपे और विकसित हुए।

लोकसाहित्य परम्परा पर आधारित होता है, इसका यह अर्थ कतई नही कि यह अवशेपों का अध्ययन है या इसका विकास आधुनिक युग मे नही हो सकता,वल्कि होता यह है कि अपने प्रत्येक प्रस्तुतीकरण मे यह अपने वोलने वालो द्वारा होता रहा है। इस परिवर्तन अथवा सृजन का मूल कारण यह है कि वाचक अपने श्रोताओ के रूप मे निरन्तर युग और सामाजिकता का दवाव महसूस करता रहा है। इसका एक लाभ यह होता है कि कभी-कभी नई सामग्री भी प्राप्त हो जाती है, इसलिए ऐसे लोक-साहित्य को विकासशील लोकसाहित्य कहना अधिक उपयुक्त है।

केवल लिखित या मौखिक के आधार पर शिष्टसाहित्य और लोकसाहित्य मे अन्तर करने का प्रयत्न भ्रामक, उलझावपूर्ण और निरर्थक सिद्ध हो सकता है। यदि अलिखित साहित्य ही लोकसाहित्य है तो रामायण, महाभारत, सन्तकाव्य आदि अलिखित साहित्य को क्या हम लोकसाहित्य कह सकेंगे ? इसी प्रकार आज आल्हा, हीर-राँझा, ढोला-मारू, नथाराम के स्वाँग, पतोला की होलियाँ लिखित होने पर क्या लोकसाहित्य की परिधि से हटकर शिष्टसाहित्य कहला सकेंगी ? साहित्य का अलिखित होना किसी हद तक उस युग की विवशता थी, पर इसे लोकसाहित्य की मुख्य प्रवृत्ति मान लेना युक्ति सगत नहीं। अत. शिष्टसाहित्य और लोकसाहित्य का अन्तर करते समय यह देखना अनिवार्य है कि उसमे लोकमानस की अभिव्यक्ति हुई है या नही।

इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि लोक-साहित्य का रचयिता अज्ञात होता है और शिष्टसाहित्य का ज्ञात। यह तर्क उस समय वेदम हो जाता है जव हम आज भी शिष्टसाहित्य के वहुत से रचयिताओ के नाम वता देने मे असमर्थ है जवकि अनेक लोकगीतो और लोकोक्तियो के साथ उनके रचनाकारो के नाम अव तक चले आ रहे हैं जैसे भड्डरि, घाघ, पतोला, ईसुरी, नथाराम आदि। रचनाकारों का अज्ञात होना तो महज एक इत्तफाक है। उस काल के रचनाकारो मे अपने नाम के प्रचार-प्रसार और प्रदर्शन की आज की सी जागरूक ललक नही थी। उनका साहित्य-सृजन वैयक्तिक स्तर पर तो सिर्फ अन्तर की विवशता थी अन्यथा सव कुछ समाज को समर्पित भाव से रचा और सुनाया जाता था। साहित्य का लिखित या अलिखित होना कोई महत्त्वपूर्ण वात नही है। वात सीधी सिर्फ इतनी है कि जिस साहित्य मे लोकमानस की अभिव्यक्ति हुई है वह निश्चित ही लोकसाहित्य होगा, चाहे वह लिखित हो या अलिखित, चाहे उसका रचनाकाल ज्ञात हो या अज्ञात। इसी प्रकार यह तर्क भी लचर है कि लोकसाहित्य का रचना-काल भी अज्ञात होता है! वहुत से शिष्ट कहलाने वाले साहित्य का रचनाकाल आज तक विद्वानो का सिरदर्द वना हुआ है। अतः इस तर्क के आधार पर अन्तर करने का तो प्रश्न ही नही उठता।

लोकमानस लोकसाहित्य का निर्धारक तत्त्व है। मनोविश्लेपणवादियों ने मानस के दो वड़े भेद किए.—1 चेतन तथा 2 अवचेतन। तीसरा भेद अर्द्धचेतन भी स्वीकार किया गया जो वास्तव मे चेतन की आवश्यक परिधि या सीमा है। फ्रायड ने

अवचेतन मानस के निर्माण के कारणस्वरूप कुण्ठा को स्वीकार किया परन्तु 'प्राणि-शास्त्र' के उत्तराधिकरण को अमान्य नही कर सका। इस सिद्धात के आधार पर हमारे जन्म के साथ ही हमे हमारे पूर्वजों का दाय प्राप्त है। हमारी प्रवृत्तियाँ इसी दाय का परिणाम है जो हमारे निर्माण के मूलस्वरूप का आधार भी है। चेतन मानस मे इनका कोई स्थान नही। अत. दाय से प्राप्त मानस का स्थान अवचेतन मानस में ही हो सकता है। इस प्रकार अवचेतन मानस के दो भेद हुए :—1. उपार्जित अव-चेतन तथा 2 उत्तराधिकारेय मानस या सहज मानस। उपार्जित अवचेतन कुण्ठाओ तथा दमित वासनाओ का बना हुआ है और चेतना-सम्पर्कित अवचेतन मानस की ऊपरी पर्त है। इसे दमित और कुण्ठित भावना का कोश भी कहा जाता है। यह चेतना के अत्याचार से विक्षुब्ध होकर पर्दे के पीछे छिपा रहता है और यह घायल सर्प की तरह वदला लेने के लिए अनुकूल समय की ताक मे रहता है।

उत्तराधिकारेय मानस या सहज मानस ही हमारा लोकमानस है। "आज के मानव को आदिम मानवीय वातो से क्यो रुचि है? क्यो आज का महान वैज्ञानिक और घोर बुद्धिवादी भी असम्भव तथा अद्‌भुत लोककहानियो में आकर्षण अनुभव करता है? क्यो आज भी हम किसी न किसी रूप में किसी न किसी प्रकार के ऐसे विश्वासों को प्रचलित पाते है जिनकी वैज्ञानिक व्याख्या नही हो सकती, जो बौद्धिकता के लिए सहज ही अमान्य है? आज वीसवी सदी के उत्कृष्टतम मनुष्य मे भी हम जव वह रंगत देख पाते हैं जो स्पष्ट ही आदिम मानव की वृत्ति का अवशेष ही कहा जा सकता है, तो लोकमानस की उपस्थिति स्वीकार ही करनी पडती है।"[1] वास्तव में वात यह है कि मानव ने जन्म लेते ही अपनी आदिम अवस्था मे जो मानसिक उप-लब्धियाँ प्राप्त की, वे उसकी सहज मानवीय प्रकृति बन गयी। वे ही निरन्तर मानस की परम्परा मे, मानव को मानव वनाने के लिए सूत्र रूप मे उत्तराधिकरण के रूप मे, कही अवचेतन के अन्तर्गत मूल मानसिक प्रकृति के रूप मे, सभ्यातिसभ्य मानव मे भी विद्यमान रहती हैं। बस, अन्तर इतना है कि सभ्यातिसभ्य मानव में यह पर्दे के पीछे रहती है और ज्ञानाह से इतर मानव मे प्रकट।

प्रसिद्ध मनोविश्लेपणशास्त्री जु ग ने अवचेतन मानस मूल (Unconscious psyche) को दो कोटियों मे विभक्त किया है प्रथमत ऊहाएँ (स्वप्नो को मिलाकर) जो निजत्व के गुणों से युक्त होने के कारण, निर्विवादेन विगत निजी अनुभवो से विस्मृत था, दमित वातो से सम्वन्धित होती है और इनको व्यक्तिगत विस्मृति (Amnasis) से पूरी तरह से समझाया जा सकता है। दूसरे वे ऊहाएँ (स्वप्नो को मिलाकर) जो निर्वैयक्तिक प्रकृति की होती है, जिन्हे व्यक्ति के अपने विगतकालीन अनुभवो के रूप मे नही परिणत किया जा सकता, और ऐसे ही जिन्हे व्यक्तिशः उपा-र्जित किसी वस्तु के रूप में नहीं समझाया जा सकता। ये ऊहा-चित्र निर्विवादेन धर्मगाथिक मानको (type) से अपना निकटतम साम्य रखते है। अत. हमे यह मानना

1. लोकसाहित्य विज्ञान —डा० सत्येन्द्र पृ० 321

पड़ेगा कि ये सामान्य मानव मूल मानसिकता के किसी सगृहीत (और निजी नही) निर्माण तत्त्वो के समवायी हैं, और मानव शरीर के निर्णायक तत्त्वों की भाँति उत्तराधिकरणगत(Inherited)। इसी को जुंग महोदय ने 'सगृहीत अवचेतन'(Collective Unconscious) का नाम दिया है।"[1] इस प्रकार जुंग का यह सगृहीत मानस हमारे लोकमानस का ही प्रतिरूप है।

अतः शिष्टसाहित्य एव लोकसाहित्य के अलगाव की जड़ को यही पकड़ना चाहिए। शिष्टसाहित्य उपार्जित अवचेतन मानस की अभिव्यक्ति है और लोकसाहित्य सहज अवचेतन मानस या उत्तराधिकारेय अवचेतन मानस या लोकमानस की। इसी लोकमानस की अभिव्यक्ति जहाँ जिस परिणाम मे मिलती है, वहाँ उसी मात्रा मे लोकतत्त्व विद्यमान रहता है। कभी-कभी तथा किसी न किसी लेखक के शिष्टसाहित्य मे भी थोडा या वहुत यह लोकतत्त्व हमे देखने को मिल जाता है। सूर, तुलसी, कबीर आदि कवियो मे ये लोकतत्व प्राप्त होते हैं। इसी आधार पर हम उन्हे लोकसाहित्य के अन्तर्गत नही रख सकते। अतः लोकतत्त्व की प्रधानता एवं परिणाम के आधार पर ही उसका निणय करना चाहिए। जिस साहित्य मे लोकतत्त्व प्रधान रूप से या अधिक मात्रा मे मिलते हैं वह तो है लोकसाहित्य और जहाँ कम या विल्कुल नही मिलते वह है शिप्टसाहित्य। दूसरे शब्दो मे हम यह भी कह सकते हैं कि लोकसाहित्य लोकमानस की रचना है और शिष्टसाहित्य मुनि मानस की।

शिष्टसाहित्य की भाँति लोकसाहित्य की भी अपनी कुछ मर्यादाएँ होती हैं। वह शिष्टसाहित्य की भाँति शास्त्रानुशासित (रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, अलंकार के शास्त्रीय विधान) नही होता। क्योकि लोकसाहित्य का रचयिता सहज स्रष्टा होता है। वह किसी शास्त्र की अपेक्षा नही रखता। लोक की मर्यादाएँ ही लोकसाहित्य की मर्यादाएँ होती है। लोकसाहित्य न तो विद्वानो या नगर के कलाविलासियों को प्रसन्न करने के लिए ही लिखा जाता है और न साहित्यकार के व्यक्तित्व को उभारने या यशोपार्जन के लिए होता है। शिष्टसाहित्य का उद्देश्य आचार्य मम्मट की दृष्टि मे—

"काव्य यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ......" है परन्तु लोकसाहित्य का उद्देश्य इनमे से एक भी नही होता। यही कारण है कि लोकसाहित्य अस्वाभाविक प्रभावों से कोसो दूर है। इसमे तो लोकमानस की स्वाभाविक अभिव्यक्ति ही प्रधान रहती है। वास्तव मे यह लोकमानस दो अवस्थाओं से हमेशा जुड़ा रहता है.—१. लोक जीवन की चली आती हुई अपनी लम्बी परम्परा की मनोभावना से, जिसमे उत्तराधिकृत मनोविज्ञान की सामग्री सुरक्षित है। जैसे आदिम मानव के विश्वासों और अनुभूतियाँ क्या थीं? उन पर क्या प्रभाव कैसे-कैसे पड़े और विश्वासो और अनुभूतियो मे क्या अन्तर आया ? इन विश्वासों और अनुभूतियो का आज क्या रूप है ? उनका क्या महत्त्व है ? आज कौन-सा तत्त्व लोकमानस की प्रेरणा देता है? २. लोक जीवन मे व्याप्त सामाजिक सामूहिक भावना।

1. लोकसाहित्य विज्ञान—डा० सत्येन्द्र—पृ० ४८।

पहली अवस्था युगीन स्थिति को स्पष्ट करती है तो दूसरी लोकमानस की आज की स्थिति को।

इन्ही मनोस्थितियो से लोकसाहित्य (कला की भी) की मर्यादा मजबूत होती है। यही कारण है कि लोकसाहित्य की कसौटी को आज के मनीषी निश्चित नही कर पाते।

लोक-व्यवहार मे बुद्धि की अपेक्षा हृदय-तत्त्व की प्रधानता रहती है, यही कारण है कि लोकसाहित्य मे हृदय के स्पन्दनों का वाहुल्य है और इसीसे लोकसाहित्य का रूप खड़ा होता है। परन्तु अभिव्यक्ति भावात्मक शव्दों के द्वारा न होकर सकेत या प्रतीको के माध्यम से होती है। परन्तु इनमे सरलता और सुरुचि दोनो का ही सगम होता है।

लोकसाहित्य का एक और प्रमुख तत्त्व है—जीवन की आवश्यकता की अनुकूलता। इसकी वजह से अच्छे-बुरे, श्लील-अश्लील आदि का कोई मूल्य नही होता है। इस अभिव्यक्ति मे शास्त्र का वन्धन भी नही होता। इस तत्त्व के कारण तथा लोकमानस की युगीन स्थिति के अद्यतन रूप के कारण लोकसाहित्य शिष्टसाहित्य से अलग हो जाता है।

लोकसाहित्य की अभिव्यक्ति सहज और सरल होती है जैसी कि जीवन की अभिव्यक्ति होती है। उसमे लाभ-हानि, यश-अपयश, उपयोगिता-अनुपयोगिता आदि का प्रश्न ही नही उठता। क्योकि लोकसाहित्य को जीवन के यथार्थ स्पन्दनों से ही प्रेरणा मिलती है। इसकी शैली मे भी यही सहजता दिखाई देती है। शव्दो के खिलवाड़ के स्थान पर वर्णन मे विशदता एव गरिमा होती है।

लोकसाहित्य पर प्राय· यह आक्षेप लगाया जाता है कि वह गँवारू साहित्य है। अर्थात् लोककवि की सुरुचि पर शक किया जाता है। परन्तु यह नितान्त असत्य है बल्कि लोकसाहित्य मे भावानुरूप सुरुचि के आदर्शों की प्रतिष्ठा जितनी अधिक प्राप्त होती है उतनी नागर साहित्य मे नही। उदाहरण के लिए ब्रज का 'मोरा' नामक गीत या लघु 'ढोला' गीत। इनमे सुरुचि और कला का भव्य और स्वाभाविक रूप उभर कर आया है। लोकसाहित्य में सुरुचि—सौदर्य की अनुभूति—का कल्पना द्वारा रूप कम ही मिलता है। "जीवन की मूर्त्त अभिव्यक्तियो के विधान मे जो सहज सौंदर्य और पुष्ट सुषमा है, वह लोकसाहित्य में प्रवलता से अभिव्यक्त हुई है। यह प्रवलता जीवनावेग की द्योतक है और छन्द, गति, गीति, शव्द-साधन और वस्तु-वर्णन सव में व्याप्त मिलती है। इन आवेगो को इतना प्रवल करके भी नग्न नही होने दिया गया। आवेगो को भव्य वना दिया गया है। यह भव्यता ही लोक-अभिव्यक्ति की कला का मूर्धन्य है.......... यह भव्यता प्रतीको का आश्रय अवश्य लेती है। लोकसाहित्य में यौन-भावों को प्रकट करते समय प्रतीको का प्रयोग विशेप रूप से हुआ है।.........
... प्रतीक-प्रयोग इस प्रकार भव्यता का एक महत्त्वपूर्ण साधन है।"[1]

---

1. ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन–डा. सत्येन्द्र–पृष्ठ 555–556।

लोकसाहित्य और शिष्टसाहित्य या लोकमानस और मुनिमानस का यह संघर्ष बहुत पुराना है। मुनिमानस ने सदैव लोकमानस की रचना को हेय साबित करने का प्रयास किया है, पर वह अपने ज्ञान एवं अहंकार के बल पर। मुनिमानस ने अपनी रचना में सदैव इस बात का दावा किया है कि उसमें जीवन-संदेश है, सत्य, शिव, सुन्दर है, लोक श्रेय है, अलौकिक अनुभूति है और अभिव्यंजना भी अलौकिक है। इसे अलौकिक बनाने के लिए शास्त्र रच डाले। परन्तु लोकमानस ने इसकी कभी परवाह नहीं की। उसकी रचना ऐसी अभिनव रही है, इतनी सहज और सरल रही है, जहाँ यह लगा है कि मुनिमानस द्वारा निर्मित अकलंक 'ताजमहल' लोकमानस की कुटिया में ढह गया।

लोकमानस निर्विकार व निर्द्वन्द्व है। उसमें न ज्ञान का अहम् है न आतंक की प्रतीति। उसके पास न शास्त्र हैं न आदर्श। वह जो कुछ है, प्रत्यक्ष है। न बनावट न ओढ़ी सजावट। वह तो जंगल में खिले पुष्प की भाँति सहज है, गमले के फूल की तरह सजा-धजा नहीं। उसके पास जो कला है वह अपनी है, प्रकृति की है—यथार्थ और निर्मल, गंगाजल की तरह पवित्र।

—हिन्दी-विभाग
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय
अलीगढ़



लोक-साहित्य तथा जनपदीय साहित्य

नरेश कुमार

जनपदीय साहित्य के अध्ययन की प्रारम्भिक अवस्था में विद्वान् जनपदीय-साहित्य और लोक-साहित्य मे कोई अन्तर नही करते । डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल जनपदीय-साहित्य और लोक-साहित्य को पर्यायवाची मानते है ।[1] जनपदीय-साहित्य से डॉ० अग्रवाल का अभिप्राय जनपद मे फैले 'मौखिक' साहित्य से ही रहा है । श्री वैजनाथ सिंह विनोद के अनुसार भी जनपदीय-साहित्य लोक-साहित्य का अभिधात्मक अर्थ ही प्रगट करता है ।[2] श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी लोक–साहित्य के कार्य को 'जनपदीय-साहित्य' के नाम से स्मरण किया हैं ।[3]

जनपदीय-साहित्य और लोक-साहित्य मे अन्तर करने के सन्दर्भ मे निष्कर्षात्मक विवेचन की दृष्टि से जनपदीय साहित्य से सम्बन्धित 'जनपद, जानपद, लोक' आदि आधारभूत शब्दों का आकलन आवश्यक प्रतीत होता है । 'जनपद' और उससे व्युत्पन्न 'जानपद' शब्द के सम्बन्ध मे डॉ० अग्रवाल तथा अन्य विद्वानो के विचार ध्यातव्य है । सर्वप्रथम डॉ० अग्रवाल के विचारो पर दृष्टि डालनी आवश्यक होगी । उन्होंने ग्रामों के समुदाय को 'जनपद' कहा है ।[4] उनके अनुसार 'वह भौमिक इकाई जिसमें बोली और जन-सस्कृति की दृष्टि मे जनता मे पारस्परिक साम्य अधिक हैं, जनपद कही गयी है'[5]

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी 'लोक' शब्द का पर्यायवाची 'जानपद' या 'ग्राम्य' को नही मानते हैं । उनकी दृष्टि मे 'लोक' शब्द का अर्थ "नगरो और गाँवो मे फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है ।"[6]

---

1. द्रष्टव्य डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख–'जनपदीय-साहित्य का सरक्षण' व्रज भारती, स० 2010 वि०, अक 1, वर्ष 11, पृ०44
2. वैजनाथ सिंह विनोद–"जनपदीय साहित्य जनता का साहित्य है–उस जनता का जो शास्त्रीय परम्पराओ से सम्बद्ध नही है ।" द्रष्टव्य जनपद, अप्रैल, 1953, पृ० 82 ।
3. द्रष्टव्यः मधुकर, अप्रैल–अगस्त, 1944, पृ० 91 ।
4. डॉ० अग्रवाल, पृथिवीपुत्र, पृ० 40 तथा पृ० 70 ।
5. वही, पृ० 70
6. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, लेख–लोक–साहित्य का अध्ययन, जनपद, अक्तूबर, 1952, पृ० 65 ।

आदि जाति के उन सभी मनुष्यो का समूह जिनके मेल से समाज बनता है, लोक कहलाता है।[1]

हिन्दी साहित्य कोश मे 'जनपदो' के सम्बन्ध मे लिखा गया है —'साहचर्य के कारण संगठित समुदाय बनने के उपरान्त 'लोक' का स्थान 'जनपदो' ने ले लिया, जिनमे राजनीतिक चेतना देखने में आयी।[2]

जहाँ तक डॉ० अग्रवाल का सम्बन्ध है, उन्होंने लोक-साहित्य को जनपदीय-साहित्य की सज्ञा भारतीय संस्कृति तथा इतिहास की विचारधारा के आधार पर दी है।[3] उनके कथनो से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह लोक-साहित्य, जो किसी जनपद से सम्बद्ध होता है, जनपदीय-साहित्य कहलाता है।

वस्तुत: 'लोक' और 'जनपद' मे अन्तर करने के कारण लोक-साहित्य और जनपदीय-साहित्य की प्रेरणाओ तथा उनके स्तर मे अन्तर किया जाना स्वाभाविक है। जनपदो में राजनीतिक चेतना एवं बौद्धिक सजगता के कारण जनपदों के साहित्य मे बुद्धि—तत्त्व की प्रधानता तथा चमत्कार मिलता है, जबकि अशिक्षित लोक की अभिव्यक्ति दैनिक जीवन से प्रेरित होने के कारण सहज और स्वाभाविक होती है, जिसे हृदय की सीधी प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। लोक-साहित्य शुद्ध भावानुप्राणित तथा धरती की सौंधी सुगन्ध के समान है और जनपदीय साहित्य जनता के जागरूक प्रहरी की सोद्देश्य रचना है।

दूसरी बात यह है कि लोक-साहित्य व्यापक है और जनपदीय साहित्य को किसी विशेष जनपद तक ही सीमित किया जा सकता है और उसमें स्थानीय विशेषताओ का समाहार होता है। यद्यपि जनपदीय साहित्य और लोक-साहित्य का मूल एक ही है तथापि जनपदीय साहित्य लोक-साहित्य की व्यापकता का बोध नही कराता है। किसी जनपद के विभिन्न भागो की वोली में जो भाव व्यक्त किये जाते है, वह उस क्षेत्र का लोक-साहित्य बन जाता है, परन्तु यह बात अनिवार्य नही है कि किसी जनपद में एक ही प्रकार का लोक-साहित्य हो। 'लोक' शब्द 'मानव समाज' का वाचक है और 'जनपद' स्थानवाचक है। 'जनपदीय-साहित्य' कहने से इस शब्द का सम्बन्ध प्राचीन महाजनपदों की नामावली से हो गया है और वही श्रेणीकरण एक बोली विशेष के बोलने वालो के क्षेत्र के साथ सम्बन्धित हो गया है, विशिष्ट ग्रामो के समुदाय या जनपदों की सस्कृति का अध्ययन ही जनपदीय-साहित्य के अध्ययन का क्षेत्र माना जा सकता है।

जे 235, पटेलनगर।
गाजियाबाद (उ० प्र०)



1. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, जिल्द 9, पृ० 444।
2. हि० सा० को०, भाग 1, पृ. 692।
3. द्रष्टव्य. "आर्यजनो की राष्ट्रीय भूमियाँ जनपद कहलाने लगीं, अर्थात् जनपद का अर्थ उस भूमि—भाग से होता था, जहाँ कोई आर्यजन बसा हो।" —डॉ धीरेन्द्र वर्मा, हि. सा. को., भाग 1, पृ. 301–302।

जन-साहित्य और लोकसाहित्य

विक्रम सिंह

जीवन और जगत की भावमयी कल्पनात्मक अभिव्यक्ति साहित्य है, जो परिनिष्ठित-साहित्य, जनसाहित्य और लोकसाहित्य--इन तीन रूपो मे सृजनात्मक रूप धारण करता है। परिनिष्ठित एवं लोकसाहित्य पर आलोचकों, मनीषियों ने पर्याप्त लिखा और कहा है। अतः उनकी विशिष्ट पहचान और विभाजन रेखा स्पष्ट हो चुकी है। जनकाव्य पर अभी तक इतना कम कार्य हुआ है कि उसके सबध मे विभिन्न अपर्याप्त अथवा भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित है। इसकी परिभाषाओ मे अव्याप्ति दोष है, तो जनसाहित्य और लोकसाहित्य की विभाजक रेखा इतनी धुँधली है कि अधिकांश विद्वान् दोनों को एक मान लेते है, जो कि सत्य नही है। अत पहले इन भ्रान्त धारणाओ को देख लिया जाये।

वस्तुतः जनपदीय और जनसाहित्य एक ही है, जनवादी साहित्य से उसका कोई सम्बन्ध नही। जनवादी साहित्य कम्युनिस्ट आन्दोलन से युक्त रूढि अर्थ का द्योतक है, जहाँ जन शब्द का प्रयोग इस आन्दोलन के मूल 'सर्वहारा' वर्ग के लिए किया गया है जैसे जनक्रान्ति, जनवादी व्यवस्था आदि। स्पष्टतः जनवादी साहित्य दल विशेष की नीतियो का दर्पण है, जबकि जनसाहित्य का सम्बन्ध सामाजिक हित और कल्याण [1] से है। वह मनुष्य की सार्वभौमिक कल्याणकारिता का उद्घोषक है। जनसाहित्य जनपदीय व्यवस्था को समझने की अपेक्षा भी रखता है।

इसी प्रकार जनसाहित्य और लोकसाहित्य पर्यायवाची नही है। यह भ्रान्ति जन और लोक शब्दो को पर्यायवाची मानने के कारण है। इस भ्रान्ति का उल्लेख करते हुए डॉ० श्याम परमार लिखते है कि इस भ्रान्ति का कारण 'लोक' और 'जन' शब्दो का समानार्थी होना है। [2] सही है कि लोकतन्त्र और जनतन्त्र मे प्रयुक्त 'लोक' और 'जन' शब्द पर्यायवाची है किन्तु साहित्य के सन्दर्भ मे लोक और जन मे अन्तर है। वस्तुतः इस सन्दर्भ मे लोक मे परम्परायुक्त सहज भाव निहित है तो जन मे चेतना का।

भावप्रवण मनीषी की व्यष्टिनिष्ठ तादात्म्य करती वाणी परिनिष्ठित साहित्य

---

1. हिन्दी साहित्य कोश (भाग 1) पृष्ट 303
2. भारतीय लोकसाहित्य-पृष्ठ 19

है जिसका सृजन मात्र इन्ही की बपौती नही। जनसामान्य भी अपनी अनगढ़ किन्तु भाववेष्टित भाषा मे अभिव्यक्ति का संविधान खड़ा करता आया है, जो भाव और चेतना, दो रूपो में लोक की अमर थाती है। भावमयी वाणी लोकसाहित्य है, तो चेतनामयी विस्फोटक चुनौती का स्वर जनसाहित्य। चेतना की दिशाएँ-कोज, कहाँ किस रूप में कितनी मार करे, इसके लिए व्यक्ति ही सचेष्ट होता है, समूह नहीं। अत: जनसाहित्य का प्रणेता व्यक्ति है। इस आधार पर लोकसाहित्य सरल ग्रामीणों का निसर्ग हृदयोद्‌गार तथा जनसाहित्य सत्सग प्राप्त अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित जन–गायकों की सापेक्ष्य, सोद्देश्य, अभिव्यक्ति है। वस्तुत 'लोक' प्रवाह का रूप, तो 'जन' सचेप्ट, सोद्देण्य दिशायुक्त सायास प्रयत्न। 'जन' शव्द जानपद की देन है। उसे समझते हुए 'लोक' और 'जन' पर किये गये चिन्तन को और स्पप्ट करने से दोनों साहित्यों के अन्तर को समझा जा सकेगा।

'लोक को समझाते हुए डॉ० हजारी प्रसाद ने कहा है कि लोक मे ग्रामो और नगरों के वे समस्त निवासी आते है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार अनुभव के अतिरिक्त दूसरा नही।[1] अग्रेजी में 'लोक' के इस शव्द के सम्वन्ध में एनसाइक्लो-पीडिया ब्रिटानिका' मे उल्लेख है—'वह सामान्य जन जो नागरिक संस्कृति और साविधि शिक्षा के प्रवाहो से परे है।'[2] इन्ही अवधारणाओ को समेटते हुए 'हिन्दी साहित्य कोश' मे 'लोक' को परिभापित किया गया है–

'लोक समाज का वह वर्ग है, जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना और अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित है।'[3]

स्पष्टतः मानव 'लोक' का सम्वन्ध उस आदिम भावना से युक्त सहज समूह से है, जिसका ज्ञान तर्कविहीन, परम्परागत प्रवाहित है। इसकी कोई सीमा-रेखा नही, समस्त विश्व मे विस्तृत, व्यापक है। इसी लोक की सुखदु:खात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति लोकसाहित्य है। डॉ० उपाध्याय लिखते हैं–

"लोकसाहित्य लोकमानस को प्रतिबिम्बित करने वाला सामान्य जनता को, जनता द्वारा, जनता के लिए मौखिक परम्परित वह साहित्य है, जो अनायास नि:सृत होता है जिसमें सहजावस्थायुक्त निरक्षर जनता अपनी आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि व्यक्त करती है।"[4]

इसी लोक का सचेष्ट, सीमित समूह 'जन' है। लोक से जन की भिन्नता 'उसके सुगठित और निजी सत्ता के प्रति चैतन्य समूह'[5] के रूप मे प्रकट होती है।

---

1. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (षोडश भाग) पृ० 3
2. इ साइक्लेपीडिया ऑफ ब्रिटानिका
3. हि. सा. को. (भाग 1)- पृ. 686
4. हि. सा. का. वृ इ. (षो. भा.) पृ. 16
5. हि. सा. को. (भाग–1) पृ. 686

स्पष्टत लोक का ही वह चेतन, सीमित समूह जो कि अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति सचेतन हो जाता है और एक इकाई भूभाग मे रहता है-'जन' है।

वस्तुत. जन शब्द आर्यों की जनपदीय व्यवस्था की देन है। आर्यजनों का वह भूभाग जनपद कहलाता था 'जिसमें एक पुरुष से उत्पन्न सजात आर्यजन निवास करते थे।[1] उस जनपद मे एक प्रधान नगर के चारों ओर छोटे नगरो, ग्रामों, वनो, उपवनो का एक सगठित समूह एकत्र हो जाता था, जो अपनी अलग-पहचान रखता था। इन विभिन्न जनपदो मे सस्कृति की कुछ मूलभूत बातें समान होते हुए भी, एक जनपद मे रीति-रिवाज, खान-पान, बोली की विशिष्ट पहचान हो जाती थी। दूसरे शब्दो मे -'जनपद राजनैतिक, सास्कृतिक और आर्थिक जीवन की इकाई बन गये थे।[2] कालान्तर मे इधर-उधर से भी जन आकर वहाँ बसे और उनकी राजनीतिक प्रभुसत्ता तथा बोलीगत विशेषता भिन्न हो गयी। ई० पूर्व 500 तक ऐसे जनपदो एव महाजनपदो का भारतीय इतिहास मे स्पष्ट उल्लेख है,[3] जिनकी उत्तरी भारत मे बोलीगत विशिष्टता आज भी विद्यमान है।[4] राजनैतिक अस्तित्व समाप्त होने पर भी सास्कृतिक एव आर्थिक सयोजक तत्त्व अब भी बचे हैं। जनपद के सास्कृतिक एवं आर्थिक जीवन के बोली मे रचे गये साहित्य को जनपदीय-साहित्य कहा गया, जिसे सक्षेप मे जनसाहित्य भी पुकारा जाता है। क्योंकि जनपद मे संस्कृति की विकृतियो के घुस आने का भय बना रहता था, अतः कुछ जागरूक जन सतत् भावमयी बोली मे विचारोत्तेजक सोद्देश्य साहित्य गाते, कहते, लिखते थे- यही जनसाहित्य है, जो सतत् प्रवहमान रहा है। उस पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखते हुए जनसाहित्य को यो परिभाषित किया गया-

'एक क्षेत्र विशेष की सास्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक इकाई-एकता की पृष्ठभूमि पर जनो को निरन्तर अपने अधिकार और कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रखने वाले, बोली मे रचे और गाये गये सोद्देश्य साहित्य को जनपदीय या जनसाहित्य कहते है।'

स्पष्टतः जनसाहित्य आन्दोलन का साहित्य है। ज्यो-ज्यो आधुनिक युग मे आन्दोलन का स्वर राष्ट्रीय, अन्तराष्ट्रीय होता चला गया, त्यो-त्यो जनसाहित्य का स्वर भी विस्तृत होता गया है। 'जन' भी विशिष्ट घेरे से निकल राष्ट्रीयता की ओर बढ गया है। उसी रूप मे सममयिक प्रश्नो की तीव्र झझा की झकृति उठाता जनसाहित्य का अर्थ भी व्यापक हो गया है। इसी आधार पर 'साहित्यकोश' मे कहा गया-

---

1 प्राचीन भारत का राजनैतिक एव सास्कृतिक इतिहास-पृ. 111
डॉ० रतिभानु सिंह नाहर

2 वही-पृ. 111

3. वही पृ. 111

4. हि. सा. को. (भाग-1)-पृ 302 303

जनपदीय काव्य राजनीतिक, सास्कृतिक, आर्थिक प्रश्नों पर तर्क-वितर्क करके प्रचार को इतना तीव्र कर देता है कि जन अपने अनुकूल जीवन मूल्यो की दृढ़ता के लिए समयानुकूल वांछित-अवांछित तत्त्वों को ग्रहण करते या छोड़ते चलते हैं ।[1]

संक्षेप मे वह जीवन मूल्यों की सशक्त आलोचना का साहित्य है । एक उदा-हरण–मेरठ क्षेत्र–कुरु जनपद का भाग है, जिसकी वोली कौरवी है । पिछले 100 वर्षों–1857 से नई क्रान्तियो-आर्यसमाज, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन, स्वातन्त्र्योत्तर नई चेतना–इसे झकझोर रही हैं । इसमें कुछ शुभ, कुछ अशुभ है जैसे–पुरानी संस्कृति के विघटन का भय । इन-इन रूपों को समयानुसार प्रचारित करने वाले कुछ विशिष्ट जन, जो साहित्य रचते है, वही जन साहित्य है । डॉ० नामवर सिंह ने बहुत सटीक लिखा है कि सामान्य जन की सवेदनशीलता की व्यष्टिनिष्ठ अभिव्यक्ति ही जन काव्य है ।[2]

लोक और जन शब्दो की इन विशिष्टताओ से स्पष्ट है कि सामान्य जन की संवेदनशीलता दो रूपो मे प्रकट होती है–सहज, स्वयं, अकृत्रिम, अनायास, समूहबद्ध भावप्रवण जो लोकसाहित्य है, तो सचेष्ट, सोद्देश्य, व्यष्टिनिष्ठ, विचारोत्तेजक जनसाहित्य है । दोनो के अन्तर को चिह्नित करते हुए डॉ० नामवर सिंह लिखते हैं–

"लोकसाहित्य जहाँ जनता के लिए, जनता द्वारा ही रचित साहित्य है, वहाँ जनसाहित्य जनता के लिए व्यक्ति द्वारा रचित साहित्य है"[3]

इसका अर्थ है कि लोकसाहित्य माँटी की ऐसी सोंधी सुगंध से युक्त है कि उसका रचयिता या तो समूह है और यदि व्यक्ति है भी तो इतना सहज कि उसकी कृति लोकमय हो जाती है, उसे खोजना कठिन है । वह गोविंद सा सबमे, सबके लिए है, निजत्व का उसका कोई दावा नही, जबकि जनसाहित्यकार निजीपन के प्रति सचेष्ट रहता है । उसे सीखता, सँवारता, लिखता और सुरक्षित रख गौरवान्वित होने का भाव रखता है । दोनो के इस अन्तर को निम्नलिखित बिन्दुओ मे रखा जा सकता है—

लोकसाहित्य	जनसाहित्य
समष्टिनिष्ठ	व्यष्टिनिष्ठ
व्यापक	क्षेत्रीय
सहज	सचेष्ट, सोद्देश्य
सहज कला-सविधान	अपेक्षाकृत सचेष्ट

1. हि. सा को. (भाग 1),–303
2. जनपद (त्रैमासिक) अक 2–पृ. 64
3. वही–पृ० 63-64 ।

सहज गेयता | सचेष्ट
पूर्णतया मौखिक | लिखित भी

1 **लोकसाहित्य समष्टिनिष्ठ है तो जनसाहित्य व्यष्टिनिष्ठ**

लोकसाहित्य के सभी रूप-गीत, गाथा, कथा आदि लोक-सम्पदा हैं। व्यक्ति रचना हैं भी तो इतनी तादात्म्यशील कि उसका व्यक्तित्व लोक भावो मे तिरोहित होकर लोकस्वरूपी हो जाता है।[1]

इसके विपरीत जनसाहित्य सचेष्ट व्यक्ति की सोद्देश्य रचना है। रचना पर व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट होती है। वह अपने को सर्वज्ञ, पिंगलज्ञाता, समाज-नियंता, सस्कृतिरक्षक, जीवन मूल्यो का उद्घोषक कहता है। जनता को वह प्रशिक्षित करने का दंभ भरता है। वह लोक तत्त्वो को काँट—छाँटकर ही प्रयुक्त करता है।

इसी आधार पर दोनो के उद्देश्य में भी अन्तर आ जाता है। लोकसाहित्य का उद्देश्य उल्लास थिरकन, आनन्द है तो जनसाहित्य प्रशिक्षण पर बल देता है

2 **उद्देश्य में अन्तर—**

उद्देश्य की दृष्टि से दोनों एकदम भिन्न हैं।[2] आनन्द लोकसाहित्य का पहला उद्देश्य है, इसीलिए इसमे लोक के धूल—चन्दन, फूल-शूल सभी की मिश्रित गंध होती है। वह ताजी हवा का झोंका है श्रावण की फुहारो का आनन्दातिरेक, झूले का उल्लास-अर्थात् हृदय का साहित्य है। उसमे उपदेशात्मकता नही। जीवन आदर्श, नैतिकता, धार्मिक तत्त्व, आर्थिक समस्याएँ आती है तो सहज रूप मे—भाव के संपुट मे बन्द। वह भावरसपूर्ण अभिव्यक्ति है, जिसमे विचार-तत्त्व गौण है।

ठीक विपरीत दिशा ग्रहण कर जनसाहित्य समाज के पहरूओ का साहित्य है, जो जागरूक रहने की हाँक लगाते हैं। वह सोद्देश्य साहित्य है। उसका प्रणयन 'जनकल्याण और जनहितार्थ किया जाता है'[3] उसमें सस्कृति रक्षा का बोध होता है। अधविश्वासो, रूढ़ियों, युगानुरूप बोझ बनी मान्यताओ को ललकारना उसका प्रमुख उद्देश्य है उसकी दृष्टि सामयिक आन्दोलन पर होती है।

लोकसाहित्य तो परम्परा मे जीता है। परिवर्तन भी इसके लिए सहज है। वह मानव की मूलभूत एकता का प्रमाण पत्र है—जैसे सव कुछ से 'युक्त मद ब्यार, पर जनसाहित्य मे सदेह है, आलोचना, प्रत्यालोचना का विवाद है। उसका प्रयास है कि वह अपने अचल मे परीक्षण कर अवाछित को नही आने देगा। वह ड्योढी है, जिस पर समाज-महल मे प्रवेश करने वाले जीवन मूल्यो की तलाशी होनी अनिवार्य है।

लोकसाहित्य मानव की सहज, अकृत्रिम सस्कृति के विस्तृत जीवन का दस्ता-

---

1. हिं. सा. का. वृ. इ. (षो. भा.)-पृ॰ 74
2. हिं. सा. को. (भाग-1)–पृ. 692
3. वहीं पृ. 692

वैज है, तो जनसाहित्य वर्तमान के अनुकूल जीवन जीने की सलाह देने वाला सामाजिक कानून। वह आनन्द की थिरकन है, यह विचारवान सहज प्रहरी। अतः दोनों की व्यापकता के क्षेत्र मे भी अन्तर है।

3 दोनों के क्षेत्र विस्तार में अन्तर है–

'हिन्दी साहित्य-कोश' मे कहा गया है—

'जनपदीय-साहित्य क्षेत्रीय विशेपता का द्योतक है, वह लोकसाहित्य की भाँति व्यापक सामान्यता का बोध नही कराता'।[1]

वस्तुतः लोकसाहित्य की भूमि विस्तृत गगन सदृश्य है। पूर्णतया असभ्य, अनाम आदिम कवीले से लेकर सुसभ्य महानगरो, स्त्रीं-पुरुप, आवाल-वृद्ध सभी के साथ उसका खिलवाड़ चलता है। वह मानव की महान् आत्मा का अभिन्न अग है जो सभी ऋतुओ, जन्म-मृत्यु सभी दशाओं में खेत-खलिहान मे, प्रिय सखा सा संग चलता है, जबकि जनसाहित्य क्षेत्र विशेप के चैतन्य समूह तक ही पहुँचता है। भावना की गहराई के क्षेत्र मे भी दोनो मे अन्तर है।

लोकसाहित्य समान भावनाओं का ऐसा जंगली पुष्प है जो चाहे किसी भी धरा, बोली में मँहके तुरन्त गध से पहचान लिया जाता है, जवकि जनसाहित्य क्षेत्र विशेप की फसल है, दूसरो के लिए वेगाना। इसी आधार पर दोनों के कलात्मक विधान मे भी अन्तर आ जाता है।

4 दोनों के कलात्मक संविधान में अन्तर है—

परिनिष्ठित काव्य की रूढियाँ, पिंगल शास्त्र की बारीकियाँ जनसाहित्य में भले ही न हो फिर भी लोकसाहित्य की तुलना मे उसका कला-विधान वैसा ही है जैसा प्रयोगवादी कवि का। लोकसाहित्य की कला मे आकाश में उड़ती चिडिया जैसी स्वच्छन्दना है, जबकि जनसाहित्य मे पालतू कपोत जैसी सायास सजाने की चेष्टा। दोनो के काव्य रूपो को देखें।

लोक-काव्य में छन्द हैं-किन्तु वन्धनरहित-केवल सुर, लय, ताल पर आधारित, जवकि जनकाव्य मे पिंगल शास्त्र का दभ भरा जाता है। जनकवि परिनिष्ठित कवियों के छन्द अपनाने की चेष्टा करता है परन्तु लोक-काव्य की स्वच्छन्दता उस पर हावी हो जाती है। वह भी छन्द विकृति को सुर, लय, ताल से ही साधता है। फिर भी उसमे निश्चित छन्दो का दम्भ है। लोक-काव्य, परिनिष्ठित काव्य से जरा भी प्रभावित नही होता, उल्टे उसे प्रभावित करता है। जनकाव्य मे दोनों का प्रभाव है। वह सेतु के समान है। भाषा—अलंकार चयन मे भी यही स्थिति है।

हाँ, भाषा के प्रयोग मे दोनों की प्रवृत्ति समान है। क्योंकि भाषा का निर्माता लोक है और दोनो लोक को समर्पित है। फिर भी जनसाहित्य लोक को प्रभावित करता है, वह मनीषा के कुछ शब्दो को लोक तक पहुँचाता है। स्थानीय रग दोनो की भाषा का प्रमुख आकर्षण है। 'मिठुआ वोली' दोनों का ही प्राण है।

---

1. हिन्दी साहित्य कोश पृ० 692,

जनसाहित्य मे अपेक्षाकृत बोली के अलंकरण की प्रवृत्ति होती है, जो विभाषा का रूप ग्रहण करती जान पड़ती है। वस्तुतः क्षेत्र विशेष की विभिन्न बोलियों, उप-बोलियो के सम्मिश्रण से बनी, स्थानीय रंग मे रँगी, बोली–ठोली की ठसक से युक्त मुहावरेदार ऐसी भाषा मे जो उस क्षेत्र के सभी जनो की सम्पर्क भाषा होती है–जनसाहित्य लिखा जाता है, जबकि लोकसाहित्य 'आठ-कोस पर पानी बदले' बारह कोस पर बानी' का अनुसरण करता है। वह ठेठ बोली का ठाट है। स्पष्टतः जन-साहित्य मे प्रयुक्त भाषा लोकसाहित्य में प्रयुक्त बोली से अधिक विस्तृत, व्यापक, अलकृत होती है। इस भाषा मे–बोली के मुहावरे की व्यंजकता, शब्दो मे निहित सास्कृतिकता, लोकोक्तियो मे प्रयुक्त नैतिकता के कारण–अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत तीव्र होती है।

वस्तुत. दोनो के रचना संविधान के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए परिनि-ष्ठित काव्य के रचना प्रक्रिया के आधार पर किये गये दो प्रकारो– अलकृत काव्य, सम्वर्द्धित काव्य का उदाहरण देना समीचीन होगा। अलकृत काव्य जिस प्रकार व्यक्ति विशेप की रस-अलंकार, रीति-गुण की सायास योजना है, उसी प्रकार जनसाहित्य है दूसरी ओर सम्वर्द्धित-काव्य व्यक्ति विशेप की कृति होते हुए भी अभिवर्द्धित होता चलता है, उसी प्रकार लोकसाहित्य भी। लोकसाहित्य पूर्णतया मौखिक है, जबकि जनसाहित्य लिपिवद्ध भी किया जाता है।

5 **गेयता दोनों की प्राण शक्ति है –**

लोकसाहित्य का बड़ा अश लोक-गीत हैं, जो कि गेयताविहीन नि.सार है। गायन उनकी मूल प्राण-शक्ति है। लिपिवद्ध वह प्राणहीन है. किन्तु ज्यो ही लोक-गायक के गले का सस्पर्श पाते है, तो चौकड़ी भरने लगते है। जनसाहित्य तो हैं ही मूलत जनगीत, जो कि गायन मे ही सारवान् होते हैं। गायन इनका भी इतना अमूल्य, हावी हो जाने वाला तत्त्व है कि यदि इनकी अतिम नामयुक्त पक्ति निकाल दें तो (सम्पूर्ण गीत पर लोकतत्त्व इतना हावी रहता है वही लोक-गीत लगने लगता है। दोनो मे ही गीत का सहज सरल विधान है–शास्त्रीयता से रहित।

दोनों के गायन मे गले की जादूगरी का खेल है। लोक-गीत तो स्त्रियो-पुरुषों, बच्चो के आरोह-अवरोह पर ही अवलवित है। वाद्य यन्त्र या तो होते ही नही, हे भी बहुत न्यून। जनकवि हथेली, मेज, लाठी किसी पर भी ताल लगाने को बाध्य हैं। इसके गायन मे वाद्यो का प्रयोग लाचारी की सीमा तक है।

लोकसाहित्य की गेयता सहज ह, उसे प्रशिक्षण की आवश्यकता नही। यह घुट्टी का गुण है। जवकि जनकाव्य की गेयता अभ्यासजन्य है–गुरु चरणो मे बैठ वर्षो की साधना का फल। रूपक में कहें–तो लोक-काव्य रिमझिम बूँदो की लयता न के समान अनायास अन्त.भावना पर आधारित गेय है, जबकि जनकाव्य मानवकृत कृत्रिम फव्वारे के सगीत के समान। वस्तुत. दोनो लोक-गायकी के दो भेद है–सहज (लोककाव्य) और सायास (जनकाव्य)।

6 दोनों में पारस्परिकता है –

लोकसाहित्य और जनसाहित्य दोनों एक ही धारा के पुत्र हैं । दोनों में आकृतिमूलक विभेद होते हुए भी भावमूलक गुण साम्य है । दोनों में स्थानीयता का प्रावल्य है । दोनो के नायक स्थानीय रंग में रँगे होते हैं । दोनो मे स्थानीय खान–पान, आचार व्यवहार का सजीव चित्रण होता है ।

दोनो साहित्यों की प्रबन्धात्मकता को देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि इनमें मात्र उद्देश्य का ही अन्तर है । जैसे लोकसाहित्य मे लोक-गाथा, मनोरंजन, रहस्य–रोमांच आनन्द के मिठास मे सरावोर होती है तो जनसाहित्य मे उसी गाथा में मिठास के मध्य आदर्श, शिक्षा, उपदेश की कुनैन भी सायास रख दी जाती है। फुटकर गीतो मे भी ऐसा ही है । जनसाहित्य में प्रकृति-जन-कल्याण से युक्त हो जाती है, जबकि लोकसाहित्य में मनोरम तत्त्व की ही प्रधानता होती है ।

वस्तुत लोकसाहित्य चित्तवृत्तियों का सहज प्रकाशन है जबकि जनसाहित्य इनके सस्करण का प्रयास । जनसाहित्य अपनी सारी विषय सामग्री, कलात्मकता लोकसाहित्य से लेता है, बदले मे उसे उपकृत भी करता है । साराशत दोनों सहोदर जैसे है । दोनो ही जनता के लिए है । हां, एक जनता द्वारा रचित है दूसरा विशिष्ट जन द्वारा । एक समूह की कृति है, तो दूसरा व्यक्ति की समूह के लिए ।

—हिन्दी-विभाग
कृषक डिग्री कालेज
मवाना (मेरठ)



लोकतात्त्विक शोध में समानान्तरवाद और प्रसारवाद की अवधारणा का उपयोग

कुलदीपसिंह मन्हास

लोकतात्त्विक शोध : स्वरूप परिचय

संस्कृत तथा परिष्कृत लोगो के प्रभाव से मुक्त तथा अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान लोगो के साहित्य अथवा लोकमानसीय तत्त्वो से युक्त सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का अध्ययन करने वाली शोध लोकतात्त्विक शोध कहलाती है । डॉ०सत्येन्द्र के मतानुसार लोकतात्त्विक शोध का अर्थ है—"शोधकृति मे गहरे पैठकर लोकमानस का, उसकी अभिव्यक्ति और प्रक्रिया का, उससे प्रतिफलित स्वरूप का उद्घाटन करना । इस शोध का यह भी धर्म है कि किसी भी अभिव्यक्ति मे लोकमानस के सूत्रो से लिपटे अन्य मानस सूत्रो को विश्लेपित कर उन्हे अलग कर देना या उनके योगदान का मूल्याकन करना ।"[1] लोकमानस की प्रमुख विशेषताएं है : पुरातन का उत्तराधिकरण, अहं के चैतन्य का विलयन, आदिम अवशेषयुक्तता, सभ्यता की लहरों से असम्पृक्तता, कल्पनाशीलता, ऐन्द्रिय परिज्ञान से सम्बन्धित स्थूल विम्बो की विविधता और विराटता, भावना की प्रवलता और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ।[2] लोकमानस की इन्ही विशेषताओ को स्पष्ट करना लोकतात्त्विक पद्धति से शोध करने वाले शोधार्थी का धर्म है ।

लोकतात्त्विक शोध के माध्यम से जन-मानस मे प्रचलित लोकवार्ता-शास्त्र, लोकगाथा, लोकगीत, लोककथा, लोकनाट्य, लोकसुभापितो का स्वायत्त अथवा परिनिष्ठित साहित्य मे उनके आशिक निरूपण का लोकतात्त्विक दृष्टि से विवेचन—विश्लेपण किया जाता है । इस शोध प्रणाली की दो दिशाएँ निश्चित की जा सकती है—

१. शुद्ध लोकतात्त्विक शोध :

इसमे क्षेत्रीय अनुसन्धान द्वारा सामग्री एकत्रित की जाती है और तव उसका शोधपूर्ण अध्ययन किया जाता है । उदाहरणतः 'व्रज के लोकसाहित्य का अध्ययन ।'

---

1 सत्येन्द्र, 'लोकतात्त्विक शोध', सम्भावना (शोधतन्त्र विशेपाक), सम्पा. रामेश्वरलाल खण्डेलवाल (कुरुक्षेत्र . कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालन, 1977वर्ष 3 अक5-6), पृष्ठ 181

2. विजयपालसिंह, हिन्दी अनुसधान (दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्ज, 1978), पृष्ठ 187

का तुलनात्मक अध्ययन'। इस शोध प्रकार्य को अपनाने के लिए शोधार्थी मे कुछ विशेषताओ का होना जरूरी है, जैसे—तुलनीय भाषा और साहित्य का ज्ञान अनिवार्य है। उसे तटस्थ और पूर्वाग्रह मुक्त होना चाहिए।

तृतीय आधार :

दिशा के आधार पर भी लोकतात्त्विक शोध के निम्न दो भेद किए जा सकते हैं:—

शुद्ध लोकतात्त्विक शोध :

इसमे क्षेत्रीय अनुसन्धान द्वारा सामग्री सचयन किया जाता है। एक क्षेत्र विशेष को चुनकर उसके लोकसाहित्य का शोधपूर्ण अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के लिए, 'पजाब के लोकसाहित्य का अध्ययन'। इसमे प्रत्यक्ष स्वयं चयन प्रणाली को ही महत्त्व दिया जाता है। इसमें सूचक आदि उपकरणो की सहायता भी ली जातीहै।

साहित्यगत लोकतात्त्विक शोध :

इस प्रकार की शोध मे किसी भी अन्य प्रकार के साहित्यिक अथवा कलात्मक कृतित्व को आधार बनाकर उसमें लोकतत्त्व की स्थिति, स्वरूप और प्रकृति आदि का अध्ययन किया जाता है। जैसे—'पद्मावत में लोकतत्त्व'।

समानान्तरवाद : अवधारणात्मक परिचय—

विभिन्न देशो के लोकसाहित्य में सामग्री और शिल्प, दोनों धरातलों पर अनेक समानताएँ मिलती हैं। टायलर, लैग आदि सास्कृतिक विकासवादियो ने जिस आधार पर इन समानताओ की व्याख्या की वह समानान्तरवाद के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने यह कहा कि मानव सस्कृति मे बहुत सी बातें समानान्तर रूप मे विकसित होती रही हैं। इसका कारण वह सार्वभौम मानव प्रकृति है जो देश और काल की सीमाओं में नहीं बाधी जा सकती। इस धारणा के मूल में उन्होने मनोवैज्ञानिक एकता को बनाया अर्थात् समान सामाजिक, सास्कृतिक परिस्थितियो मे परिवेश के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रिया समान होती है। एक विशेष सांस्कृतिक स्तर पर रहने वाली सभी जातियों ने इन प्रश्नों पर विचार किया है कि दिन मे सूर्य क्यो दिखाई देता है, दिन में तारे क्यों नहीं दिखाई देते है, चन्द्रमा क्यों घटता बढ़ता है, चन्द्रमा की सतह पर दिखाई देने वाला चिह्न क्या है इत्यादि और उन्होने कथाओं के माध्यम से इनका समाधान प्रस्तुत किया है। बहुत सम्भव है कि इस प्रकार की कथाओ में कहीं-कहीं समानता दिखाई पड जाए। ऐसी अनेक कथाएँ मिल जाती है जिनके रूप मे भले ही परिवर्तन हो परन्तु मूल ढाँचे मे कोई परिवर्तन नही होता। इन समानताओं का उद्‌घाटन समानान्तरवाद की अवधारणा के द्वारा ही हुआ।

प्रसारवाद : अवधारणात्मक परिचय—

इस अवधारणा का जन्म समानान्तरवाद के विकल्प के रूप में हुआ।[1] इसकी

1. दिनेश्वर प्रसाद, लोकसाहित्य और सस्कृति (इलाहाबाद . लोकभारती प्रकाशन 1973), पृष्ठ 66

मूल धारणा यह है कि समानताओ का मुख्य कारण केन्द्र विशेष से प्रथाओ, विश्वासों, गीतो कथाओ आदि का प्रसार है। डा० दिनेश्वरप्रसाद के अनुसार—"लोकसाहित्य मे प्रसारवाद का पहला प्रस्तावक सम्भवत: थियोडोर बेनफे है जिसने अपने पचतन्त्र के अनुवाद की भूमिका (१८५९) मे यह कहा कि यूरेशिया की समस्त कथाएँ एक ही प्रसार केन्द्र से फैली है और वह केन्द्र भारत है।[1] प्रसारवादियो ने समानान्तरवादियो के मनोवैज्ञानिक एकता के दर्शन को मान्यता नही दी। इस वाद के अनुसार लोककथाओ के स्वतन्त्र आविष्कार और सामूहिक रचना के तर्क विश्वस्य नही हैं। वस्तुत. जिन लोककथाओं, लोकगीतो, कहावतो या पहेलियो मे केवल भाव का धारणागत साम्य है, वे स्वतन्त्र आविष्कार है, किन्तु जिनमे भाव या धारणागत साम्य के साथ विवरणगत साम्य भी विद्यमान है, उन्हे अलग-अलग क्षेत्रो मे स्वतन्त्र रूप से आविष्कृत मानना असगत है। वे व्यक्ति विशेष की रचना है और अपने रचना क्षेत्र से अन्यत्र फैली है।

इस अवधारणा के अनुसार न केवल लोकसाहित्य की कथावस्तु वरन् उसकी विधा और शिल्प का भी प्रसार हुआ है। इस धारणा द्वारा यह भी स्पष्ट हुआ कि समानता, समान सामाजिक तथा भौगोलिक परिस्थितियो वाले क्षेत्रो मे ही नही मिलती अपितु इन दृष्टियो से असम्वद्ध क्षेत्रो मे भी पाई जाती है लेकिन जिनके वीच आवागमन की सुविधाएँ विद्यमान हैं।

लोकतात्विक शोध में समानान्तरवाद और प्रसारवाद :

उपर्युक्त सभी शोध प्रकारो मे समानान्तरवाद और प्रसारवाद का आधार वनाकर शोध कार्य किया जा सकता है।

सिद्धान्त :

प्रसारवाद या समानान्तरवादी दृष्टि से लोकसाहित्य के अध्ययन क्षेत्र की निम्नलिखित सैद्धान्तिकी वनाई जा सकती है—

(क) विपय (थीम)
(ख) शिल्प-विधान (टेकनीक्स)
(ग) अभिव्यजना (एक्सप्रेशन),
(घ) छन्द सागीतिक (मोटर ऐंड म्यूजिकैलिटी),
(ङ) मचन और अभिनेयता (स्टेज ऐंड ऐक्टिग)।

ऊपर निरूपित अध्ययन-क्षेत्रो मे विपय, शिल्पविधान और अभिव्यजना के आधार पर लोककथा और लोकगाथा का विपय, शिल्पविधान, अभिव्यजना और छन्द सांगीतिकता के आधार पर लोकगीतो का तथा विपय, शिल्पविधान, अभिव्यंजना छन्द सांगीतिकता और मचन तथा अभिनेयता के आधार पर लोकनाट्य का अध्ययन किया जा सकता है।

---

1. दिनेश्वर प्रसाद, लोकसाहित्य और सस्कृति (इलाहाबाद - लोकभारती प्रकाशन, 1973), पृष्ठ 66

२. कलात्मक अथवा अभिजात साहित्य में निरूपित

इसमे किसी कलातमक अथवा साहित्यिक कृतित्व को शोध के लिए लिया जाता है और उसमे लोकतत्त्व की स्थिति, स्वरूप और प्रकृति आदि का अध्ययन किया जाता है। उदाहरणत 'हिन्दी प्रेमाख्यानो की लोकतात्त्विक समीक्षा'।

इस शोध का स्वरूप आभिजात्य साहित्य की शोध के स्वरूप से भिन्न होता है, क्योंकि इसमे लोक का प्रत्यक्ष निरीक्षण और परीक्षण करना होता है। इसके सामग्री चयन मे भी प्रत्यक्ष स्वय चयन प्रणाली को ही महत्त्व दिया जाता है। प्रामाणिक सामग्री चयन के लिए आभिजात्य साहित्य की शोध से भिन्न उपकरणों को भी अपनाना पडता है जैसे परिचित व जानकार सूचक और टेपरिकार्डर वगैरह का प्रयोग।

इस शोध की कुछ अपेक्षाएँ होती है, जिनके बिना यह सम्पन्न नही हो सकती। क्षेत्र पर आधारित होने के कारण इस शोध के लिए क्षेत्र का परिज्ञान होना आवश्यक है। इसकी इसी अपेक्षा के कारण इसे क्षेत्रीय शोध से अलग नही किया जा सकता। इस शोध की व्यापक परिधि मे क्षेत्रीय शोध स्वत: समाहित हो जाती है। इस शोध के लिए अनुसधेय काल विशेष के साहित्य का ज्ञान भी आवश्यक है अर्थात् इसमे भूगोल और इतिहास दोनों की जानकारी अपेक्षित है।

इस शोध-प्रणाली का विषयगत विस्तार बहुत अधिक है। यह केवल वस्तु के अध्ययन तक सीमित नही है अपितु इसके अध्ययन का क्षेत्र साहित्य के कथ्य, उसकी रचना प्रक्रिया, उसके प्रतीक विधान तथा अन्य संरचनात्मक तत्त्वो तक विस्तृत है।[1] यह केवल प्राचीन या मध्ययुगीन साहित्य मे नही अपितु आधुनिक साहित्य मे भी सभव है।

निष्कर्षत: लोकतात्त्विक शोध प्रणाली एक व्यापक एवं विशद प्रणाली है जो अनुसन्धान की विविध आधुनिक प्रणालियो का अवलम्ब होने के साथ-साथ अनुसन्धान के मूल उद्देश्य को भी उजागर करती चलती है, जिसमे ज्ञान की विलुप्त सामग्री की खोज की जाती है।

लोकतात्त्विक शोध के प्रकार :

लोकतात्त्विक शोध के प्रकारो को तीन आधारो पर स्पष्ट किया जा सकता है :—

प्राथमिक आधार :

इसके अन्तर्गत लोकतात्त्विक शोध दो रूपो मे हो सकता है :—

सैद्धान्तिक लोकतात्त्विक शोध :

इसमे लोकवार्ता शास्त्र को आधार बनाकर प्रान्त विशेष के लोकसाहित्य का अध्ययन किया जाता है। डा० कृष्णकुमार शर्मा के अनुसार, "इसमें लोकवार्ता की व्युत्पत्ति, लोकसाहित्य के विविध तत्त्वों, इतिहास और विकास, विविध प्रभाव और उनके विश्लेषण का विवेचन किया जाएगा। लोकतत्त्व के अतिरिक्त लोकसाहित्य के

1 विजयपालसिंह, हिन्दी अनुसन्धान (दिल्ली . राजपाल एण्ड सन्ज, 1978), पृष्ठ 175

गठन और लोकमानवीय दृष्टि को भी आधार बनाया जाएगा। यह लोकसाहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन होगा।"[1]

व्यावहारिक लोकतात्त्विक शोध :

व्यावहारिक पक्ष मे लोकवार्ता व उसके विभिन्न पहलुओ लोकगीत, लोकनाट्य, लोकगाथा, लोककथा, लोकसुभाषित आदि पर शोध किया जा सकता है। इनको आधार बनाकर इस शोध के निम्न प्रकार बनाए जा सकते है—

(अ) लोकगीतपरक लोकतात्त्विक शोध

(आ) लोकगाथापरक लोकतात्त्विक शोध

(इ) लोककथापरक लोकतात्त्विक शोध

(ई) लोकनाट्यपरक लोकतात्त्विक शोध

(उ) लोकसुभाषितपरक लोकतात्त्विक शोध

इन सभी पर विभिन्न दृष्टियो से कार्य किया जा सकता है, जैसे भाव या विषय-वस्तु की दृष्टि से, शिल्प की दृष्टि से, जीवन-दर्शन की दृष्टि से आदि।

द्वितीय आधार :

प्रविधि की दृष्टि से भी लोकतात्त्विक शोध के निम्नलिखित तीन प्रकार बनाए जा सकते है :—

वर्णनात्मक लोकतात्त्विक शोध :

जब किसी प्रान्त विशेष के लोकसाहित्य का सग्रह कर उसका वर्णनात्मक अध्ययन किया जाए तो उसे वर्णनात्मक लोकतात्त्विक शोध की सज्ञा दी जा सकती है। इस शोध प्रकार का उद्देश्य यह बतलाना होता है कि किसी प्रान्त विशेष के लोकसाहित्य का तत्कालीन रूप क्या है? यह शोध प्रकार दर्शन, मनोविज्ञान, इतिहास, समाजविज्ञान आदि विभिन्न ज्ञानानुशासनो को आधार बनाकर भी किया जा सकता है जैसे — 'लोकसाहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन'।

ऐतिहासिक लोकतात्त्विक शोध :

यह शोधकार्य लोकसाहित्य के किसी भी पहलू को लेकर किया जा सकता है। इसका उद्देश्य विभिन्न समयो मे प्रचलित लोकगीत, लोककथाओ, लोकगाथाओ आदि का वर्णन करते हुए उनका विकासात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना होता है। किसी विशेष समय मे कौन-कौन से गीत, कथाएँ आदि प्रचलित रहो है, लोकमानस की रूढ़ियाँ क्या थी, उनका परवर्ती परम्परा पर क्या प्रभाव पडा आदि सब बातो का अध्ययन इस शोध प्रकार के अन्तर्गत किया जाता है।

तुलनात्मक लोकतात्त्विक शोध :

इस शोध प्रकार में दो भाषाओ, दो विधाओ, दो कालो अथवा दो परिवेशो को अध्ययन सामग्री बनाकर दोनो मे एक समानान्तर तोल अथवा एक दूसरे पर प्रभाव की छाप को स्पष्ट किया जाता है। जैसे—'भोजपुरी और अवधी लोकगीतो

---

1. विजयपाल सिंह . हिन्दी अनुसन्धान (दिल्ली राजपाल एण्ड सन्स) पृ० 187

का तुलनात्मक अध्ययन'। इस शोध प्रकार्य को अपनाने के लिए शोधार्थी में कुछ विशेषताओं का होना जरूरी है, जैसे—तुलनीय भाषा और साहित्य का ज्ञान अनिवार्य है। उसे तटस्थ और पूर्वाग्रह मुक्त होना चाहिए।

तृतीय आधार :

दिशा के आधार पर भी लोकतात्त्विक शोध के निम्न दो भेद किए जा सकते हैं.—

शुद्ध लोकतात्त्विक शोध :

इसमे क्षेत्रीय अनुसन्धान द्वारा सामग्री सचयन किया जाता है। एक क्षेत्र विशेष को चुनकर उसके लोकसाहित्य का शोधपूर्ण अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के लिए, 'पजाव के लोकसाहित्य का अध्ययन'। इसमें प्रत्यक्ष स्वय चयन प्रणाली को ही महत्त्व दिया जाता है। इसमें सूचक आदि उपकरणों की सहायता भी ली जातीहै।

साहित्यगत लोकतात्त्विक शोध :

इस प्रकार की शोध में किसी भी अन्य प्रकार के साहित्यिक अथवा कलात्मक कृतित्व को आधार बनाकर उसमे लोकतत्त्व की स्थिति, स्वरूप और प्रकृति आदि का अध्ययन किया जाता है। जैसे—'पद्मावत में लोकतत्त्व'।

समानान्तरवाद : अवधारणात्मक परिचय—

विभिन्न देशो के लोकसाहित्य मे सामग्री और शिल्प, दोनों धरातलो पर अनेक समानताएँ मिलती हैं। टायलर, लैंग आदि सांस्कृतिक विकासवादियो ने जिस आधार पर इन समानताओ की व्याख्या की वह समानान्तरवाद के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होने यह कहा कि मानव संस्कृति में बहुत सी बाते समानान्तर रूप मे विकसित होती रही हैं। इसका कारण वह सार्वभौम मानव प्रकृति है जो देश और काल की सीमाओं में नही बाधी जा सकती। इस धारणा के मूल में उन्होंने मनोवैज्ञानिक एकता को बनाया अर्थात् समान सामाजिक, सास्कृतिक परिस्थितियो मे परिवेश के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रिया समान होती है। एक विशेष सास्कृतिक स्तर पर रहने वाली सभी जातियों ने इन प्रश्नो पर विचार किया है कि दिन मे सूर्य क्यो दिखाई देता है, दिन मे तारे क्यो नहीं दिखाई देते है, चन्द्रमा क्यों घटता बढ़ता है, चन्द्रमा की सतह पर दिखाई देने वाला चिह्न क्या है इत्यादि और उन्होने कथाओ के माध्यम से इनका समाधान प्रस्तुत किया है। बहुत सम्भव है कि इस प्रकार की कथाओ मे कहीं-कहीं समानता दिखाई पड जाए। ऐसी अनेक कथाएं मिल जाती हैं जिनके रूप मे भले ही परिवर्तन हो परन्तु मूल ढाँचे मे कोई परिवर्तन नही होता। इन समानताओं का उद्घाटन समानान्तरवाद की अवधारणा के द्वारा ही हुआ।

प्रसारवाद : अवधारणात्मक परिचय—

इस अवधारणा का जन्म समानान्तरवाद के विकल्प के रूप मे हुआ।[1] इसकी

1. दिनेश्वर प्रसाद, लोकसाहित्य और संस्कृति (इलाहाबाद लोकभारती प्रकाशन 1973), पृष्ठ 66

मूल धारणा यह है कि समानताओ का मुख्य कारण केन्द्र विशेष से प्रथाओ, विश्वासों, गीतो कथाओ आदि का प्रसार है। डा० दिनेश्वरप्रसाद के अनुसार—"लोकसाहित्य मे प्रसारवाद का पहला प्रस्तावक सम्भवतः थियोडोर वेनफे है जिसने अपने पचतन्त्र के अनुवाद की भूमिका (१८५६) मे यह कहा कि यूरेशिया की समस्त कथाएँ एक ही प्रसार केन्द्र से फैली है और वह केन्द्र भारत है।[1] प्रसारवादियो ने समानान्तरवादियो के मनोवैज्ञानिक एकता के दर्शन को मान्यता नही दी। इस वाद के अनुसार लोककथाओ के स्वतन्त्र आविष्कार और सामूहिक रचना के तर्क विश्वस्य नही हैं। वस्तुतः जिन लोककथाओ, लोकगीतो, कहावतो या पहेलियो मे केवल भाव का धारणागत साम्य है, वे स्वतन्त्र आविष्कार है, किन्तु जिनमे भाव या धारणागत साम्य के साथ विवरणगत साम्य भी विद्यमान है, उन्हे अलग-अलग क्षेत्रो मे स्वतन्त्र रूप से आविष्कृत मानना असगत है। वे व्यक्ति विशेष की रचना है और अपने रचना क्षेत्र से अन्यत्र फैली है।

इस अवधारणा के अनुसार न केवल लोकसाहित्य की कथावस्तु वरन् उसकी विधा और शिल्प का भी प्रसार हुआ है। इस धारणा द्वारा यह भी स्पष्ट हुआ कि समानता, समान सामाजिक तथा भौगोलिक परिस्थितियो वाले क्षेत्रो मे ही नही मिलती अपितु इन दृष्टियो से असम्बद्ध क्षेत्रो मे भी पाई जाती है लेकिन जिनके बीच आवागमन की सुविधाएँ विद्यमान हैं।

लोकतात्त्विक शोध में समानान्तरवाद और प्रसारवाद :

उपर्युक्त सभी शोध प्रकारो मे समानान्तरवाद और प्रसारवाद का आधार बनाकर शोध कार्य किया जा सकता है।

सिद्धान्त :

प्रसारवाद या समानान्तरवादी दृष्टि से लोकसाहित्य के अध्ययन क्षेत्र की निम्नलिखित सैद्धान्तिकी बनाई जा सकती है—

(क) विषय (थीम)
(ख) शिल्प-विधान (टेकनीक्स)
(ग) अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन),
(घ) छन्द सागीतिक (मीटर ऐंड म्यूजिकैलिटी),
(ङ) मचन और अभिनेयता (स्टेज ऐंड ऐक्टिंग)।

ऊपर निरूपित अध्ययन-क्षेत्रो मे विषय, शिल्पविधान और अभिव्यजना के आधार पर लोककथा और लोकगाथा का विषय, शिल्पविधान, अभिव्यजना और छन्द सागीतिकता के आधार पर लोकगीतो का तथा विषय, शिल्पविधान, अभिव्यंजना छन्द सागीतिकता और मंचन तथा अभिनेयता के आधार पर लोकनाट्य का अध्ययन किया जा सकता है।

1. दिनेश्वर प्रसाद, लोकसाहित्य और सस्कृति (इलाहाबाद . लोकभारती प्रकाशन, 1973), पृष्ठ 66

प्रसारवादी या समानान्तरवादी किसी भी दृष्टि से पाँचों सिद्धान्तो को आधार वनाकर लोकसाहित्य का अध्ययन सम्भव है। इन दृष्टियों से लोकसाहित्य के लिए विषय (थीम) का अध्ययन करते समय हमे प्रकार्य और अभिप्राय पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखनी होगी। प्राय ये तीनों तत्त्व ही लोकसाहित्य के परम्परागत रूप, नैतिक रूप और भ्रमणकारी रूप में परिलक्षित होते हैं। इन तीनों मे से किसी एक को जैसे प्रकार्य को केन्द्र मे रखकर लोकसाहित्य मे मिलने वाली समानताओ को उद्‌घाटित किया जा सकता है। वहाँ प्रकार्य के सिद्धान्त को इस प्रकार निरूपित किया जा सकता है—

रूसी रूपवादी आलोचना के प्रसिद्ध विद्वान् व्लादिमिर प्राप ने लोककथाओं की संरचना का केन्द्र विन्दु प्रकार्य को मानते हुए अनुपस्थिति, निषेध, नियमभंग, सर्वेक्षण, सुपुर्दगी, धोखा, सहापराधिता, दुष्टता, अभाव, मध्यस्थता, प्रतिव्यापार का आरम्भ, प्रस्थान, दाता का प्रथम कार्य, नायक की प्रतिक्रिया, व्यवस्था, विशेष स्थानान्तरण, सघर्ष, चिह्न, विजय, अभाव की परिसमाप्ति, वापसी, अनुकरण, बचाना, अमान्य, आगमन, अभाव, कठिन कार्य, कार्यसमाप्ति, मान्यता, रहस्योद्‌घाटन, रूपान्तरण, दण्ड और विवाह इन इकत्तीस प्रकार्यों की कल्पना की है।[1] उन्होने प्रकार्य के पात्रों के विभिन्न वाह्यों रूपों (यथा खलनायक के रूप में जादूगर, दैत्य, चुड़ैल आदि) की क्रिया के उस जातीय रूप मे देखा, जिसकी प्रकृति अपरिवर्तनीय होती है।[2] प्रत्येक लोककथा या लोकगाथा मे उनके द्वारा कल्पित कुछ प्रकार्य अवश्य विद्यमान रहते है। इनमें से मिलने-जुलने वाले प्रकार्यो को केन्द्र मे रखकर इस प्रकार का शोधकार्य किया जा सकता है। उदाहरणार्थ विभिन्न लोककथाओ मे 'सहायता प्रकार्य' को लिया जा सकता है। यह प्रकार्य विभिन्न लोककथाओ मे विभिन्न रूपो मे उपलब्ध होता है। जैसे किसी कथा में नायक को (१) साधु ने मन्त्रवल से राक्षस के चंगुल से छुड़ाया; (२) किसी में चूहे ने जाल को काटकर कैद से निकाला और (३) किसी मे चिड़िया ने जासूसी कर निकल भागने का रास्ता वताया।

उपर्युक्त तीनो क्रियाओ का प्रकार्य सहायता ही है, पर यह सहायता विभिन्न रूपो में की जा रही है। तीनों मे उद्देश्य एक है पर उद्देश्य-पूर्ति के साधन भिन्न-भिन्न हैं। जैसे—साधु मन्त्रवल के द्वारा, चूहा जाल को काटकर तथा चिड़िया जासूसी करके—तीनो ही सहायक की भूमिका निभाते है। इसी प्रकार कई प्रकार्यो को लेकर लोकसाहित्य की समानताओं को उद्‌घाटित किया जा सकता है। प्रकर्त्ता और अभिप्राय को केन्द्र मे रखकर भी इसी प्रकार समानान्तरवादी या प्रसारवादी दृष्टि से लोकसाहित्य का अध्ययन किया जा सकता है।

---

1. Thomas G. Poveh, 'Some Remarks On Narrative Grammar; Linguistic Perspectives on Literature, Editor K L. Ching, M.C. Halay, R. F. Lunsford (London : Routledge and Kegen Paul, 1980), P. 201
2. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, सरचनात्मक शैलीविज्ञान (दिल्ली आलेख प्रकाशन, 1979), पृष्ठ 70

विषय-शीर्षक :

लोकतात्त्विक शोध में प्रसारवादी और सामानान्तरवादी अवधारणा को आधार बनाकर निम्नलिखित विषय-शीर्षको पर शोधकार्य किया जा सकता है—

1. लोकतात्त्विक शोध मे समानान्तरवाद : सिद्धान्त विवेचन ।
2. लोकतात्त्विक शोध मे प्रसारवाद · सिद्धान्त निरूपण ।
3. भोजपुरी और अवधी लोकगाथाएँ : समानान्तरवादी अध्ययन ।
4. पंचतन्त्र और विश्व की प्रसिद्ध लोककथाएँ : प्रसारवादी अध्ययन ।
5. लोकनाट्यो मे अभिप्राय : समानान्तरवादी सैद्धान्तिक अध्ययन ।
6. लोकगाथाओ मे अभिप्राय · समानान्तरवादी सैद्धान्तिक अध्ययन ।
7. लोकगीतो मे अभिप्राय : समानान्तरवादी अध्ययन ।
8. लोककथाओ मे प्रकार्य और प्रकर्त्ता : प्रसारवादी सैद्धान्तिक अध्ययन ।
9. लोकनाट्यो मे प्रकार्य और प्रकर्त्ता प्रसारवादी सद्धान्तिक अध्ययन ।
10. उत्तर प्रदेश की लोककथाओ मे संघर्ष प्रकार्य : समानान्तरवादी अध्ययन ।
11. अवधी और मैथिली लोककथाओ मे 'सहायक' प्रकर्त्ता : समानान्तरवादी अध्ययन ।
12. ब्रज और अवधी की लोकगाथाओ मे 'बालक अभिप्राय' : समानान्तरवादी अध्ययन ।
13. पजाबी और खड़ी बोली के लोकगीतो मे 'सौतेली माँ' अभिप्राय . समानान्तरवादी अध्ययन ।
14. भारत के विविध क्षेत्रो का लोक-प्रहेलिका साहित्य : समानान्तरवादी अध्ययन ।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोकतात्त्विक शोध के सभी प्रकारो में समानान्तरवादी और प्रसारवादी अवधारणा का उपयोग सम्भव है । सभी प्रकारो में इन दृष्टियो को आधार बनाकर शोधकार्य किया जा सकता है । यह उपयोग सर्वांगीण रूप मे भी हो सकता है और आनुषांगिक रूप मे भी ।

—हिन्दी विभाग
गुरुनानकदेव विश्वविद्यालय
अमृतसर

□

लोक-साहित्य की भाषा

—कैलाश चन्द्र भाटिया

'लोकसाहित्य' का 'लोक की भाषा' से सीधा सम्बन्ध है। यह केवल सयोग ही नही समझना चाहिए कि जर्मन भाषाओ का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत करने वाले ग्रिम बन्धु (जैंकव ग्रिम-1785-1863 तथा विल्हेम ग्रिम—1786-1859) लोकसाहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् ही नही, इस क्षेत्र में सक्रिय रूप से कार्य करने वाले प्रथम सग्रहकर्त्ता थे। आपने बड़े परिश्रम से प्राचीन काल की कहानियो का सग्रह किया था। यह पहले व्यक्ति थे जो लोकसाहित्य-मर्मज्ञ होने के साथ-साथ भाषाविद् भी थे।

आज के युग मे वोली जाने वाली भापा का अध्ययन ही प्रामणिक माना जाता है, इस दृष्टि से 'वोली' के सर्वाधिक निकट यदि कोई साहित्य है तो वह लोकसाहित्य है। 'वोली' उस किसी निश्चित क्षेत्र की भापा को कह सकते हैं जिसके वोलने वालो के उच्चारण में, स्वरलहरी में, रूप रचना एव वाक्य रचना में वहुत कुछ साम्य हो। वोली का यह भेद कभी-कभी क्षेत्रीय भेद से हटकर जातिगत या वर्गगत होता है, उदाहरणार्थ मथुरा की वोली का अध्ययन करते समय यह स्पप्ट दृष्टिगत होता है कि 'चौवो की वोली' व्रजभापा होते हुए भी सामान्यतः कही जाने वाली व्रजभाषा से भिन्न है। इसी प्रकार चर्मकारो की वोली भिन्न है। लोकसाहित्य के माध्यम से हम दोनो प्रकार के वोलीगत भेदों का पता लगा सकते है। किसी क्षेत्र विशेष के लोकसाहित्य के आधार पर क्षेत्रीय बोली का स्वरूप स्पष्टतः उभर कर आयेगा और जातिगत लोकगीतो तथा कहानियो के आधार पर उस जाति से सवंधित वोली का स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा। इस प्रकार वोली के दोनो स्वरूपों के सर्वाधिक निकट यदि कोई साहित्य है तो वह लोकसाहित्य है। लिखित रूप में जो शिप्ट साहित्य प्राप्त होता है उसका व्यावहारिक रूप कहीं नही मिलता अतएव वह उसी प्रकार वास्तविक भापा की प्रतिकृति मात्र है, जैसे ताजमहल का चित्र। क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं को हम इस प्रकार का शिक्षण दे सकते हैं कि वह एक साथ क्षेत्र विशेष की वोली और उसकी विशेषताओं का अध्ययन करते चलें। आज देखा जा रहा है कि विभिन्न देशो मे 'नृविज्ञान' और 'भाषाशास्त्र' समीप होते जा रहे हैं। लोक-साहित्य वड़ी गहराई में उस क्षेत्र की वोली से सम्वद्ध होता है। लोकसाहित्य मे उस क्षेत्र की वोली का सीधा प्रतिनिधित्व होता है। लोकसाहित्य में लोकजीवन प्रतिबिम्वित होता है। इस प्रकार लोकजीवन की समष्टि रूप में उस साहित्य में अभिव्यक्ति

मिलती है। यह निश्चित है कि न तो कोई एक व्यक्ति ऐसे साहित्य का निर्माण कर सकता है और न कोई बड़ी जनजाति ही उस साहित्य (गीत, कथाओ आदि) का निर्माण कर सकती है। फिर भी वह साहित्य उस समस्त जनजीवन का प्रतिनिधित्व करता है और प्रत्येक व्यक्ति (स्त्री तथा पुरुष) उन गीतो मे सक्रिय योगदान करता है अथवा कर सकता है। यही कारण है प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि यह गीत मेरा है, जबकि किसी साहित्यिक कृति को भूलकर भी कृतिकार से भिन्न कोई अपना नही बता सकता। जो बात लोकसाहित्य के साथ है बहुत कुछ वही बात लोकभाषा के साथ भी खरी उतरती है। भाषा के दो छोर हैं। एक भाषा का स्वरूप जो प्रत्येक व्यक्ति का अपना निराला होता है और दूसरा वह जो समस्त समाज द्वारा व्यवहृत होता है। इसी आधार पर सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री ब्लूमफील्ड ने स्पष्ट किया "भाषिक समुदाय के भीतर विद्यमान अन्तरो के सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि एक भाषिक समुदाय के सदस्य इतनी मात्रा मे एक सा बोल सकते है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की बोली समझ लेता है और इतनी मात्रा में भिन्न भी बोल सकते हैं कि कुछ दूर के ही व्यक्ति एक दूसरे व्यक्ति को नही समझ पाते है। ...... वास्तव में इन दोनों स्थितियो के बीच कोई विभाजक रेखा नही खीच सकते हैं क्योकि संबोधि और असंबोधि के बीच के सभी क्रमवध मिलते हैं।"[1]

सामान्यतः 'बोली' जिसमे लोकसाहित्य लिखा जाता है, वाणी और भाषा के मध्य आती है। वाणी, जो एक व्यक्ति की बोली होती है, व्यक्ति-बोली कही जा सकती है जबकि भाषा समाज द्वारा प्रयुक्त होती है। व्यक्तियो के प्रयोग से ही भाषा का निर्माण होता है। कुछ प्रयोग 'भाषा' मे मान्य और स्वीकृत होते चलते है और कुछ नही। 'बोली' जिसमे लोकसाहित्य लिखा जाता है इन दोनों सीमाओ के मध्य स्थित है जिसमे मान्य एव स्वीकृत रूप भी चलते रहते हैं और अमान्य तथा अनगढ़ प्रयोग भी। 'बोली' न तो नितान्त व्यक्तिगत रुचियो पर निर्भर है और न परिनिष्ठित भाषा की भाँति नियमित एव जटिल। वस्तुत वह उन्मुक्त है जिसमे नवीन प्रयोगो की गुंजाइश है। वह नियमो मे जकडी नही है, साथ ही व्यक्ति की इच्छानुसार नवीन प्रयोगों को मान्यता देती रहती है। यही कारण है कि लोकसाहित्य जीवन्त साहित्य है, जिसमें बोली के सभी प्रकार के रूप मान्य एव स्वीकृत है, गालियो तथा भद्दे शब्दो तक के प्रयोग मिलते हैं और जब वही प्रयोग शिष्टसाहित्य मे आ जाते है तो ग्राम्यत्व दोष माना जाता है। ऐसे प्रयोगो से लोकसाहित्य मे जहाँ स्वाभाविकता आती है वहाँ शिष्टसाहित्य मे अस्वाभाविकता।

व्यक्ति और समाज के बीच जो छोटे-छोटे समूह होते है वस्तुतः वे ही लोकसाहित्य की रचना करते हैं। इन समूहो की बोली तथा साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

काव्य और लोककाव्य की भाषा मे तात्त्विक भेद है। शिष्टसाहित्य के काव्य की भाषा प्रचलित, बोलचाल की भाषा नही होती। उसमे भाषा का सर्जनात्मक

1. भाषा पृष्ठ 57

शक्ति का सहारा प्रतिपल प्रतिक्षण लिया जाता है जिसके सहारे कवि अपने वैयक्तिक संस्कार तथा अध्ययन के वल पर प्रतिभा का चमत्कार दिखाता है और इस चमत्कार एवं वैशिष्ट्य के माध्यम से लोक पर अपनी धाक जमाये रखना चाहता है, दूसरी ओर लोकसाहित्य की भापा मे, व्यवहार मे काम आने वाली जीवन्त भाषा होती है, इस दृष्टि से जीवन की भापा और साहित्य की भापा मे अन्तर न्यूनतम होता है। वह सामान्यतः जटिलता से दूर होती है। उसमे चमत्कार, वैचित्र्य तथा वक्रोक्ति का उतना ही स्थान है जितना सहज एव ग्राह्य हो। प्रसन्नता का विपय है कि इवर जो नया साहित्य–नयी कविता, नई कहानियाँ, नये उपन्यास आ रहे हैं उनमें भाषा का यह अन्तर काफी दूर तक मिटता जा रहा है। सामान्य वातचीत की भाषा में ही साहित्य का सर्जन होता है। भापा का अलकृत होना अनिवार्य नही। सभवत. इसी आधार पर दसवीं शताव्दी मे मम्मट ने काव्य प्रकाश में अनलंकृत भाषा की ओर जोर देते हुए लिखा था—

तददोषौ शव्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।

इससे स्पष्टत· यह प्रतीत होता है कि मम्मट से पूर्व अलंकृत भाषा की ओर झुकाव अत्यधिक वढ गया होगा।

इस प्रकार के 'अनलंकृत भाषा' के प्रयोग लोकसहित्य में भरे पडे हैं, इसका तात्पर्य यह नही कि अनुभूति उसमे नही है। लोकसाहित्य का प्रत्येक शव्द व्यक्ति की तरह जीता है और जीवन से ही शव्द-ग्रहण करता है। अनलंकृत भाषा का एक उदाहरण गढ़वाली लोकगीत से द्रष्टव्य है :

गंगा माई त्वैन उत्पैलिनै हिमाले का गोद
(गंगा माई तूने हिमालय की गोद में जन्म लिया है।)

इस प्रयोग में सीधे-सादे शव्द हैं और कितनी गंभीर व्यंजना निहित है। शव्द सरल हो, इसका तात्पर्य यह नही कि काव्य निम्न कोटि का है, अर्थ का वैशिष्ट्य अनुभूति से ही ग्राह्य है क्योकि लोकसाहित्य जीवन से रस लेता है दूसरी ओर काफी मात्रा मे शिष्टसाहित्य ड्राइगरूम लिट्रेचर ही माना जा सकता है।

लोकसाहित्य के माध्यम से उस लोक (भापा का विशिष्ट क्षेत्र) मे प्रचलित विशिष्ट शव्दावली का संकलन सहज रूप में किया जा सकता है। इधर कुछ क्षेत्रों की विशिष्ट शव्दावली इकट्ठी की गई है, पर उनका संकलन व्यवसायों मे लगे हुए व्यक्तियों से मौखिक रूप मे किया गया है, लोकसाहित्य से कम। इस प्रकार सकलित शव्दावली का परीक्षण किया जा सकता है कि उसका कितना अंश शिष्टो द्वारा प्रयुक्त भाषा मे परिनिष्ठित रूप मे ग्रहण संभव है। इस प्रकार की शव्दावली ही बोली कोशों के निर्माण में सहायक होगी और समस्त बोलियो से फिर उपयुक्त, विषयानुसार शव्दावली का चयन किया जा सकता है। अभी तक इस प्रकार के कोशों का निर्माण नही हुआ है। बोलियों के कोशों के नाम पर अभी केवल 'भोजपुरी कोश'

(डॉ०वाहरी) 'अवधी कोश' हमारे समक्ष है। 'अवधी कोश' के सम्पादक हैं श्री रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर'।

इस समय इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि प्रत्येक क्षेत्र के गीत एव साहित्य को इकट्ठा कर उस क्षेत्र ी बोली का कोश तैयार किया जाय। जब इस प्रकार तैयार किये गए खड़ी, ब्रज, बुंदेली, अवधी, भोजपुरी आदि के कोश आयेंगे तब हिन्दी भाषा की भी अभूतपूर्व क्षमता का पता चलेगा क्योंकि अब तक शिष्टसाहित्य पर आधारित कोशों का ही निर्माण हुआ है।

अनेक प्राप्त रूपो के आधार पर 'बोली-एटलस' का निर्माण सम्भव है। इस प्रकार का आदर्श कार्य अभी तक 'बुंदेली' तथा 'बघेली' मे हुआ है। श्रीमती लता दुबे ने इस प्रकार की एटलस का निर्माण किया है। अब मध्यप्रदेश सरकार के भाषा विभाग के तत्त्वावधान मे श्रीमती दुबे 'बुंदेली कोश' के निर्माण मे सक्रिय हैं। रायपुर विश्वविद्यालय ने 'छत्तीसगढ़ी कोश' का निर्माण पूरा कर लिया है।

इन विशिष्ट प्रयोगों मे लिए लोक मे जाना ही पड़ेगा और लोकसाहित्य की सामग्री ही एक मात्र साधन तथा माध्यम है। कुछ बोलियों मे लोकसाहित्य तथा शिष्टसाहित्य दोनो मिलते है पर प्रामाणिक रूप से बोली का अध्ययन करने के लिए लोकसाहित्य को अधिक मान्यता देनी होगी, हाँ शिष्टसाहित्य से परीक्षण किया जा सकता है। पर बहुत सी बोलियाँ तो ऐसी हैं जिनमे केवल लोकसाहित्य ही मिलता है, वही उस बोली का खजाना है। ऐसी स्थिति में सिवाय उस साहित्य के आश्रय के कोई दूसरा चारा नहीं है। उदाहरणार्थ मेवाती मे उच्चकोटि का लोकसाहित्य मिलता है। शिष्टसाहित्य लिखने की तो अभी परम्परा बन पा रही है। इस बोली में 'महाभारत', शशिवदनी, खिरसा, सेउ सम्पन की लोककथा, घुड़चढी मेव खा' आदि कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। हरियाणा तो आज पृथक् राज्य बन गया है। शिष्टसाहित्य की दृष्टि से साहित्य बहुत कम है, पर लोकसाहित्य हरियाणा की विभिन्न बोलियों-उप बोलियो मे पर्याप्त मिलता है।

शब्दों के अतिरिक्त धातुओ की दृष्टि से तो लोकसाहित्य खान है। परिनिष्ठित हिन्दी में धातुओं का पर्याप्त अभाव है जिसके फलस्वरूप संयुक्त क्रियाओं का जटिल जाल ही नही बजाल बढता जा रहा है। जिन लोगो ने इस हिन्दी की सयुक्त क्रियाओं पर कार्य किया है वे इसकी जटिलता से सुपरिचित हैं। डॉ० यमुना काचरु, डॉ० कालीचरण बहल, डॉ० दुआ, डॉ० एस० के० वर्मा आदि विद्वानो ने अधुनातम टेकनीक से हिन्दी की सयुक्त क्रियाओ पर विवेचन प्रस्तुत किया है फिर भी समस्या की जटिलता सुलझी नहीं है। भारतीय विश्वविद्यालयो मे किये गये शोध कार्य अलग हैं। हिन्दी में सयुक्त क्रियाओं की यह जटिलता हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार मे भी बाधक सिद्ध हो सकती है। धातुओ की दृष्टि से लोकसाहित्य की लोक बोलियो की सम्पत्ति का क्या कहना ? लोक बोलियाँ तो इस सम्पत्ति का स्टार हाउस है। अभी इस ओर व्यापक रूप से कार्य होना शेष है।

इस संबंध मे लोकसाहित्य के मर्मज्ञ श्री राम नरेश त्रिपाठी का कथन शत-प्रतिशत सत्य है, 'आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता गॉव वाले है और उनका साहित्य इस भाषा को गढ़ने के लिए टकसाल का काम दे रहा है। संस्कृत के शब्द किस प्रकार जनसाधारण के लिए उपयोग सुलभ हुए है यह सब इस टकसाल का ही परिणाम है।'

शब्दो के विकास की परम्परा का इतिहास लिखने के लिए लोकसाहित्य परम उपयोगी है। इस दृष्टि से लोकसाहित्य भाषाशास्त्री के लिए अमूल्य निधि है, अक्षय भंडार प्रस्तुत करता है।

बोलियों पर अनार्य प्रभाव भी पड़े हैं। इस प्रकार के अनार्य प्रभाव देखने के लिए भी लोकसाहित्य का सहारा लेना पड़ता है। लोकसाहित्य से ही ज्ञात होता है कि खस, किरात, नाग, यक्ष आदि अनेक जातियों के कारण अनेक आस्ट्रिक परिवार के शब्द आज भारतीय भाषाओ-बोलियो मे विद्यमान है।

गढ़वाली भापा मे लाँग, लुगड़ो, चड़े, वोई, मेरू, जीमण आदि अनेक शब्द अनार्य परिवार के है। बडे भाई के लिए दा दिदा, दादू पर किरात प्रभाव स्पष्ट है। कड़ो, काँजी, मोन्नो, कुटलो, खण्रपाल आदि शब्दो से द्रविड़ प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

अनार्य प्रभाव ही नही विदेशी प्रभाव भी लोकसाहित्य मे स्पष्ट परिलक्षित होता हैं। वहुप्रचलित शब्दो को लेकर पूरा-पूरा इतिहास लिखा जा सकता है। शिष्ट-साहित्य में वह व्यंजना कहाँ है जो लोकगीतो के माध्यम से इन विदेशी शब्दो में प्राप्त होती है, उदाहरणार्थ एक शब्द लिया जा सकता है 'फिरंगी'।

भारत के पश्चिमी तट पर आकर वसने वाली यूरोपियन जातियो मे सर्वप्रथम पुर्तगाली थे। पश्चिमी तट पर बसने वाली इस विदेशी जाति के व्यक्तियो के लिए ही 'फिरगी' शब्द व्यवहृत होता है। इस शब्द का सवध फ्रेंक' से है। यह पुर्तगाली शब्द दक्षिण से प्रभावित होकर उत्तर की ओर आया। पुराने सभी कोशो मे यह शब्द सुरक्षित है। यही फिरंगी शब्द लोकसाहित्य मे प्रचारित तथा प्रसारित हुआ। सामान्यत. 'फिरगी' यूरोप की विदेशी-गोरी जाति का परिचायक बन गया। फिरंगी के अत्याचारो से लोक पीडित था और उनके विरोध में सत्याग्रह भी किया जाता था। उनके द्वारा किए गए अत्याचारो के विरोध मे भारतीयो मे घृणा का भाव जागरित होना स्वाभाविक है। विदेशियो द्वारा किए गए सुधार भी प्रारम्भ मे बुरी दृष्टि से ही देखे गए। नल ही जिस व्यवस्था के लिए आज प्रत्येक, नगर एवं गाँव लालायित है उसका प्रारम्भ मे पर्याप्त विरोध था। यह भावना निम्नलिखित लोक-गीत से व्यक्त होती है। यह गीत वहुधा किसी जल के स्थान (यमुना-पूजन) की ओर जाते समय मार्ग मे गाया जाता है—

फिरगी नल मत लगवावे।
नल को पानी भौत वुरो मेरी तवियत घबरावै।
भरा कटोरो दूध को कोई वुरे विन पिया न जाय।

माई-बाप की लाडली कोई पिया विन रहा न जाय ।

लोकमानस मे यह शब्द इतना अधिक व्याप्त हो गया कि न तो अव शब्द ही विदेशी प्रतीत होता है और न जिनके लिए प्रयुक्त किया गया है वे ही विदेशी प्रतीत होते हैं। व्रज मे प्रचलित यह गीत प्रकारान्तर से दूसरे अचलो मे भी मिलता है।

अनुभूत ज्ञान की निधि-लोकोक्तियों पर पर्याप्त सामग्री लोकसाहित्य में मिलती है। वस्तुत. लोकोक्तियो/कहावतो तथा मुहावरो का अध्ययन वह सीमा-विन्दु है जहाँ लोकसाहित्य तथा भाषाशास्त्र मिल जाते है। इस दिशा मे कई कार्य हो चुके है जिनमें डॉ० कन्हैयालाल सहल का 'राजस्थानी कहावते. एक अध्ययन' विशेष उल्लेखनीय है। इधर बुंदेली, भोजपुरी, हाड़ौती, शेखावटी की कहावतो का सकलन किया जा चुका है। व्रज की कहावतो की एक सूची डॉ० सत्येन्द्र ने पोद्दार अभिनदन ग्रथ मे प्रस्तुत की है।

लोकसाहित्य के माध्यम से ग्राम-सर्वेक्षण की योजना भी बनाई जा सकती है। भारत की आत्मा भारत के गाँवों मे है यह सत्य तथा तथ्य है। अत. गाँवों के सर्वेक्षण की ओर सर्वाधिक योजनावद्ध ध्यान दिया जाना चाहिए। इससे गाँवों की वर्तमान अवस्था का ज्ञान सहज ही प्राप्त हो सकता है और फिर सर्वेक्षण-निदेशक के सुझावो के अनुसार प्रत्येक गाँव का विकास योजनावद्ध रूप से किया जा सकता है। यह योजना एक गाँव से दूसरे गाँव से भिन्न हो सकती है। इधर जो सरकार द्वारा सर्वेक्षण कराये गये हैं वे राजनीति से प्रेरित है। साहित्य के आधार पर किये गये सर्वेक्षण नितान्त उपयोगी सिद्ध होगे।

प्राय यह समझा जाता है कि लोक भाषा की शब्दावली ग्राम्य तथा असुन्दर होती है अतएव त्याज्य है। काव्यशास्त्र के अनुसार तो ग्राम्यत्व दोष भी समझा जाता है। पर इधर नई कविता मे लोक शब्दावली तथा लोक मुहावरो को समुचित स्थान दिया गया है। काव्य भाषा की लोक भाषा से निकटता आवश्यक है इसके विपरीत जब काव्यभाषा लोक से परे अथवा कृत्रिम होने लगती है तो नये कवि पुन बोलचाल की भाषा के निकट पहुँचने का प्रयास करते हैं। यह स्वीकार किया गया है 'भावनाओ की सटीक अभिव्यक्ति दैनिक जीवन की भाषा मे ही सम्भव है।'

मॉस-पेशियो मे कितना है श्रमवल
विना छुए या 'टोये' जैसे चूजे को गाहक 'टोता' है।

लोकभाषा की ओर वढ़ने के इस प्रयास मे प्रारम्भिक कविताओं की भाषा का रूप कुछ अटपटा तथा उखडा रहा, पर धीरे-धीरे उसमे गठन तथा सुगढता आ गई। 'लोकजीवन' के प्रति ललक ही 'मिट्टी' के महत्त्व को प्रतिपादित करती है जिसके फलस्वरूप ठेठ ग्रामीण शब्दावली तथा ठेठ ग्रामीण बिम्ब भी कविता मे प्रवेश करने लगे।

'लोक-निरुक्ति' भी वह क्षेत्र है जो एक ओर लोकजीवन को स्पर्श करता है दूसरी ओर भाषाशास्त्र को। लेखक ने इस दिशा मे सर्वप्रथम विस्तृत अध्ययन कि यक

था। केवल विद्वान व्यक्ति ही निरुक्ति कर सकते हैं यह मान लेना भ्रम है। अमुक शब्द कैसे बना और उसका मूल स्रोत क्या है यह तो विश्वव्याप्त भावना है। कुछ लोग ज्ञात रूप मे और कुछ लोग अज्ञात रूप से इसमे व्यस्त रहते हैं जिसके फल-स्वरूप कुछ शब्दो को नवीन रूप प्रदान करते रहते हैं बिना सम्यक् रूप से विचार किये हम प्रत्येक नवीन शब्द का संबंध किसी न किसी पुराने शब्द से जोड़ते रहते हैं इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी व्युत्पति के आधार पर शब्दों का स्रोत खोजता है। लोक मे यह प्रक्रिया चलती रहती है और लोकसाहित्य के माध्यम से लोक इसको प्रकट करता रहता है। इस अध्ययन को दिशाओं में किया जा सकता है—लोक की शब्द-निर्माण की प्रवृत्ति और लोक शब्दों की व्युत्पति तथा शब्दो की पृष्ठभूमि।

स्थान—नामों तथा स्त्री-पुरुषो के नामों का अध्ययन प्रस्तुत करते समय लोकसाहित्य से विशेष सहायता मिलती है। अभी तो अभिधान साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ हुआ है। स्थान-विशेषो के नामों का अध्ययन लोकसाहित्य तथा भाषाशास्त्र दोनो की परिधि मे आता है।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि लोकसाहित्य में भाषापरक अध्ययन की व्यापक संभावनाएँ निहित है। अभी तो लोक-बोलियों का अध्ययन भी पूरा नही हुआ है। जितना अधिक निकट ये शास्त्र आयेंगे उतना ही अधिक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकेगा। लोक से प्राप्त अक्षय निधि को शिष्टसाहित्य भी भविष्य मे अपना सकता है। लोकसाहित्य की भाषा के आधार पर बोलियो का अध्ययन, बोलियों का क्षेत्र, उनके विभिन्न रूपो के आधार पर बोलीगत मानचित्रावलियाँ(एटलस), बोलियों की विशिष्ट शब्दावली, बोली कोश का निर्माण, लोकोक्तियों का संग्रह, लोक-निरुक्ति के आधार पर निरुक्त शास्त्र तैयार किया जा सकता है।

—प्रोफेसर, हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाएँ
लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी
मसूरी—248179



लोकसाहित्य और भाषाविज्ञान

तिलक सिंह

लोकसाहित्य और भापा विज्ञान कथ्य तथा संरचना की दृष्टि से एक दूसरे से गहरा सवंध रखते है। लोकसाहित्य का 'लोक' और भाषाविज्ञान का 'भापा' शब्द संरचना तथा अध्ययन-प्रक्रिया के स्तर पर समान महत्त्व रखते है। लोकसाहित्य परिनिष्ठित साहित्य से स्तर भेद रखता है। लोकसाहित्य ग्रामीण क्षेत्रो तथा नगरीय जनपदों में निवास करने वाले अशिक्षित तथा अर्द्धशिक्षित लोगो की सहज अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति है। लोक भाषा में लोक संस्कृति की अभिव्यक्ति लोकसाहित्य कहलाती है। इसमे लोकविश्वास, लोकाचार, लोकमार्ग तथा लोक कलाएँ सभी अन्तर्मुक्त है। यह मौखिक परम्परा में प्रवाहित रहता है। भापा भी मौखिक परम्परा में जीवित रहती है। भाषाविज्ञान मे भापा का अर्थ व्यक्त वाणी (व्यक्तायांवाचि) है। लोक जीवन मे अपढ तथा अनपढ़ लोगो द्वारा प्रयुक्त वाक् भाषा कहलाती है। गाँव का वह व्यक्ति जो न तो पढ़ना जानता है और न लिखना, जो मौखिक रूप मे वोलता है वही भाषा कहलाती है। भापाविज्ञान में भाषा के इसी उच्चरित रूप का वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया जाता है। अत: लोकसाहित्य तथा भाषाविज्ञान स्वरूप तथा अध्ययन प्रक्रिया की दृष्टि से समान हैं।

साहित्य के तत्त्वों के विश्लेषण तथा विवेचन से लोकसाहित्य तथा भापाविज्ञान के संबन्धों को स्पष्ट किया जा सकता है। लोकसाहित्य के निम्नलिखित तत्त्व हैं—
१. कथा तत्त्व २. भाव तत्त्व ३. विचार तत्त्व ४ शैली तत्त्व ५. भाषा तत्त्व।

उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि कि भाषा तत्त्व लोकसाहित्य का एक अग है। भाषा के वैज्ञानिक विवेचन का अर्थ होगा लोकसाहित्य के एक अग का मूल्यांकन। इस प्रकार भापाविज्ञान के अध्ययन की परिधि मे लोकसाहित्य का सम्पूर्ण कलेवर समाहित नही होगा। यह दोनो के अन्तर को समझने का एक आधार है। यह आधार एकागी है, सर्वग्राह्य नही। वस्तुत· भापा लोकसाहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है। विना भाषा के साहित्य का अस्तित्व ही सभव नही है। विकास-प्रक्रिया मे भाषा पहले आती है, साहित्य वाद मे। भापा का पहले जन्म हुआ, साहित्य का वाद मे। साहित्य, भापा व्यवस्था की व्यवस्थाओ की परिणति है। वाक्य रचना मे पदक्रम की विभिन्न स्थितियाँ साहित्य-रूप को जन्म देती है। यथा 'विखरी अलकें ज्यो तर्क जाल' वाक्य रचना मे पदक्रम क्रिया+कर्त्ता+कर्म रूप मे निवधित होकर

काव्य रचना कर रहा है। इस प्रकार पदक्रम का विस्थापन साहित्य रचना करती है। फिर भी भाषा और लोकसाहित्य पर्याय नही हैं। साहित्य के तत्त्वों की दृष्टि से भाषा लोकसाहित्य का अग है और माध्यम की दृष्टि से साहित्य भाषा पर आधारित है। दोनो मे भेद स्पष्ट है।

लोकसाहित्य के अध्ययन से साहित्य के तत्त्वों की प्रकृति तथा प्रकार्यता का ही मूल्यांकन संभव नही है अपितु अन्तर्विधायी विषयो का स्वरूप-परिज्ञान भी संभव है। लोकसाहित्य के अन्तर्विधायी मूल्याकन से समाज, संस्कृति, धर्म, दर्शन, राजनीति तथा मनोविज्ञान आदि अनेक साहित्येतर विषयो की प्रकृति तथा सरचना का परिज्ञान सम्भव है। भाषा वैज्ञानिक अध्ययन से भाषा की प्रकृति, प्रकार्यता परिवर्तन तथा संरचना का ही पता नही चलता है अपितु भाषेतर विषयो (समाज, राजनीति तथा मनोविज्ञान आदि) की प्रकृति, प्रकार्यता तथा संरचना का भी ज्ञान होता है। अन्तर्विधायी दृष्टि से भाषाविज्ञान के निम्नलिखित अध्ययन क्षेत्र हो सकते हैं:— (१) समाज भाषाविज्ञान (२) मनोभाषाविज्ञान (३) राजनीति भाषाविज्ञान आदि। इस प्रकार अध्ययन-क्षेत्र की दृष्टि से लोक साहित्य तथा भाषाविज्ञान पर्याप्त साम्य रखते हैं।

लोकसाहित्य तथा भाषाविज्ञान के अध्ययन की प्रक्रिया मे भी पर्याप्त साम्य है। लोकसाहित्य का सग्रह लोगों की अशिक्षा, अन्धविश्वास, कुरीतियों तथा कुप्रथाओ के कारण दुस्साध्य है लोगो के कठो में पर्याप्त वहुमूल्य लोकगीत, लोकगाथा तथा लोक कथाएँ विद्यमान हैं परन्तु उनकी रूढ़वादिता तथा अज्ञानता के कारण इसका सग्रह अत्यधिक दुष्कर है। भाषाविद ही आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकों द्वारा लोकसाहित्य का संग्रह कर सकता है। प्रश्नावली, सर्वेक्षण तथा साक्षात्कार द्वारा एक कुशल, सुयोग्य तथा मधुरभाषी भाषाविद ही संग्रह, सम्पादन तथा प्रकाशन करा सकता है। सूचको का चयन, क्षेत्रीय भाषाओ का ज्ञान, लोकमनोविज्ञान का परिज्ञान तथा काइमोग्राफ, ऑसिलोग्राफ, स्पेक्टोग्राफ, पेलोटोग्राफ, ध्वन्यंकनयन्त्र आदि के संचालन की विधि की जानकारी लोकसाहित्य तथा भाषा के संकलन, विश्लेषण, विवेचन मे सहायक होते हैं। अत. लोकसाहित्य तथा लोक भाषा के पूर्ण तथा प्रामाणिक अध्ययन के लिए भाषा विज्ञान के अध्ययन की पद्धतियो का ज्ञान होना अनिवार्य है। धार्मिक केन्द्रो, पुरातत्त्व विभागों, राजप्रासादो तथा ग्रामीण अंचलो मे प्रचुर मात्रा मे हस्तलिखित तथा मौखिक रूप मे लोकसाहित्य छिपा पड़ा है। भाषा विज्ञानियो को केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग आदि से पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त करके लुप्त तथा विस्मृत साहित्य-शृखलाओं की कड़ियो को खोजकर जोड़ने की आवश्यकता है।

विश्व-समाज तथा संस्कृति के विकास का सही पता विश्व के लोकसाहित्य तथा लोक भाषाओं के कालक्रमिक वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा ही लगाया जा सकता है। अभी तक साहित्य तथा भाषावैज्ञानिक परम्परागत अध्ययनो मे शिष्ट साहित्य तथा मानक भाषाओं के अध्ययनो को ही महत्त्व दिया गया है। अनेक भाषाविदो तथा

साहित्यकारों ने भारतीय साहित्य तथा भाषाओ के विकास-सोपानो को निम्नलिखित रूप मे व्यक्त किया है:— १. वैदिक साहित्य २. सस्कृत साहित्य ३. प्राकृत साहित्य ४. अपभ्रश साहित्य ५. हिन्दी साहित्य। वैदिक भापा, सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी। उक्त विकास-सोपान शिष्ट साहित्य तथा शिष्ट भाषा से संबधित है।

वैदिककाल से लेकर अपभ्रंश काल तक का लोकसाहित्य तथा लोक-भापाओं का क्या स्वरूप था, अज्ञात है। साहित्य तथा भाषाओ का उक्त विकासपरक अध्ययन भापावैज्ञानिक अध्ययन के प्रतिकूल पड़ता है। एक मानक भापा के साहित्य से दूसरी मानक भाषा का साहित्य जन्म नही ले सकता। विभिन्न लोक-बोलियो मे से कोई एक राजनीतिक, सामाजिक सांस्कृतिक तथा साहित्यिक सरक्षण पाकर-भाषा बन जाती है। भाषापरिष्कार तथा परिमार्जन की प्रक्रिया लोकभापाओ पर ही लागू होती है। किसी भी मानक भाषा की सरचना के विश्लेपण-विवेचन से उसमे विद्य-मान लोक-बोली तत्त्वो को अलगाया जा सकता है और भापा निर्माण की प्रक्रिया को परखा जा सकता है। एक ही भापा के साहित्य में एकाधिक भाषा प्रवृत्तियों का पाया जाना तत्कालीन विभिन्न जनपदीय बोलियो के अस्तित्त्व को प्रमाणित करता है। भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा इन जनपदीय भापातत्त्वों को अलगाया जा सकता है और यह प्रमाणित किया जा सकता है कि साहित्यिक भाषाओ के समानान्तर लोकभाषाएँ प्रयुक्त होती थी। यदि तत्कालीन लोकसाहित्य जीवित होते तो इन लोक-भापाओ की प्रवृत्तियो को निरूपित किया जा सकता था। यदि उस समय शोध-प्रवृत्ति का जन्म हो गया होता तो विभिन्न शोध-कार्यों द्वारा तत्कालीन लोक-साहित्य तथा लोक-भाषाओ के विविध अगो को आज भी परीक्षित किया जा सकता था। फिर भी तत्कालीन मानक भाषाओ की सरचना के सरचको के विश्लेपण तथा विवे-चन द्वारा लोक-बोलियो के प्रभावी तत्त्वो के अनुपात को निश्चित किया जा सकता है। उदहारण के लिए सस्कृत भापा की रूप रचना की प्रकृति के विश्लेपण द्वारा लोकभाषा-तत्त्वो को स्पष्ट किया जा सकता है। पाणिनि गम् धातु के रूप 'गच्छ' आदेश करके बनाते हैं। लट् मे गच्छति, लोट् मे गच्छतु, लिङ, मे गच्छेत, लङ् मे अगच्छत् आदि रूप बनते है। लट्लकार मे गमिष्यति, गमिष्यत, गमिष्यन्ति आदि रूप बनते है। एक ही धातु प्रातिपदिक 'गम्' से गच्छति तथा गमिष्यति जैसे दो रूप कैसे सभव है? सरचनात्मक स्तर पर एक मूल धातु प्रातिपदिक से सभी दिशाओ में एक से रूप बनने चाहिए अर्थात् प्रत्येक रूपरचना मे एक ही प्रातिपदिक आद्यन्त प्रयुक्त रहना चाहिए। अतः यहाँ गम् तथा गच्छ दो प्रातिपदिक माने जायेंगे। गच्छ साहित्यिक तथा गम् लोक-भापा का रूप माना जायेगा। इसी प्रकार दृश् तथा पश्य दो स्वतत्र धातु प्रातिपदिक हैं। हिन्दी का देखना दृश से तथा अवधी का देखना पश्य से सबधित हैं। क्रिया रूपरचना के बाद सर्वनाम रूप रचना का परीक्षप द्रष्टव्य है।

पु० स. तौ ते

स्त्री०	सा	ते	ताः
नपुं०	तत्	ते	तानि

पाणिनि उक्त तीनो रूप—रचनाओ को 'तद्' सर्वनाम प्रातिपदिक से व्युत्पन्न मानते हैं। पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग एक वचन मे स और सा शेष रूप-रचना व्यवस्था से भिन्न रूप दिखाई देते है। निश्चित ही ये रूप लोक-भाषाओ से संबंधित है। अस्मद्, युष्मद सर्वनाम—प्रातिपदिको की रूप-रचना भी लोक-भाषा—तत्वों से प्रभावित है यथा —

अस्मद्

अहं	आवा	वयं
माम्	आवां	अस्मान्
मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः

युष्मद्

त्वम्	युवा	यूय
त्वाम्	युवा	युष्मान्

अस्मद् के रूपो मे प्रथमा वहुवचन मे वयं द्वितीया तथा तृतीया के एकवचन मे माम्, मया आदि रूप शेप रूप व्यवस्था से भिन्न हैं। इन रूपो को छोड़कर शेष रूप अस्मद् प्रातिपदिक से संवधित है क्योकि सभी मे यह प्रातिपादिक विद्यमान है परन्तु वयं तथा माम् रूप अलग-अलग प्रातिपदिको से सवंधित है। एक ही रूप-रचना मे तीन-तीन प्रातिपदिक कार्य कर रहे है। आवृत्ति की प्रधानता के कारण अस्मद् को मानक भापा का रूप माना जायेगा शेप रूपो को लोक भापाओ से सवधित माना जायेगा। 'युष्मद्' की रूप-रचना में सभी विभक्तियो के एकवचन के रूप द्विवचन तथा वहुवचन के रूपों से भिन्न हैं। द्विवचन तथा वहुवचन के रूप ही युष्मद् प्रातिपदिक से सवधित है एकवचन के रूप लोक भाषा से संवध रखते हैं।

संस्कृत भापा मे ही नही अँग्रेजी जैसी अन्तरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त भाषा मे भी क्रिया तथा सर्वनाम रूप रचना मे लोक भापाओं के तत्त्व प्रभावी परिलक्षित होते हैं यथा:—

go, went, gone:— क्रिया रूप रचना मे go और gone तो एक ही प्रातिपदिक से सवधित हैं, went पृथक प्रातिपदिक से सवधित है। यही लोक भापा तत्व है।

I, my, me सर्वनाम रूप रचना में my, me एक ही प्रतिपदिक के दो रूपान्तर है। I अलग प्रातिपदिक से संवधित रूप है। प्रयोग की दृष्टि से सीमित होने के कारण यह लोकभापा का रूप माना जायेगा। इस प्रकार के प्रयोगों की पुष्टि लोकसाहित्य के सरचनात्मक अध्ययन से की जा सकती है लोक-साहित्य मे प्रयुक्त लोकभापाओ की सरचना परिनिष्ठित साहित्य मे प्रयुक्त मानक भापाओ के निर्माण की प्रक्रिया को प्रश्रय देती है। भापाविज्ञान साहित्य तथा भाषा-निर्माण की प्रक्रिया को नियन्त्रित तथा नियमित करता है। भाषा वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा ही

लोकसाहित्यो मे प्रयुक्त लोक भापाओ की सरचना के प्रकार्यात्मक विश्लेपण-विवेचन से रूप रचना के प्रयोगानुपातो को निश्चित तथा निर्धारित किया जा सकता है। यही नहीं भापा विज्ञान के अध्ययन द्वारा एक ही भाषा के क्षेत्रीय प्रभेदो को भी स्पष्ट किया जा सकता है। यथा व्रज वोली मे वालकन तैं, बालकन सैं वालकन सूँ, वालकन को, बालकन कूँ आदि रूपो मे करण एव अपादान मे तैं, सैं, सूँ कर्म एव सम्प्रदान मे को, कूँ आदि परसर्ग प्रयुक्त होते है। इनमे तैं तथा सैं और को परसर्ग मानक व्रज भापा मे भी प्रयुक्त होते है।

सूँ तथा कूँ परसर्ग ग्राम्य व्रज भाषा मे ही प्रयुक्त होते है। इसी प्रकार खड़ी बोली मे लोटा, लोट्टा, मठा, मठ्ठा, वेटा, वेट्टा, आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। इनमें, लोटा, मठा तथा बेटा शब्द साहित्यिक खड़ी वोड़ी मे प्रयुक्त होते है। लोट्टा, मठ्ठा तथा वेट्टा शब्द ग्राम्य खड़ी बोली मे ही प्रयुक्त होते हैं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि लोकसाहित्य तथा भाषाविज्ञान अध्ययनस्तर पर एक दूसरे के पूरक है।

भापाविज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से पाँच विभाग किए जाते है -१. ध्वनि-विज्ञान २. शब्द विज्ञान ३ पद विज्ञान ४. वाक्य विज्ञान ५. अर्थ विज्ञान।

विभिन्न लोकसाहित्यों की रचना की आधार लोक–भापाओं का संरचनात्मक, ऐतिहासिक, व्यतिरेकीय तथा प्रायोगिक अध्ययन उक्त भाषातत्त्वो के सदर्भ मे किया जा सकता है। लोकभापाओ की सरचना विश्लेपण से लोकसाहित्यो के प्रभेदो तथा प्रकार्यात्मिक स्वरूपो को निरूपित किया जा सकता है।

लोकसाहित्य भाषा विज्ञान के लिए अध्ययन–सामग्री प्रदान करता है। ध्वनि शब्द, पद, वाक्य तथा अर्थ संरचना के लिए लोकसाहित्यो मे पर्याप्त मौलिक तथा प्राभाविक सामग्री उपलब्ध है। लोक-भाषाओ के भापा-तत्त्वो के विश्लेपण से व्याकरण वनाए जा सकते है। अभी तक लोकभापा-व्याकरणो का निर्माण आरंभ नही हुआ है। लोकभाषाओं के व्याकरणिक ग्रन्थो का ही नही वैज्ञानिक भाषा ग्रन्थो का भी नितान्त अभाव है। लोकभाषावैज्ञानिक, ग्रन्थो की रचना तो दूर रही अभी तक 'हिन्दी भापाविज्ञान' भी हिन्दी भापा की रचना तथा प्रकार्य–पद्धति के आधार पर नही वना हैं। भापा-वैज्ञानिक अध्ययन लोकसाहित्य के विश्लेपण–विवेचन तथा मूल्यांकन के लिए वैज्ञानिक पद्धति प्रदान करता हैं। एक तथ्याधार प्रस्तुत करता है दूसरा तथ्य-विवेचन पद्धति। भाषाविज्ञान के प्रत्येक विभाग मे लोकसाहित्य-प्रभेदों का अलग–अलग अध्ययन किया जा सकता है। भाषाविज्ञान के प्रत्येक अग का लोक-साहित्य की सरचना के सदर्भ मे सबध स्थापित किया जा सकता है।

लोकसाहित्य तथा ध्वनि विज्ञानः—भारतवर्ष का समस्त लोकसाहित्य लोक-भापाओं मे अभिव्यक्त है। लोकभाषाओ की ध्वनि रचना परिनिष्ठित तथा साहित्यिक भाषाओं की ध्वनि रचना से प्रकार्यस्तर पर भिन्न है। भारत वर्ष की लोक-भाषाओ मे अनेक ध्वनि तत्त्व ऐसे है जिनका प्रयोग–स्रोत संस्कृत न होकर

वैदिक भापा तथा संस्कृत प्राकृत-अपभ्रंश के समानान्तर प्रयुक्त लोकभापाएँ है।

भारतवर्प मे प्रयुक्त आधुनिक लोकभापाएँ शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि लोक अपभ्रंश भापाओ से निकली है। इन लोकभाषाओं का लोकसाहित्य विकास-क्रम की दृष्टि से लोक अपभ्रंश भापाओं का लोक साहित्य ही है। भारतवर्ष की सम्पूर्ण लोकभापाओं की ध्वनियों का सग्रह करके उनका सरचनात्मक तथा तुलनात्मक स्तर पर विश्लेपण-वर्गीकरण करके समान-असमान ध्वनि तत्त्वो को अलग-अलग स्पष्ट किया जा सकता है। प्रकार्यस्तर पर इस स्वनिम सख्या से पूर्ववर्ती लोकभापाओ की स्वनिम सख्या को निश्चित तथा निर्धारित किया जा सकता है। भारतवर्प के लोकसाहित्यो की आधारभूत लोक भापाओ मे अनेक ऐसी नवीन ध्वनियाँ होंगी जो सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश साहित्यो की मानक भापाओ मे नहीं मिलेंगी। उदाहरण के लिए राजस्थानी, हरियाणी तथा कौरवी लोक–साहित्यो की लोक भाषाओ में आज भी वह ध्वनि विद्यमान है। यह ध्वनि सस्कृत–साहित्य मे नही मिलती। वैदिक साहित्य मे 'ईळे' पद मे विद्यमान है। लोकभापाओं के ध्वनि वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा सरचनात्मक स्तर पर प्रत्येक लोकभापा की ध्वनियों का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है। यथा ग्राम्य खड़ी वोली मे दीर्घ, ह्रस्व तथा अतिह्रस्व तीन स्वर स्वनिम प्रयुक्त होते हैं। 'मठा–मठ्ठा', 'पटा–पट्टा', 'आटा–आट्टा', पीठ–पीट्ठ', टूटा–टूट्टा', 'वेटा–वेट्टा', 'मोटा–मोट्टा', 'औटा–औट्टा', शब्द-युग्मों में 'अ–अ', 'आ–आ', 'ई–ई', 'ए–ए', 'ओ–ओ' 'औ-औ', स्वर स्वनिम हैं। अति ह्रस्व स्वनिक(फोनेटिक)स्तर पर ही पाया जाता है स्वनिम(फोनेमिक)स्तर पर नहीं।

भारतीय लोक भापाओ की स्वनिमो की विश्वलोक भापाओ की स्वनिमो से प्रकार्य-स्तर पर तुलना करने से विश्व स्तर पर लोकसाहित्यों की समान-असमान संरचनाओं का तो पता चलता ही है साथ ही साथ विश्व-भापा-सवंधो का भी ज्ञान होता है। संस्कृत साहित्य से प्रयुक्त 'क्ष' ध्वनि मागधी साहित्य मे 'ख' मे परिवर्तित हो गई है। भारत की यही मागधी प्रवृत्ति लेटिन और ग्रीक में परिलक्षित होती है। संस्कृत'दक्ष' की 'क्ष' ध्वनि मागधी प्रवृत्ति के अनुसार ग्रीक के 'तेख्ने' तथा लेटिन के 'देख्तेर' शव्दो मे 'ख' मे परिवर्तित हो गई है।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि लोकसाहित्य ध्वनि विज्ञान के लिए तथ्य प्रदान करता है और ध्वनि विज्ञान इन तथ्यो का वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग तथा अध्ययन करता है।

प्रत्येक लोकसाहित्य की लोक-भापा की ध्वनियों का संरचनात्मक तथा ऐतिहसिक स्तर पर अध्ययन किया जा सकता है। अभी तक लोक वोलियो के ध्वनिवैज्ञानिक अध्ययनो का नितान्त अभाव है। भापाविज्ञान पढ़ाते समय ध्वनि परिवर्तन की प्रक्रिया तथा दिशाओ के उदाहरण जताते समय साहित्यक भापा तथा अन्य विदेशी भापाओ का आश्रय लिया जाता है। इस प्रक्रिया से ध्वनि विज्ञान का अध्ययन पाठकों को दुर्वोध लगता है। अग्रगामी तथा पश्चगामी समीकरण का एक ही लोक–

भापा शव्द से उदाहरण दिया जा सकता है यथा 'गल्प' से पूर्वगामी समीकरण मे 'गल्ल' बनेगा तथा पश्चगामी समीकरण मे गप्प' बनेगा। दोनो शब्द लोक व्रज-भापा मे प्रयुक्त होते है। 'गल्प' मे मूल शब्द 'गल' है। 'गल' का पंजाबी मे अर्थ 'बात' है।

लोकसाहित्य और शब्द विज्ञानः— लोकसाहित्य शब्द वैज्ञानिक अध्ययन के लिए तथ्य प्रदान करता है। शव्द विज्ञान में इन तथ्यो का वैज्ञानिक विश्लेपण-वर्गीकरण किया जाता है। विभिन्न लोक बोलियो में प्रयुक्त आधारभूत शव्दावली का सरचनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। भारतीय लोक बोलियो के साहित्य मे प्रयुक्त आधारभूत शव्दावली के साम्य-वैपम्य को संरचनात्मक स्तर पर निश्चित करके राप्ट्र-भापा के निर्माण की प्रक्रिया के सूत्र खोजे जा सकते है।

विभिन्न लोकसाहित्यो मे प्रयुक्त शव्दो का अध्ययन दो स्तरो पर किया जाता है:— १. रचना-स्तर पर २ प्रकार्यस्तर पर।

रचना स्तर पर शब्द तीन प्रकार के पाये जाते है.— १. मूलशव्द या प्रातिपदिक २. व्युत्पन्न शव्द २. सामासिक शब्द। प्रकार्यस्तर पर व्युत्पादक प्रयत्नो का अध्ययन शब्द-वर्गों या कोटियो के निर्माणार्थ किया जाता है। लोकसाहित्य में प्रयुक्त शव्दो का वैज्ञानिक अध्ययन करके उनसे अभिव्यजित लोक संस्कृति तथा समाज के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का पता लगाया जा सकता है। इसके साथ ही समाज की भाषिक प्रवृत्तियो का भी पता लगा सकते हैं। उक्त कथनो की पुष्टि के लिए निम्नलिखित शब्द लिए जा सकते है–

खाट, कटोरा, मड़ैया, मृत्यु।

खाटः— शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से सस्कृत 'काष्ठ' से सम्बद्ध है। काप्ठ युग मे खाट लकडी की वनती थी, आज 'लोहे के फोल्डिग पलग भी मिलते हैं।

कटोराः— 'कटोरा' शब्द भी काष्ठ से व्युत्पन्न हुआ है। कटघर मे कट 'काप्ठगृह' के काष्ठ >कठ >कट से सम्बद्ध है। उसी प्रकार कटोरा का कट भी काप्ठ से सम्बद्ध है।

मानव–समाज के विकास की विभिन्न अवस्थाओ मे 'काष्ठ युग' प्रभावी रहा। इस युग मे कटोरा काष्ठ–निर्मित रहते थे, आज पीतल, सोना, चाँदी, तथा स्टील के कटोरे ही मिलते हैं। केवल सन्यासियों के पास काष्ठ के कटोरे आज भी मिलते हैं।

मड़ैयाः–मड़ैया शव्द मिट्टी से सम्वद्ध है। मर्त, मर्तिका से ही पहले मकान वनते थे। आज मड़ैया या मढी ईटो तथा सीमेंट से भी वनती हैं।

मृत्युः–मृत्यु, शव्द की मर्त, मर्तिका अर्थात् मिट्टी से बना है। मिट्टी में दफनाने अथवा मिट्टी में मिल जाने के कारण ही मृत्यु कही जाती है।

अनेक लोक शव्दो का अर्थ आज भी लोकसाहित्य मे खोजा जा सकता है,

शव्द कोशों में नही। सूरदास ने 'मूरसागर' मे 'अंहुठ' शव्द का प्रयोग किया है। निम्नाकित पंक्तियो में इस शव्द का प्रयोग हृष्टव्य है

जव मोहन कर गही मथानी ।

परसत कर दधि माट नेति चित, उदधि सैल वासुकि भय मानी।

कवहुंक अहुठ परग करि वसुधा, कवहुंक देहरि उलँघि न जानी ॥

उक्त पक्ति मे 'अहुठ' का अर्थ $3\frac{1}{2}$ है। व्रज क्षेत्र में अहुठ शव्द आज भी 'हूँठा-हूँठ, दु हूँठ सात' अर्थात् $3\frac{1}{2}$ के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

उक्त अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि लोकभाषिक प्रयोग हिन्दी के आदि काल तथा मध्यकाल मे देखें जा सकते हैं, जिनके सही अर्थ तथा मूल शव्द खोजने के लिए लोकसाहित्यो की शरण लेनी पडती है, कोशग्रन्थो से समस्या हल नही होतो।

लोकसाहित्य के मूल भाषिक प्रयोगो की सुरक्षा तथा लोकोपयोगिता के लिए विभिन्न वोलियों के कोश वैज्ञानिक अध्ययन आरंभ होने चाहिए। प्रत्येक वोली का शव्द कोश तथा धातु कोश वनाया जा सकता है। ये कोश संरचनात्मक, ऐतिहासिक, व्युत्पत्तिपरक तथा तुलनात्मक भी हो सकते हैं।

लोकसाहित्य तथा पदविज्ञान:—लोकसाहित्य पद वैज्ञानिक अध्ययन के लिए पर्याप्त पुप्ट तथा प्रामाणिक सामग्री प्रदान कर सकते है, दूसरे पद वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा प्रत्येक लोकसाहित्य की जातीय अस्मिता का स्वरूप निश्चित तथा निर्धारित किया जा सकता है। लोकसाहित्यो में प्रयुक्त लोक-भापाओ की सरचना तथा व्याकरण स्थिर तथा निर्मित किया जा सकता है। पदवैज्ञानिक अध्ययन में पदरचनात्मक तथा व्याकरणिक सम्वन्ध द्योतक विभक्ति प्रत्ययों का अध्ययन किया जाता है। ये विभक्ति प्रत्यय दो प्रकार के होते हैः— १. नाम विभक्तिप्रत्यय २. क्रिया विभक्तिप्रत्यय ।

संज्ञा, सर्वनाम, विशेपण तथा क्रिया विशेपण शव्दों के अन्त में लगने वाले विभक्ति प्रत्यय नाम-विभक्ति प्रत्यय कहलाते है।

धातु प्रातिपदिक के अन्त में लगने वाले विभक्ति प्रत्यय क्रिया विभक्ति प्रत्यय कहलाते हैं। नाम विभक्ति प्रत्यय लिंग, पुरुष, वचन तथा कारक प्रकार्यो की अभि-व्यक्ति करते हैं। क्रिया विभक्ति प्रत्यय लिंग, पुरुष, वचन, काल, वृत्ति (मूड) तथा पक्ष (आस्पेक्ट) आदि व्याकरणिक प्रकार्यों को स्पष्ट करते है।

इन विभक्ति प्रत्ययो के संरचनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन द्वारा विभिन्न लोक वोलियों की संरचना तथा स्वरूप को निश्चित किया जा सकता है। लोकसाहित्य के प्रभेदों को स्पष्ट किया जा का सकता हैं। लोकसमाज ओर लोक-संस्कृति के प्रभेदों को भी निर्धारित किया जा सकता है। यथा:— वालकन, वाल-कन्ह, लोगन, लोगन्ह, सासुन, सासुन्ह आदि पदो मे दोनों रूप अवधी में प्रयुक्त होते है परन्तु वालकन, लोगन तथा सासुन रूप केवल व्रज भाषा में ही प्रयुक्त होते हैं।

घर पै, घर पहुँ, नदी मैं, नदी महिँ, नदी माँहि आदि रूपों में 'पै मैं' परसर्ग व्रजभाषा के है, पहुँ, महिं, माहिं, आदि परसर्ग अवधी के है। इसी प्रकार क्रिया रूप-रचना मे कीजै, करइ, करै, करत, करसि आदि अवधी मे प्रयुक्त होते है। इनमे से कीजै करै व्रज के है शेष क्रिया रूप अवधी के है। जहाँ दो भापाओ की सीमाएँ मिलती है वहाँ इसी प्रकार के व्याकरणिक प्रयोगों के निर्धारण से अथवा सभाष रेखाये (आइ सोगूलासस) से भापा-सीमाएँ निर्धारित कर सकते है। इसी पद्धति से लोक-साहित्य के प्रयोग-क्षेत्रों को भी अलगाया जा सकता है।

लोकसाहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए लोक बोलियो की व्याकरण-रचना की नितान्त आवश्यकता है। विविध लोकसाहित्यो का सग्रह, सम्पादन तथा प्रकाशन कराकर उनकी भापा के तुलनात्मक व्याकरण बनाए जा सकते है। ये व्याकरण ग्रन्थ वाक्य में पदों के प्रकार्य-द्योतन से सबधित रहेगे।

लोकसाहित्य तथा वाक्य विज्ञानः—

लोकसाहित्य का अध्ययन वाक्य-गठन द्वारा ही सभव है। लोकसाहित्य लोक-मानस की सहज अभिव्यक्ति होने के कारण इनमें भाषा-विकास की सहज प्रक्रिया भी देखी जा सकती है। लोक-समाज जितने प्रकार का होगा लोक-बोलियाँ भी उतने प्रकार की होंगी। जितने प्रकार की लोक बोलियाँ होंगी, उतने ही प्रकार का लोक साहित्य होगा। विभिन्न लोक-बोलियों की वाक्य रचना से लोकसाहित्य की कोटियाँ निर्धारित की जा सकती है। लोक बोलियों की वाक्य रचना का अध्ययन दो दृष्टियों से किया जा सकता है:—१. पदक्रम की दृष्टि से २. क्रिया के प्रयोग-स्थान की दृष्टि से।

पदक्रम की दृष्टि से वाक्य रचना दो प्रकार की होती है.—

१ स्वतत्र पदक्रम वाली वाक्य-रचना

२ निश्चित पदक्रम वाली वाक्य-रचता

सस्कृत की वाक्य रचना स्वतत्र पदक्रम से सम्वन्ध रखती है और हिन्दी तथा अग्रेजी की वाक्य रचना निश्चित पदक्रम से सम्वन्ध रखती है। सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के लोकसाहित्यों मे वाक्य रचना की दो पद्धतियाँ प्रयुक्त हो रही थी-१ एक स्वतंत्र तथा दूसरी नियत्रित या निश्चित। सस्कृत मे पहली प्रवृत्ति प्रयुक्त हुई हिन्दी मे दूसरी।

क्रिया के प्रयोग-स्थान की दृष्टि से वाक्य रचना दो प्रकार की होती है:— १. क्रियामुख वाक्य २. क्रियापश्च वाक्य क्रियामुख वाक्य रचना लोक बोलियों की विशेषता है। क्रिया पश्च वाक्य रचना साहित्यिक भापाओ की विशेपता है। कुमार सभव का आरभ 'अस्त्युतरस्या दिशि देवात्मा' कियामुख वाक्य रचना से होता है। पंचतत्र, कथा सरित्सागर, तथा बृहत्कथा मजरी आदि साहित्य ग्रन्थों में क्रियामुख वाक्य पर्याप्त मिलते है। 'वन्दऊँ गुरुपद चरन परागा' रामचरितमानस का यह वाक्य क्रियामुख है। 'मानस' से अधिक क्रियामुख वाक्य पद्मावत मे

प्रयुक्त हुए है। उससे कम सूर-सागर मे और सब से कम मानस में। अत यह कहा जा सकता है कि पद्मावत लोकसाहित्य के अधिक निकट है। सूरसागर उससे कम तथा मानस सबसे कम। लोकसाहित्यो का संग्रह, सम्पादन तथा प्रकाशन करके सरचनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक स्तर पर वाक्य रचना की प्रवृत्तियो को निश्चित किया जा सकता है और इन्ही के आधार पर लोकसाहित्य के प्रभेदो को स्पष्ट किया जा सकता है।

लोकसाहित्य और अर्थविज्ञान:— अर्थविज्ञान का अध्ययन शब्द-विज्ञान के अध्ययन से जुड़ा हुआ है। अर्थ परिवर्तन की दिशाओं के अध्ययन से समाज और संस्कृति के विकास के विविध सोपानो को स्पष्ट किया जा सकता है। शब्द और अर्थ का साम्य ही भाषा-निर्धारण का आधार बनता है। लोकसाहित्य मे अर्थ विकास की प्रचुर सामग्री मिलेगी। मेहतर, भगी, हरिजन शब्द अर्थस्तर पर कितने बदल गए हैं। अर्थ विकास की विभिन्न प्रक्रियाओ से समाज-विकास के विभिन्न काल-बिन्दु निरूपित किए जा सकते है।

उक्त समग्र विवेचन से लोकसाहित्य और भाषाविज्ञान के सतही तथा सघन संरचनात्मक संबंध स्पष्ट होते है। लोक-भाषाओ के समान–असमान, सजातीय-विजातीय तत्त्वो के आधार पर प्रान्तों की विलीनीकरण की प्रक्रिया का ज्ञान होता है। अतः लोकसाहित्य तथा भाषाविज्ञान प्रकृति तथा प्रक्रिया की दृष्टि से एक दूसरे के पूरक है।

—हिन्दी विभाग
एस० एस० वी० कालेज
हापुड (उ० प्र०)



लोक-साहित्य का मिथकीय आयाम

पुष्प पाल सिंह

'लोकसाहित्य' और 'मिथक' दोनों ही लोकभाषा की मौखिक थातियाँ है जो बाद में चलकर लिपिबद्ध हुई है या होती है। लोकसाहित्य की सर्वप्रमुख विशेषता उसका मौखिक होना है और यह मौखिक परम्परा भी औपचारिक शिक्षा (फाँरमल एजूकेशन) से पूर्णत· शून्य लोगो की होती है।[1] औपचारिक शिक्षा विधेन होकर भी लोकसाहित्य के सर्जक जीवन की खुली पाठशाला मे पढ़कर सामान्यत. पढे हुए नही अपितु 'गुने हुए' होते है। इसीलिए लोकसाहित्य मे समाज की आशा–आकाक्षाएँ, जीवन–पद्धति, मूल्यदृष्टि और ज्ञान का अक्षम भण्डार पाया जाता है। लोक कवि 'आँखिन देखी' का कवि होता है 'कागद लेखी' का नही। लोकसाहित्य का प्रसार इतना व्यापक है कि वह गद्य, पद्य, गीत, नाटक,नाटक के भी विविध रूप और भेदों, मिथक धार्मिक-अनुष्ठान विधि आदि के न जाने कितने रूपो मे पाया जाता है। लोक-साहित्य को लिपिबद्ध करने के प्रयास बहुत बाद के और अत्यल्प है। इन लिखित प्रयत्नो के माध्यम से उस महान् साहित्य की कुछ झलकियाँ भर पायी जा सकती है। लोकसाहित्य मानव के साथ आदिकाल से ही चला आता होगा– जब से उसे वाणी का वरदान मिला होगा, किन्तु अभिजात साहित्य या लिखित साहित्य तो बहुत बाद मे अस्तित्व मे आया। लगभग चार हजार ई. पू तक, जब सुमेर आदि सभ्य–ताओ मे लिपि का प्रथम विकास हुआ, सम्पूर्ण विश्व का साहित्य ही था। इस प्रकार लोकसाहित्य की मौखिक परम्परा होती है।

'मिथक' भी अपने मूल रूप मे मौखिक ही है। 'मिथक' हिन्दी मे अँग्रेजी के 'मिथ' शब्द के समानार्थी रूप मे प्रयुक्त होता है। अपने मूल रूप मे 'मिथ' का अर्थ सामान्य कथा-मात्र से था। अरस्तू ने भी कथा के अर्थ मे ही इसका प्रयोग किया है 'मिथ' शब्द का उद्भव यूनानी शब्द 'मुथोज' (Muthos) से है जिसका अर्थ है कोई भी 'मौखिक कथा'! कथा के साथ 'मौखिक' शब्द का प्रयोग विशेप महत्त्व रखता है, क्योकि 'मुथोज' का शाब्दिक अर्थ है 'जो कुछ कहा गया', एवं 'मुथोलोजि' या 'मुथोलोजिओ' (Muthologeo) शब्द का प्रयोग जो कुछ कहा गया है उसे ('मुथोज-

1 "Folk literature is the lose chiefly of unlettered people trans–mitted by word of mouth"– Encyclopedia Britannica, Macro–paedia. Vol 7, P. 454.

को) पुन स्मरण करने के लिए किया जाता था। किन्तु, कालातर में 'मुथोज' का प्रयोग किसी सामान्य कथा के लिए न होकर एक विशेष प्रकार की कथा के लिए होने लगा। इस कथा के अन्य तत्त्वो और आवश्यक उपादानो की चर्चा इस निवन्ध में आगे यथास्थान की जायेगी किन्तु यहाँ यही समझ लेना अभीष्ट है कि अपने मूल रूप मे मिथक का स्वरूप भो मौखिक ही रहा है। अपने इस रूप मे यह लोकसाहित्य के वहुत निकट सिद्ध हो जाता है। वस्तुत मिथक लोकसाहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपादान है।

अपनी मौखिक परम्परा की मूलभूत विशेपता के कारण लोकसाहित्य और मिथक दोनो एक दूसरे के इतने सन्निकट आ जाते है कि सामान्यत इनका अन्तर करना कठिन हो जाता है। लोकसाहित्य और मिथक कहाँ एक दूसरे के क्षेत्र मे संक्रमण कर जाते है और कहाँ ये एक दूसरे से अलग होते हैं, इसकी स्पष्ट विभाजक–रेखा खीचना अत्यन्त दुष्कर है। इन दोनो के अन्तर को समझने के लिए यह आवश्यक है कि संक्षेप मे मिथक का स्वरूप विवेचित कर लिया जाए। 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड ऐथिक्स' मे ई० ए० गार्डनर ने मिथक को व्याख्यायित करते हुए कहा है वह प्रायः प्रत्यक्षत या परोक्षतः कथा रूप मे होता है। सामान्य कथा से अंशतः यह इस रूप में, भिन्न है कि जिन मनुष्यो में यह कथा प्रथम वार प्रचारित होती है वे अवश्य ही उसे तत्त्वतः सत्य मानते है। इस प्रकार मिथक-कथा, नीति-कथा या अन्योक्ति से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार रम्याख्यान या रोमास से।"[1] 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसिज' में मिथक को लोकसाहित्य के वहुत निकट रखते हुए कहा गया है कि मिथक लोकसाहित्य के समान जातीय आकांक्षाओं, धारणाओ, आदर्शो का सुस्पष्ट माध्यम है।"[2] 'स्टैण्डर्ड-डिक्शनरी ऑफ फोकलोर माइथोलोजी एण्ड लीजेण्ड' मे भी मिथक के धार्मिक महात्म्य और किसी देवी-देवता के वृत्त से सम्वन्ध को ही प्रधानता दी गई है।"[3] प्रसिद्ध विद्वान् अर्नस्ट कैसिरर मिथक को लोक, समाज सम्पृक्त कर उसके अतिप्राकृत (सुपर–नैचुरल) तत्त्व को अस्वीकार करते है।"[4] अपने इस रूप मे मिथक की सामग्री का

1. A myth is usually, directly, or indirectly is narrative form, its difference from ordinary tales seems to lie partly in the fact that it is believed to be substantially true, at least by those among whom it is first repeated, it thus differs from a parable or allegory as from a fiction or romance" Vol. 9, P. 118
2. "Myth like a secular folklore is an articulated vehicle of a people's wishful thinking. Vol 11, P. 22.
3. द्रष्टव्य– 'मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन,' पृ० 39.
4. Not nature but society is the true model of myth. All its fundamental motives are projection of man's social life."

—'An Essay on Man', P. 79.

आधार भी लोकसाहित्य के समान समाज ही है। मिथक कथा में घटनाक्रम नहीं, अपितु उसके माध्यम से व्यक्त सत्य, तत्त्व, प्रमुख होता है। प्रसिद्ध मिथक-अध्येता नार्थ्रोप फ्राई भी मिथक की इसी विशेषता को रेखांकित करते हैं।"[1] वस्तुतः मिथक कथाएँ लोक की स्मृति मे अत्यन्त गहरे पैंठी हुई होती है। जिस प्रकार लोकसाहित्य लोकभावनाओ की सहज अभिव्यक्ति होता है, उसी प्रकार मिथक उस जाति या राष्ट्र के रक्त का अग बन जाती है। कुमारी मॉड बोडकिन ने कहा है कि जब कोई महान् कवि उन मिथक कथाओ को अपनाता है, जो जाति की कल्पना मे पल्लवित होती है, तो वह केवल अपने ही अनुभवो को वाणी नही देता है, अपितु समस्त जातीय सवेदनाओ को मूर्तित करता है। इस माध्यम द्वारा कवि उन भावनाओं और कल्पनाओं को साधन रूप मे अपना लेता है, जिनके द्वारा जातीय सवेदनाओ की अधिकाधिक अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार मिथक के माध्यम से कवि अपने और जाति के वैयक्तिक और सामाजिक भावो, विश्वासो एवं आस्थाओ को एक साथ अभिव्यक्ति दे देता है।"[2]

जैसे-जैसे मिथक के अध्ययन को विकास मिला, उसके सामाजिक पक्ष को अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। प्रसिद्ध विद्वान् रेनेवेलेक ने मिथक और समाज की सपृक्ति पर कहा कि यह एक कल्पनाशील लेखक के लिए कलाकार का अपने समाज से सवध स्थापित करने का एक ऐसा अत्यावश्यक माध्यम है जो उसे यह मान्यता प्रदान करता है कि वह उसी समाज का कलाकार है।"[3] रेनेवेलेक ने मिथक की सामाजिकता को स्वीकार करते हुए, उसके धार्मिक पक्ष को भी स्वीकार किया है। मिथक के विकास-क्रम पर विचार करते हुए उसे उन्होंने धार्मिक अनुष्ठान (रिच्युअल) का मौखिक, उच्चरित किए जाने वाला पक्ष माना है। धार्मिक अनुष्ठान करते हुए जो कुछ कहा जाता है, वही मिथक है। यह भी कहा जा सकता है कि अनुष्ठान के रूप मे मिथक को ही कार्य-रूप दिया जाता है, अथवा उसी का अभिनय किया जाता है।"[1] कहना होगा कि लोक-साहित्य के अध्येताओ ने 'रिच्युअल', धार्मिक अनुष्ठान को लोक-साहित्य मे ही माना है। इस प्रकार धार्मिक अनुष्ठान का वाचिक रूप मिथक सिद्ध होकरदोनो की एकरूपता दिखाई देने लगती है।

---

1. द्रष्टव्य– 'Anatomy of criticism, P. 139–40
2. Mand Bodkin, 'Archetypal patterns in Poetry.' P. 8.
3. To speak of the need for myth, in the case of imaginitive writer, is a sign of his felt need for communication with his Society, for a recognised status as artist, functioning with in Society"—Theory of Litearture. P. 192.
4. "Historically, myth follows and is correlative to ritual It is the spoken part of ritual, the story which the ritual enacts"—Theory of Literature, P. 191.

उपर्युक्त कतिपय परिभाषाओं के आधार पर हम मिथक के निम्नलिखित प्रमुख तत्त्व मान सकते हैं:—

1. मिथक का रूप गाथात्मक या कथात्मक होता है, इसीलिए इन्हे पुराकथा भी कहा गया है।

2. मिथक में आद्य-विम्बो (आर्केटाइपल इमेजिज) का रूपायन होता है, जिससे सिद्ध होता है कि मिथक-सृजन मे मनुष्य का आदिम मस्तिष्क (प्रीमिटिव माइण्ड) कार्य करता है।

3 प्रतीकात्मकता मिथक की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेपता है। मिथक कथा प्रतीक मात्र होती है, इसीलिए यहाँ कथा मे घटनाएँ या तथ्य नहीं अपितु तत्त्व ही प्रमुख होता है।

4. मिथक का वातावरण अलौकिक तथा धार्मिक होता है। मूल मिथक सृष्टि के किसी रहस्य की अतिप्राकृत (सुपर नैचुरल) रूप में ही व्याख्या करते हैं।

5. मिथक का प्रणेता अज्ञात और अनाम होता है, प्रत्येक मिथक वर्षों या सैकडो-हजारो वर्षों तक विकास की प्रक्रिया से गुजरता है। विकास की इस सुदीर्घ प्रक्रिया मे न जाने कितने व्यक्ति उसे अपनी कल्पना और मान्यताओ से सशोधित-परिवर्धित करते हैं।

6. मिथक मे एक अद्भुत प्रकार की विश्वसनीयता होती है। जिस जनसमूह मे मिथक प्रचारित होता है उनके लिए वह इतिहास के समान ही पूर्ण सत्य होता है। भारतीय परम्परा मे राम एव कृष्ण आदि से जुडे, न जाने कितने मिथक हमारे लिए या सामान्य जनता के लिए इतिहास की सच्चाइयाँ हैं।

7. मिथक मे उस जाति या समूह की भावनाएँ, आस्था और विश्वास प्रति-बिम्बित होते हैं, जिनमे वह प्रचारित होता है।

लोकसाहित्य में भी मिथक की ये विशेपताएँ न्यूनाधिक रूप मे यथावत् प्राप्त होती हैं। लोकसाहित्य की चार आधारभूत विशेषताएँ हैं —

1 लोकसाहित्य की सर्वप्रमुख विशेपता उसका मौखिक रूप है। इसका कोई लिखित रूप नहीं होता, लोकसाहित्य के अध्येता उस विशाल लोक-साहित्य की कुछ ही कणिकाएँ सँजो पाते हैं।

2 मौखिक परम्परा में होने के कारण लोकसाहित्य का रूप प्रत्येक पीढ़ी के साथ-साथ थोडा बहुत परिवर्तित या रूपातरित होता चलता है। गीतों और कहानियों को प्राय. गायक या कथा-वक्ता अपनी-अपनी रुचि और सुविधानुसार मोड़ दे देता है। इस बात को एक बहुत ताजे उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। 'ओ३म् जय जगदीश हरे' की आरती लोक की चीज है और इसके गायन के अनेक रूप प्राप्त होते है, यद्यपि इसका लिखित रूप भी प्राप्त है।

3. लोकसाहित्य लोक की स्मृति मे रहता है। यह स्मृति भी लोकसाहित्य का रूप समय-समय पर परिवर्तित करती रहती है।

4. लोकसाहित्य का प्रणेता अज्ञात होता है। कौन सा गीत या कहानी कब किस महिला के कण्ठ से फूट पड़ी है, यह जानना बहुत कठिन है। कभी–कभी अपने सामने ही बने या प्रचार मे आए गीत का सर्जक भी हम नही जान पाते है। कभी–कभी यह गीत-रचना सामूहिक रूप मे भी होती है।"[1] लोकसाहित्य का सर्जक गौण हो जाता है, अथवा विलुप्त हो जाता है, उसका गीत या कहानी ही अस्तित्व मे रहती है।

मिथक और लोकसाहित्य की मूलभूत आवश्यकताओ को देखने से ज्ञात होता है कि दोनो मे कितनी एकरूपता है। मिथक और लोकसाहित्य दोनो ही अपनी परम्परा में मौखिक हैं। मौखिक परम्परा मे होने के कारण दोनो का रूप संशोधित, परिवर्धित होता रहता है। मिथक का रचयिता भी लोकसाहित्य के समान अनाम व अज्ञात होता हे। मिथक का साहित्य मे प्रथम प्रयोग करने वाले कवि आदि का परिचय हम जान सकते है किन्तु उसका आदि सर्जक जान पाना संभव नही है। नायक और खलनायक के मिथको ('हीरोमिथ्स') मे न जाने कितनी लोककहानियाँ अन्तर्भुक्त हो जाती है।"[2] ओडेसी, इलियड, रामायण, महाभारत, सूरसागर आदि विश्व की अनेक प्रसिद्ध मिथक–कथाओं मे न जाने कितनी लोक–कहानियाँ, लोक–गीत, निजधरी कथाएँ आदि ज्यो की त्यो आ गयी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूरसागर को 'किसी चली आती गीति–परम्परा, मौखिक गीति परम्परा का पूर्ण विकास–सा' यूँ ही अचानक ही नही कह दिया था।"[3] देश के विभिन्न भागो मे,

---

1. इस बात को हम एक उदाहरण से सपुष्ट करना चाहेगे। मेरे गांव (भदम्याना, (मेरठ) सम्प्रति जिला गाजियाबाद) मे 1957-58 ई० मे एक कुएं को मान्यता तीर्थ के रूप मे हो गयी थी। उसका पानी पीकर दमा, खाँसी, चर्मरोग आदि ठीक हो गए थे। फलत दिल्ली, रोहतक आदि तक से लोग इस कुएं के पानी के लिए आने लगे थे। एक दिन भीड़ मे कुछ स्त्रियाँ यह गीत गाती जा रही थी—

'वैदो के मर गए मान कुएँ तेरे पानी नै
बालू भी रोवै, इन्द्रपाल भी रोवै
दिल्ली वाले ने पकड लिए कान
कुएँ तेरे पानी नै"

प० बालकृष्ण, इन्द्रपाल सिह और दिल्ली वाले गाँव के तीन प्रसिद्ध वैद्य थे। यह गीत तभी जन्मा था। मैंने भरसक यह जानने की चेष्टा की कि इस गीत को किसने बनाया है–कोई एक नाम नही बता सका। गीत की कोई कडी किसी ने जोड़ी थी और कोई किसी ने। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता हे कि लोकसाहित्य का सृजन कभी–कभी या प्राय सामूहिक रूप मे होता है।

2. "True myth is usually embellished with folk tale and fiction told for its own sake."—Encyclopedia Britannica Macropaedia Vol. 8, Page 404.

3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पन्द्रहवाँ पुनर्मुद्रण, पृ० 130

या कहें लगभग प्रत्येक क्षेत्र मे, राधा–कृष्णलीला के ऐसे लोकगीत प्रचलित हैं जो कहीं-कही तो शव्द प्रति शव्द यूं ही उठाकर कविता में रख दिये गए हैं। विद्यापति कृष्ण-मिथक मे जव काग की चोंच सोने से मढाते और कनक कटोरे में दूध–खीर आदि उसे खिलाने की बात कहते हैं तो यह लोकगीत का ही मिथक मे रूपान्तरण हो रहा है, यद्यपि कवि इस प्रक्रिया के प्रति सचेत नहीं होता है। यह कवि मन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। यही कारण है कि एक जैसी ही भावना, विम्व, अभिव्यक्ति एक ही कृष्ण भक्त कवि में नही अपितु मीरा, रसखान आदि अनेक कवियों में प्राप्त होती है, वस्तुतः उसका मूल स्रोत एक ही लोककाव्य है। राम-कथा का लव-कुश के द्वारा राम दरवार में गाया जाना इस वात का स्पष्ट संकेत है कि रामकथा का अस्तित्व भी पहले मौखिक और लोकगीत के रूप में रहा है। भारतीय ही नहीं यूनानी, रोमन, जर्मन आदि समस्त मिथक कथाएँ लोकमाहित्य का आधार पाकर ही विकसित हुई हैं।"[1] जायसी आदि न जाने कितने कवियों ने लोक–कथाओं को अपना कर अपने काव्य को इसी प्रक्रिया से ममृद्ध किया है। इस प्रकार मिथक लोक–साहित्य का आधार पाकर ही विकमित होता है।

मिथक और लोकसाहित्य दोनों ही समूह या ममाज की भावनाओं का रूपायन करते है। इसीलिए ये जिस समाज में प्रचलित होते है, वह अपने को इनके वहुत निकट पाता है। इसीलिए इतना विकास भी समूहगत होता है और वह समाज सामूहिक रूप से इसका आनन्द उठाता है। युग ने जिस सामूहिक अवचेतन मस्तिष्क (कलैक्टिव अनकाशस माइण्ड) की वात कही थी वही मिथक और लोकसाहित्य का सृजन करता है। मनुष्य अपनी जाति की परम्पराओं को अजाने ही आत्मसात् किये रहता है। इनसे उसका रक्त का सम्वंध होता है मोटे तौर पर 'सामूहिक अवचेतन' है। मिथक और लोकसाहित्य के माध्यम से यह सामूहिक अवचेतन अपनी अभिव्यक्ति करता है। यही कारण है कि मिथक और लोकसाहित्य से प्रत्येक व्यक्ति इतना निकट तादात्म्य अनुभव करता है।

मिथक कथाओं के जितने भी प्रकार हैं वे सव लोकमाहित्य में प्राप्त होते हैं या इसे यूँ कहा जा सकता है कि समस्त मिथक–कथाएँ किसी न किसी लोककथा का आधार लेकर खडी हुई है। विभिन्न देशों की परम्पराओं का अध्ययन कर श्री ई० ए० गार्डनर ने मिथक–कथाओं को वारह वर्गों में रखा।"[2]

---

1. "All are the results of an indefinitely long part, of growth and outside influences of religious cults and practices, and of glorification of heroes. But whatever the historical, psycho-logical, or religious motivations, the mythologies are a part of folk literature———"
   Encyclopedia Britannica, Macropaedia, Vol 7, Page 456.
2. "एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स' खण्ड–9 पृ० 118–20.

१. ऋतु-परिवर्तन एवं अन्य प्राकृतिक परिवर्तनों से सम्बन्धित:—किस प्रकार शीत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, बसन्त आदि ऋतुएँ तथा रात्रि के बाद दिवस, सप्ताह, मास आदि एक निश्चित क्रम के अनुसार आते है; सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि कैसे एक दूसरे की परिक्रमा करते है— आदि कथाएँ इस श्रेणी में आती है।

२. अन्य प्राकृतिक तत्त्वों से सम्बन्धित:—इस वर्ग के अन्तर्गत वे मिथक आते है जो अग्नि, जल, वायु, सरिता आदि के जन्म आदि के रहस्यो को प्रकट करते हैं।

३. विशिष्ट या असामान्य प्राकृतिक तत्त्वों से सम्बन्धित:— प्रकृति मे भूचाल, ज्वालामुखी, प्रलय आदि की जो विशिष्ट एव असामान्य घटनाएँ घटित होती है, इस वर्ग के मिथक उन्हीं के सम्बन्ध मे प्रकाश डालते है।

४. सृष्टि के जन्म सम्बन्धी:— इस श्रेणी के मिथक सृष्टि के जन्म और विकास से सम्बन्धित होते हैं जैसे भारतीय परम्परा मे मनु आदि की कथाएँ।

५. देवताओं के जन्म से सम्बन्धित:— इस वर्ग मे विभिन्न देवी-देवताओं के जन्म और महत्त्व सम्बन्धी मिथक रहते है, यथा सरस्वती, गणेश, कार्तिकेय आदि की जन्म कथाएँ।

६. मनुष्य, पशुओं और वस्तुओं के जन्म से सम्बन्धित:— मनुष्य, पशु और विभिन्न वस्तुओ के जन्म से सम्बन्धित कथाएँ इस श्रेणी मे आती है। यथा प्याज का शिव के सिर से गिरने के कारण दुर्गंध देना, नारियल, कटहल, काशीफल आदि के जन्म से सम्बन्धित कथाएँ इसी वर्ग की है।

७ रूपांतरण या आवागमन से सम्बन्धित:— मृत्यु के पश्चात् दूसरी योनि मे जीव किस प्रकार विभिन्न रूप धारण करता है इसकी व्याख्या मे प्रचलित कथाएँ रूपान्तरण या आवागमन से सम्बन्धित कहलाती हैं।

८. वीर नायक, परिवारों एवं राष्ट्रों से सम्बन्धित:— वीर परिवार कुल-कबीले (क्षत्रियों के विभिन्न कुलो की व्युत्पत्ति-कथाएँ), जाति या राष्ट्र के उदय से सम्बन्धित कथाएँ इसी वर्ग की हैं।

९. सामाजिक संस्थाओं एवं आविष्कारों से सम्बन्धित:— मनुष्य ने अपने जीवन को सुखी एवं पूर्ण बनाने के लिए बहुत सी सामाजिक सस्थाओ को जन्म दिया एव अन्य बहुत से आविष्कार किए है। इनकी व्याख्या मे प्रचलित कथाएँ इसी श्रेणी में है।

१०. दानवों और दैत्यों से सम्बन्धित:— दानव और दैत्यों का बुराई के रूप मे प्रतीकीकरण करती हुई अनेक कथाएँ प्रत्येक राष्ट्र की परम्परा मे प्राप्त होती है।

११. मृत्यु के बाद आत्मा की स्थिति:— मृत्यु के बाद मनुष्य की आत्मा स्वर्ग, नरक या अन्य किस स्थान पर जाती है, इस सबके रहस्योद्घाटन में प्रचलित

मिथक इस श्रेणी में है।

१२ ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बन्धित:— बहुत सी सत्य एवं ऐतिहासिक घटनाओं के विषय मे भी पौराणिक कथाएँ प्रचलित हो जाती है, वे इसी वर्ग की होती है।

यदि हम ध्यान से देखे तो गार्डनर द्वारा बतायी गयी बारह श्रेणियाँ लोककथाओ की ही विभिन्न श्रेणियाँ है। उपर्युक्त सभी शीर्षकों के विषय से सम्बन्धित लोककथाएँ प्राप्त होती है जो इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बाध्य करती है कि लोककथाओ को ही मिथक कह दिया गया है। वस्तुत. इन दोनो की सन्निकटता ही भ्रान्ति का कारण है। वास्तविकता यह है कि या तो उपर्युक्त बारह श्रेणियों की लोककथाएँ मिलती हैं या लोककथा की भित्ति पर ही तत्सम्बन्धी मिथक का विकास हुआ है। सृष्टि के विभिन्न तत्त्वो के ये व्याख्या-मिथक दतकथाओ से बिल्कुल अलग नही किए जा सकते।"[1]

मिथक और लोकसाहित्य के इतने घनिष्ट और अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को देखते हुए क्या यह मान लिया जाये कि दोनो समरूप या बिल्कुल एक ही हैं ? ऐसा मानना भ्रान्ति होगी। इतनी सन्निकटता होते हुए भी लोकसाहित्य और मिथक अलग-अलग है। मिथक-कथा और लोककथा का मुख्य अन्तर यह है कि मिथक में कल्पना का अश अधिक रहता है और लोककथा मे सत्य का अश, जो परम्परा द्वारा चला आकर अवश्य ही विकृत या परिवर्तित-परिवर्धित होता है। मिथक अपनी युगीन परिस्थितियों द्वारा हर युग मे एक नवीन व्याख्या और प्रेरणासूत्र ग्रहण करता है, किन्तु लोककथा का रूप इस प्रकार परिवर्तनशील नही होता। यही कारण है कि मिथक अपने युग-सत्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है। गाधारी, धृतराष्ट्र, कर्ण, द्रौपदी, अर्जुन आदि के मिथक आज अपनी नयी सम्भावनाओ के साथ प्रयुक्त हुए हैं। इसीलिए लोककथा मे मिथक के समान विश्वसनीयता नही होती। युग-सत्य की अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण मिथक कभी भी बासी- (आउट-डेटिड) समय-बाह्य नही होता। मिथक के लिए धार्मिक अथवा सास्कृतिक पृष्ठभूमि अनिवार्य है, किन्तु लोककथा के लिए ऐसा होना आवश्यक नहीं। किन्तु यह बात विशेष ध्यान रखने की है कि केवल देवी-देवता या धार्मिक पृष्ठभूमि के आने मात्र से लोककथा मिथक नही बन जाती। लोककथाओ मे भी देवी-देवता आदि के वृत्त होते है। राम-सीता, शिव-पार्वती, हनुमान, अग्नि आदि से सम्बन्धित न जाने कितनी लोक-

1. "It is difficult and perhaps impossible to distinguish the explanatory legend from the myth. Tales explaining the origins of customs or of the shape or nature of Various animals and plants of such distant objects as the stars, or even of the world itself often ascribe such origins to the action of same ancient animal or to some magic transformation"— Encyclopedia Britannica, Macropaedia, Vol. 7, Page 459.

गाथाएँ बिखरी पड़ी है। मिथक में कथा नहीं अपितु उसकी प्रतीकात्मकता प्रमुख होती है। कथा तो मिथक का ढाँचा मात्र है, मिथक कथा मे वर्णित घटनाएँ एवं तथ्य कोई विशेष महत्व नही रखते। मिथक का प्रत्यक्षीकृत (Perceptual) धरातल इतना महत्वपूर्ण नही होता जितना धारणात्मक (Conceptual) धरातल। मिथक का सत्य या घटना ऐतिहासिक सत्य से कोई सरोकार रखें, यह आवश्यक नही किन्तु लोककथा का कुछ न कुछ सत्य आधार, चाहे वह कभी-कभी प्रतीकात्मक ही हो, अवश्य होता है। मिथक मे लोक-साहित्य से बहुत ज्यादा लचीलापन (फ्लेक्सीबिलिटी) होता है, जो उसे चाहे जिस संदर्भ मे प्रयोगकर्त्ता की इच्छानुसार मोड दे देती है। युगनायक कृष्ण का मिथक एक कविता मे जन्माष्टमी की काली रात में जन्मे घोर भ्रष्ट नायक के रूप मे प्रयुक्त हुआ है।"[1] अभी--अभी द्रौपदी का मिथक एक कवि ने निर्वीय शासन की अकर्मण्यता और भ्रष्ट नौकरशाही आदि की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया है।"[2]

---

1. आज भी
जब कोई जरासघ नगर घेर लेता है
मेरे पुरुपत्व को ललकारता है
मैं चुपचाप भाग निकलता हू
अर्जुन जब हारने लगते हैं
धोखे से भीष्म मरवा देता हू
असत्य को जिताने के लिए
'अश्वत्थामा हतो' कहते शख बजा देता हू
मैं कृष्ण हूं
जन्माष्टमी की रात जन्मा हूं।" —गगा प्रसाद श्रीवास्तव, 'कल्पना' जुलाई 1957.

2. "लो आज फिर, द्रौपदी
दांव पर लगा दी गई, अब एक नही
कई--कई दुश्शासन
खीचेंगे उसका चीर,
द्रौपदी नगी होगी अबकी बार,
कोई महाभारत नही लडा जायेगा
भीष्म पितामह
शर--शय्या पर नही
डायलेसिस पर लेटे है
द्रोणाचार्य ने धनुर्विद्या नही
पत्थर फेंकना सिखाया है
अपने शिष्यो को
पत्थर फेंकने वाले
शीशे तोड सकते हैं
युद्ध नहीं लड सकते।" —रमेश दवे, 'सचेतना' मई 1970.

मिथक का प्रयोग साहित्य, लिखित या श्रेण्य साहित्य मे लोक-साहित्य से अधिक होता है। लोकसाहित्य की शैली का कहानी आदि मे प्रयोग हुआ है (यथा कमलेश्वर की 'राजा निरवसिया' आदि) किन्तु मिथक तो साहित्य के लिए कथ्य जुटाने का एक अमित भण्डार है। कवि कल्पना स्वत: ही मिथक के क्षेत्र मे प्रवेश कर जाती है। कवि को इसका भान भी सृजन-क्षणो मे नहीं होता। इसलिए आधुनिक साहित्य की विशेपत: काव्य की यह बहुत बडी विशेपता है कि वह मिथक का सार्थक और प्रचुर प्रयोग कर रहा है।"[1] कथ्य की दृष्टि से लोककथाओं का आधुनिक साहित्य मे प्रयोग बहुत कम हुआ है। 'सारिका' आदि कहानी-पत्रिकाओं मे कुछ लोक-कथाओ के आधुनिक सस्करण वर्तमान जीवन-स्थितियो पर व्यग्य करने के लिए अवश्य प्रकाशित हुए हैं किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नही कि लोक-कथा या लोक-साहित्य का महत्त्व मिथक से न्यून है। दोनो ही हमारी जातीय धरोहर है। प्रश्न यहाँ यह है कि दोनो साहित्य को किस प्रकार सामग्री प्रदान करते है। प्राचीन साहित्य विशेपतः भक्ति-साहित्य या उससे भी पहला राम-कृष्ण-शिव आदि कथाओ का साहित्य लोकसाहित्य की भित्ति पर ही खड़ा हुआ। ये मिथक-कथाएँ लोक-कथाओ का ही आधार पाकर विकसित हुई है। इसलिए मिथक और लोकसाहित्य दोनो ही हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

मिथक की प्रक्रिया सतत परिवर्तनशील रहती है। इस परिवर्तन के मूल में युग की सामाजिक-आर्थिक (सोसिओइकोनॉमिक) स्थितियो का विशेप योगदान रहता है किन्तु लोकसाहित्य को हम कम से कम विकृत देखना चाहते हैं। अपने मूल रूप मे ही वह अधिक श्रेयस्कर है। यही कारण है कि टेपरिकार्डर आदि के माध्यम से लोकसाहित्य के मूलरूप, उच्चारण तक के मूल रूप और ध्वनियो को सुरक्षित करने के प्रयास किए जाते है।

इस प्रकार लोकसाहित्य और मिथक का अत्यन्त निकट का अन्योन्याश्रित सम्वन्ध होते हुए भी दोनो एक दूसरे से पृथक् है और राष्ट्रीय सामाजिक जोवन में दोनो की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

□

हिन्दी-विभाग
मोदी कालेज,
पटियाला (पंजाव)

1 "Paradoxically enough, one of the main marks of 'modernise' in literature is often a lively interest in the past for its own sake"- G. S Frazer, 'Modern writer of this world.

लोक-साहित्य : प्रतीक एवं बिम्ब

एल० बी० राम 'अनन्त'

लोकसाहित्य शिष्टसाहित्य की तुलना मे वही भूमिका निभाता है जो भूमिका कच्चा माल या अध कच्चा माल पक्के माल की सापेक्षता मे निभाता है। यह उन बोलियों मे होता है जो परिष्कृत होकर भाषा, राष्ट्रभाषा या सम्पर्कभाषा के स्तर पर पहुँचती है। इन बोलियों की ध्वनियाँ रूप तथा वाक्य मानस मे जिन ध्वनि-बिम्बो को हमारे मानस मे जगाते है वे निश्चय ही अपनी प्रभावशक्ति मे भाषा के इन्ही बिम्बो से भिन्न होते है। यहाँ इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि बोली और भाषा दोनो मे ध्वनियो के प्रायः सादृश्य होने पर भी बोली के स्तर पर इनका उच्चारण मानस मे जो ध्वनि-बिम्ब जगाता है वह भाषा के स्तर पर होने वाले उच्चारण से इतना भिन्न ध्वनि-बिम्ब का उद्बोधक है कि हमे अन्तर का अनुभव करने में कभी कोई कठिनाई नही होती।

ध्वनि बिम्ब :—

ये ध्वनि बिम्ब प्राय स्वरो और बहुत दूर तक व्यञ्जनो से निर्मित होते है। ये संवृत-विवृत तथा ह्रस्व-दीर्घ-उच्चारण से सकोच-विस्तार लघुता-क्षिप्रता तथा दीर्घता का बिम्ब बनाते है। संगीतज्ञ स्वरों से विभिन्न ध्वनि बिम्बो का निर्माण करते है, जिनका प्रत्यक्ष ध्वनि प्रभाव के रूप मे वक्ता या गायक तथा श्रोता करते है। बोली का प्रयोग करने वाला लोकबोली को सजीव-सत्ता के रूप मे ही ग्रहण करता है। क्योकि वह लिपि का उपयोग न करने के कारण बोली को सीधे व्यक्ति से अनुकृति के रूप मे प्राप्त करता है। अनुकृति कलात्मक हुआ करती है। बच्चो की बोली से इस कलात्मकता का अनुमान सहज ही हो सकता है। लोकमानस का सादृश्य बाल-मानस से बहुत अधिक रहता है क्योकि वह अपने वातावरण की सापेक्षता मे इतना ही विकास कर पाता है कि वह तर्कशील होकर बाल-मानस से दूर न निकल पाए। यही कारण है कि लोक सदस्य बोली का प्रयोग करते समय बच्चो की अनुकृति कलात्मकता को उसमे सुरक्षित रखता है। यह कलात्मकता लोक सदस्य के व्यक्तित्व का अङ्ग बनी रहती है। अत जब कोई शिष्टसाहित्य का लेखक या आलोचक उसे बोलते हुए देखता है तब उसे उसकी बोली मे स्वाभाविक कलात्मकता सन्निहित दिखाई पड़ती है।

बोली का उपयोग करने वाला लोक ध्वनि बिम्बो को केवल ध्वनि तरङ्गो के

सूक्ष्म रूप मे ही ग्रहण नही करता क्योकि उसकी दृष्टि में अभिधान तथा अभिधेय इतने अभिन्न होते है कि दोनो की पृथक् सत्ता का उसे वोध ही नही होता। जब वह 'राम-राम' कहता है तव यह शब्द उसके लिए मूर्त्तिमान राम ही होता है जो शील–शक्ति–सौंदर्य का मूर्त्तरूप है। लोक मे गालियो के प्रभाव को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि लोक ध्वनि-विम्बो का प्रत्यक्ष किस स्तर पर करता है। वह ध्वनि विम्वो को इस प्रकार मूर्त्त करके प्रत्यक्ष करने का अभ्यासी है कि सत्ताहीन तथ्य भी मूर्त्त हो जाते है। किसी बच्चे को डराने के लिए जव हम कहते है, 'हव्वा आ गया' तो वच्चा अपने वालमानस मे उसे प्रत्यक्ष कर भय से चुप हो जाता है, ठीक इसी प्रकार लोक-मानस भी केवल ध्वनि विम्व के आधार पर अनेक रहस्यमय सत्ताओ को अपने लोक-मानस मे स्थान दिए रहता है।

लोक-मानस सहज वृत्त्यात्मक होने के कारण सहज सङ्गीत का धनी होता है। पक्षियो के उपा-गान की तरह उसकी वोली सङ्गीतात्मक होती है। लोक बोलती वाणी का उपयोग करता है। अत. मौन वाणी की सत्ता का उसे बोध नही होता। लिखित रचना का आस्वादन करने पर मौन-वाणी मानस मे मुखर वाणी से पृथक् अपनी सत्ता वनाती है। लोक लिखित रचना का उपयोग नही करता। अतः वह मौन वाणी से परिचित भी नही हो पाता। मौन-वाणी के साथ लिपि एक पृथक् विम्व के रूप मे भापा से सश्लिष्ट होती है। लोक–लिपि विम्ब से प्राय. अपरिचित रहता है। उसकी लिपि लोक-चित्रकला के स्तर पर रहती है। जो लोक सदस्य लिपि का उप-योग करने लगता है उनका मानस लोक-मानस से कुछ दूर हटने लगता है।

लोक की स्वर-प्रधान वोली माधुर्य ओज प्रसाद गुणो को स्वाभाविक रूप मे ग्रहण किए चलती है। मधुर ओजपूर्ण या प्रसादात्मक प्रभाव लोक-हृदय से वोली मे सहज रूप मे ढलकर श्रोता हृदय को प्लावित कर देते है। इन प्रभावो को ध्वनि विम्वो के रूप मे देखा जा सकता है। यह सत्य है कि लोकध्वनि विम्वो के उपयोग सजग स्तर पर नही करता वल्कि सहज अभिव्यक्ति के स्तर पर करता है। इनकी अभिव्यक्ति स्वप्नों की तरह अवचेतन-उद्भूत होने से सही अर्थों में दिवा-स्वप्न कहलाने की अधिकारिणी होती है। इस दिवा स्वप्न की भापा भी अभिव्यक्ति से सयुक्त हो व्यक्त होती है क्योकि लोक सदस्य भाव-परिचालित अधिक होता है तर्क वुद्धि परि–चालित नही के वरावर। लोकभापा की इस विशेष स्थिति के कारण उसके स्वर व्यञ्जन दोनो ही ऐसे विम्बो का निर्माण करते चलते हैं जिन्हे अभिव्यक्त वस्तु या व्यापार को रूपायित करने वाला कहा जा सकता है। एक लोकगीत का परीक्षण इस दृष्टि से करें—

कच्ची अम्वली गदराई फागण मै
  जा कइयो मेरे ससुर भले सैं
गौणा ले जइयो, पीहर मैं
  जा कहियो उस बहुअड़ भली सैं

चार महिन्ने गम खा जा पीहर मै

यहाँ कहने वाली 'कच्ची अम्वली' का प्रयोग करके एक ऐसा बिम्व ला रही है जो तुच्छ-उपेक्षित है। इसमे 'अ' तथा 'ई' स्वरो का प्रयोग है जो सवृत है अत. आँवी के सकुचित रूप अर्थात् छोटेपन के विम्व को सामने लाते है। व्यञ्जन स्पर्श (Stop) होने के कारण अवरोध के द्योतक है। इनमे भी कच्ची मे कठोर व्यञ्जन है जिससे वक्ता का कठोर भाव परिलक्षित होता है। अम्बली मे अपेक्षाकृत अधिक कोमल व्यञ्जन है जिनसे यह विम्ब बनता है कि अम्वली भी कोमलता या सौदर्य को प्राप्त कर रही है। यह पिछला विम्व गदराई से पूर्णत मूर्त्तिमान होता है। सम्पूर्ण ध्वनियो के उच्चारण से ऐसा ध्वनि विम्व बनता है मानो अम्वली 'ग' 'द' 'रा' तक विकसित हो गई है और 'ई' के उच्चारण के साथ अपने यौवन भार को लिए झुक आई हो। फागण मे अ के उच्चारण से आ के विवृत्त और 'फ' के महाप्राण होने से 'विकास' का विम्ब बना है जो 'ग' 'ण' मे तीव्र गति से वढकर कोमलता समन्वित हो फैल जाता है। 'जा कइयो मेरे ससुर भले सैं' मे 'ससुर' मे व्यञ्जन तथा स्वर दोनो ही गति और 'लघुता' के विम्ब विधायक हैं। इससे श्वसुर का कुछ लघु रूप सामने आता है जो कदाचित् किसी हवा मे वह रहे है। शेप पदो को दीर्घ स्वर वक्ता के मन के भारीपन को मूर्त्तिमान करते है। 'गौना ले जाइयो पीहर मैं' भारीपन का ही विम्व है। ले जाइयो मे शीघ्रता करने की आकुलता का ध्वनि-विम्ब देखा जा सकता है। श्वसुर के उत्तर के उच्चारण से जो ध्वनि विम्ब वनता है वह उसके गौरव के भारीपन को व्यक्त करता है तथा 'बहुअड़' के ह्रस्व स्वर तथा 'ड' व्यञ्जन वहू के ओछेपन को विम्वायित करते है।

इन ध्वनि-विम्वो की वैज्ञानिकता पर सन्देह किया जा सकता है किंतु उच्चारण के अवयवो की गतिशीलता और स्थितियो पर ध्यान ले जाया जाए तो ऐसा प्रतीत होगा कि भापाओ मे ध्वनि-विम्व की स्थिति भी एक तथ्य है जिसे एकदम अवैज्ञानिक कहकर अस्वीकार नही किया जा सकता। ये विम्व गीतो तथा लोकगाथाओ मे सहज ही देखे जा सकते हैं। अन्य लोक-साहित्य की विधाएँ भी इनसे समन्विन दिखाई पडती है। गीतो मे ताल-लय के उपयोग के कारण इन विम्वो का उपयोग अधिक है। छन्दो के गठन और प्रवाह पर इनका विशेप प्रभाव देखा जा सकता है।

रूप-वाक्य-बद्ध विम्ब :

वस्तुत. वोली की मूल इकाई वाक्य ही होता है और पद उसे गठित करने वाला सघटक। वाक्य द्वारा सकेतित और मानस मे जगने वाले विम्ब लोकसाहित्य मे विस्तृत पट पर व्यवस्थित होकर मानस मे विम्वो को जगाकर अभिनव ससार वसाते चलते है। वस्तुत. जगत के सभी दृश्य मानस में विम्ब (image) वनाते है, इस प्रकार प्रथम वार विम्ब निर्मित करने का श्रेय वाह्य दृश्यों को ही है जो पंच ज्ञानेन्द्रियो द्वारा मानस मे विम्वो को सस्कार रूप से सुरक्षित रखने मे नित्य कार्यशील रहते हैं। भापा वाह्य दृश्यो की सकेतक होने के कारण मानस मे पहले से प्रतिष्ठित विम्वो को जगाती हैं। लोकमानस प्राय. तर्कहीन होने के कारण बिम्वो की ही क्रीड़ा-

करने पर 'चक्की' और 'धनिया' को प्रतीक माना जा सकता है। नृतत्त्व विज्ञान के अनुसार इनका सबध अपने समुदाय से होना चाहिए। मोहनजोदडो की एक सील मे एक नारी अधोमुख है तथा उसकी टाँगो के मध्य से पीपल की टहनियाँ निकली दिखाई पड़ती है। दोनो बिम्बो का साम्य देखा जा सकता है। फ्रायड के मनोविज्ञान के अनुसार यह उत्तम दिवा-स्वप्न का निदर्शन है जिसे इच्छापूर्ति कहा जा सकता है।

प्रतीक—

यह स्पष्ट है कि बिम्ब ही प्रतीक मे उस समय ढल जाते हैं जब वे दूसरे बिम्ब को व्यजित करते है अथवा साभिप्राय होते है। लोकगाथाओ और लोककथाओ मे प्रतीको का प्रयोग सर्वाधिक दिखाई पड़ता है। कथानक रूढ़ियो तथा अभिप्रायो के रूप मे प्राय प्रतीकात्मक बिम्ब मिलते है। आत्मवाद (Animism) प्रायः जगत् की सभी सत्ताओ को देवी, देवता, अतिमानवीय शक्ति का प्रतीक बना देता है। फ्रायड ने जिन यौन प्रतीको की बात की है वे तो सभी लोकसाहित्य विधाओं मे देखे जा सकते है। युग ने समूहावचेतन (Collective Unconscious) की व्याख्या प्राचीन मिथकिय कथाओ के आधार पर करने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। लोककथाओं मे युग द्वारा निर्दिष्ट अह के विकास और संघर्ष को द्योतित करने वाले प्रतीको को सहज ही देखा जा सकता है। इस लघु निबन्ध में कथा देकर प्रतीको की स्थिति को स्पष्ट करने का अवकाश नही है। डॉ० सत्या गुप्ता ने 'झिलमिल का पेड़' नामक कहानी मे कुछ प्रतीको को स्पष्ट किया है। यहाँ उसे ही देकर इस प्रसंग को समाप्त किया जाता है—'झिलमिल का पेड़' समृद्धि का प्रतीक है। राजा का बेवकूफ कहलाने वाला लडका उसके लिए प्रयत्न करने के लिए निकल पड़ता है। रास्ते मे बहुत सी कठिनाइयाँ आती है सर्प उन्ही कठिनाइयो का प्रतीक है जिनको वह लड़का जीत लेता है। अपने प्रयत्नो में बुढ़िया (बुद्धि) का सहारा भी लिए रहता है जिसकी मदद से वह झिलमिल का पेड़ प्राप्त कर लेता है। परन्तु जब वह सो जाता है तो छद्मवेशी चार साधु (काम, क्रोध, मोह, लोभ) झिलमिल का पेड़ चुरा ले जाते है। फिर हीरामन तोते के रूप में अपनी बुद्धि को याद करता है। वही उसे लाकर झिलमिल का पेड़ देता है और घर तक पहुँचा आता है।

प्रतीकों से मूल अभिप्राय या पुरा रूप (Arche-type) का पता लगाना अध्येता का कार्य है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार स्वप्न देखने का कार्य किसी और का तथा उसका विश्लेषण करने का काय मनोविज्ञानशास्त्री का है। फ्रायड के दृष्टिकोण से झिलमिल का पेड़ नारी-सेक्स का प्रतीक होगा, जिसे प्राप्त करने के लिए अवचेतन मूढ़ अह बाहर की ओर यात्रा करेगा। सर्प उसका अपना सेक्स है जिस पर उसे हावी होना है। चार साधु उसके अति अहं की उदात्त वृत्तियाँ हैं जो उसे नारी-सेक्स से वंचित करना चाह[illegible] न तोता उसका इड या लिबिडो है जो उसे

नारी-सेक्स को प्राप्त कराता है। युग भी इसकी व्याख्या अह (Ego) के विकास और संघर्ष की यात्रा के रूप मे करेंगे और बतायेंगे कि पुरुष-तत्त्व ने झिलमिल के पेड़। के रूप में नारी-तत्त्व को प्राप्त करके अपने को ससार मे रहने के अनुकूल बनाया है

इस विवेचन से स्पष्ट है कि लोकसाहित्य का अध्ययन बिम्ब प्रतीक की दृष्टि से बहुत व्यापक स्तर पर गहराई मे जाकर किया जा सकता है। इसके द्वारा हम लोकमानस को अधिक स्पष्टता के साथ ग्रहण कर सकेंगे। उसके यथार्थ रूप के उद्-घाटन से लाभ यह होगा कि हम उसे उचित परिष्कार और दिशा देने के क्षेत्र में अधिक सजगता और सावधानी से कार्य कर सकेंगे। हम लोक को ऐसा साहित्य दे पायेंगे जो इनको नयी दिशा दे सके। इनकी आर्थिक एव राजनैतिक समस्याओ के समाधान मे भी इससे पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

—हिन्दी–विभाग
एम० एम० एच० कालेज
गाजियाबाद (उ० प्र०)

□

———

लोक-संस्कृति और लोकेतर संस्कृति मे उतना ही अन्तर है जितना श्रद्धा और तर्क, सहज और सजावट मे होता है। लोक-संस्कृति प्रकृति की गोद में पलती और पनपती है; लोकेतर संस्कृति आग उगलती हुई चिमनियों, हुकार करती हुई मशीनो और विद्युत-बल्वो से प्रदीप्त नगरो मे निवास करती है। लोक–संस्कृति के उपासक या संरक्षक बाहर की पुस्तकें न पढकर अन्दर की पुस्तकें पढते है; उनके हृदय-सरोवर मे श्रद्धा के सुमन सदैव फूले रहते है; लोकेतर सस्कृति के उपासकों, सरक्षको मे धन, पद, शिक्षा का स्वाभिमान रहता है; उनके हृदयो मे तर्क की चिनगारियाँ सुलगती रहती है।

—गोपीनाथ कविराज

भूमि रहता है। ये विम्व रूढ़ या परम्परागत तथा रूढिहीन या नवीन होते है। लोक द्वारा व्यवहृत वोली द्वारा ये विम्व लोकसाहित्य मे स्थान पाते रहते है। इस साहित्य का अधिकाश परम्परागत होने से प्राय. परिवर्त्तन परिवर्द्धन के क्रम मे ही नवीन हुआ करता है। इस प्रक्रिया के कारण रूढ़ विम्व नव विम्वो से सपृक्त होते रहते हे तथा प्रतीको का निर्माण करते है। ज्योही एक विम्व किसी अन्य विम्व को व्यक्त करने लगता है, त्योही वह विम्व मे परिणत हो जाता है।

लोकगीतो मे विम्व प्राय. प्रतीक नही वनते। इनमे विम्व ही सीधे सम्मुख आते है। इनमे एक से अधिक विम्व वहुत कम सश्लिप्ट हो पाते हैं, यही कारण है कि इनकी व्यवस्था अलकारो के रूप मे वहुत कम होती हे। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति आदि सहज अलकार ही कही-कही दिखाइ पड़ते है। एक सावन का गीत लें—

एजी, आया है सावन मास, हिंडोले गडाइयो जी महाराज।
रेसम झूल वटाय हिंडोले डालियो जी महाराज।
एजी, झूलेगी छोटी वड़ी नार, झोटे देगे हाकमाँ जी
रिमझिम है वरसै मेह, राजा तो भेजे है आवकूँ महाराज।
एजी, चुंदड़ी को धरा उतार, ओढो काली कमली जी महाराज।

इन पक्तियो मे सीधे विम्व है जो नेत्रेन्द्रिय-ग्राह्य है। 'रिमझिम वरसै मेह' मे ध्वनि विम्व है। कही भी विम्व अलकार की स्थिति मे प्रयुक्त नही है। ये विम्व नायक-नायिका तथा उद्दीपन विभाव को पूर्णत पुप्ट रूप मे प्रस्तुत करते हैं तथा रतिभाव को जगाकर उसे रस तक पहुंचाने मे पूर्णरूपेण सक्षम है। ये विम्व रसात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के साथ भारतीय सस्कृति की एक मनोरम झाँकी प्रस्तुत करने मे समर्थ है।

अलकारो के रूप मे प्रस्तुत किए जाने पर ये विम्व शास्त्रीय अलकारो के लक्षणो के अनुसार ही नही प्रस्तुत दिखाई पड़ते। एक उपमा देखे—

चन्दा जैसी चाँदनी, गुलाव जैसा फूल
सूरज जैसी किरन मोहे, राम दिया ललना।

यहाँ प्रस्तुत विम्व 'ललना' है। इसी के लिए अप्रस्तुत विम्वो को लाया जाना चाहिए। किन्तु लोक-गीतकार चन्दा सी चाँदनी, गुलाव सा फूल, और 'सूरज सी किरन' का प्रयोग करता है। वस्तुतः उपमा का वैसा ही प्रयोग यहाँ नहीं है जैसा शास्त्रीय दृष्टि से होना चाहिए। लोक-गीतकार वच्चे की दीप्ति और विकास को चन्द्रमा की किरण, गुलाव के फूल और सूरज की किरण जैसा कह रहा है किन्तु उसे ऐसी व्यवस्था मे रखता है कि प्रथम वार भ्रम के लिए अवकाश तो हो ही जाता हे। लोक का ध्यान उपमा का प्रयोग करते समय ऐसे साधर्म्य पर भी गया दिखाई पड़ता है जो हास्य के भाव को भी जगा सके—

भातियों की मूँछ जैसे कुत्ते की पूँछ

मत पाड़ियो रे लाल, वो तो विचारा गरीबड़ा।
भातियो के कान जैसे फूट्टी दुकान
गद्दे मत बाढ़ियो रे लाल, वो तो विचारा गरीबडा।

यहाँ लोक की बिम्ब-विधायिनी सहज शक्ति को देखा जा सकता है। उपमा परिणाम-अलंकार तक पहुँच गई है। कान में गद्दे नही बढ़ाये जा सकते, दुकान मे ही बढ़ाये जा सकते हैं।

रूढ़ बिम्बो में प्राय वे बिम्ब है जो धर्म, अवदान, कथा आदि द्वारा लोक-कंठ में सुरक्षित रहते आए हैं। इन बिम्बो मे लोक अपने सम-सामयिको को देखने सुनने का अभ्यासी होता है। उसके राजा राम, कृष्ण, शिव, पार्वती, सीता, सावित्री, आदि उसके समकालीन व्यक्ति भी होते हैं। रामलीला मे राम बनने वाला अभिनेता राम ही होता है तथा उनके लिए परम पूज्य बन जाया करता है। वह रूढ बिम्ब और वर्तमान बिम्ब को उस सीमा तक सम्पृक्त करता है कि रूढ़ बिम्ब प्रतीक मे बदलता सा दिखाई पडता है। एक बिम्ब देखे—

उठ मिल लो राम भरत आये
भूरी-सी हथिनी पै जरद अम्बरी—
ऊपर चँवर ढुलत आये।
राह रघुवर अगन लिपाया
मोतियन चौक पुरत आये।
बहियाँ पसार मिले चारो भइया
नैनों से नीर ढलत आये।

इन बिम्बो की प्राणवत्ता गायको द्वारा अपने बिम्बों को उनमें प्रत्यक्ष करने में ही है।

बिम्बो के पारस्परिक सम्बन्ध को लोक उसी रूप मे नही देखता जिस रूप मे वे प्रकृति मे दिखाई पड़ते है। संबधातिशयोक्ति जैसी बिम्बो की स्थितियाँ प्राय: देखने में आती हैं—

चक्की तले मैंने धनिया वोया, हाँ सहेली धनिया वोया।
धनिये के दो किल्ले फूटे, हाँ सहेली किल्ले फूटे।
किल्लो की मैंने गऊ चराई, गउओ ने मुझे दुध्धा दिया,
हाँ सहेली दुध्धा दिया।
दुध्धे की मैंने खीर पकाई, हाँ सहेली खीर पकाई।
खीर पका मैंने वीरन जिमाये, हाँ सहेली वीरन जिमाये।
वीरन ने मुझे चूंदरी दी
चूंदरी मेरी झमकै, सास मेरी चमकै।

यहाँ चक्की तले धनिया वोना और उसमे कल्ले फूटना ऐसे बिम्ब है जो प्रकृति व्यापार मे प्राप्त सबध के अनुकूल नहीं हैं। ऐसी स्थिति मे सगति की खोज

करने पर 'चक्की' और 'धनिया' को प्रतीक माना जा सकता है। नृतत्त्व विज्ञान के अनुसार इनका संबंध अपने समुदाय से होना चाहिए। मोहनजोदड़ो की एक सील मे एक नारी अधोमुख है तथा उसकी टाँगो के मध्य से पीपल की टहनियाँ निकली दिखाई पड़ती है। दोनो विम्बो का साम्य देखा जा सकता है। फ्रायड के मनोविज्ञान के अनुसार यह उत्तम दिवा-स्वप्न का निदर्शन है जिसे इच्छापूर्ति कहा जा सकता है।

प्रतीक—

यह स्पष्ट है कि विम्ब ही प्रतीक मे उस समय ढल जाते हैं जब वे दूसरे विम्ब को व्यजित करते हे अथवा साभिप्राय होते हैं। लोकगाथाओ और लोककथाओ मे प्रतीको का प्रयोग सर्वाधिक दिखाई पड़ता है। कथानक रूढ़ियो तथा अभिप्रायो के रूप मे प्राय प्रतीकात्मक विम्ब मिलते है। आत्मवाद (Animism) प्रायः जगत् की सभी सत्ताओ को देवी, देवता, अतिमानवीय शक्ति का प्रतीक बना देता है। फ्रायड ने जिन यौन प्रतीकों की बात की है वे तो सभी लोकसाहित्य विधाओ मे देखे जा सकते हैं। युग ने समूहावचेतन (Collective Unconscious) की व्याख्या प्राचीन मिथकिय कथाओ के आधार पर करने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। लोककथाओं मे युग द्वारा निर्दिष्ट अह के विकास और सघर्ष को द्योतित करने वाले प्रतीको का सहज ही देखा जा सकता है। इस लघु निवन्ध मे कथा देकर प्रतीको की स्थिति को स्पष्ट करने का अवकाश नही है। डॉ० सत्या गुप्ता ने 'झिलमिल का पेड़' नामक कहानी मे कुछ प्रतीको को स्पष्ट किया है। यहाँ उसे ही देकर इस प्रसग को समाप्त किया जाता है—'झिलमिल का पेड़' समृद्धि का प्रतीक है। राजा का वेवकूफ कहलाने वाला लडका उसके लिए प्रयत्न करने के लिए निकल पड़ता है। रास्ते मे वहुत सी कठिनाइयाँ आती है सर्प उन्ही कठिनाइयो का प्रतीक है जिनको वह लड़का जीत लेता है। अपने प्रयत्नो मे बुढ़िया (वुद्धि) का सहारा भी लिए रहता है जिसकी मदद मे वह झिलमिल का पेड़ प्राप्त कर लेता है। परन्तु जव वह सो जाता है तो छद्मवेशी चार साधु (काम, क्रोध, मोह, लोभ) झिलमिल का पेड़ चुरा ले जाते हैं। फिर हीरामन तोते के रूप मे अपनी वुद्धि को याद करता है। वही उसे लाकर झिलमिल का पेड़ देता है और घर तक पहुंचा आता है।

प्रतीको से मूल अभिप्राय या पुरा रूप (Arche-type) का पता लगाना अध्येता का कार्य है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार स्वप्न देखने का कार्य किसी और का तथा उसका विश्लेषण करने का काय मनोविज्ञानशास्त्री का है। फ्रायड के दृष्टि-कोण मे झिलमिल का पेड़ नारी-सेक्स का प्रतीक होगा, जिसे प्राप्त करने के लिए अवचेतन मूढ अह बाहर की ओर यात्रा करेगा। सर्प उसका अपना सेक्स है जिस पर उसे हावी होना है। चार साधु उसके अति अह की उदात्त वृत्तियाँ हैं जो उसे नारी-सेक्स से वचित करना चाहती है। हीरामन तोता उसका इड या लिविडो है जो उसे

नारी-सेक्स को प्राप्त कराता है। युग भी इसकी व्याख्या अहं (Ego) के विकास और संघर्ष की यात्रा के रूप में करेंगे और बतायेंगे कि पुरुष-तत्त्व ने झिलमिल के पेड़ के रूप मे नारी-तत्त्व को प्राप्त करके अपने को ससार मे रहने के अनुकूल बनाया है

इस विवेचन से स्पष्ट है कि लोकसाहित्य का अध्ययन बिम्ब प्रतीक की दृष्टि से बहुत व्यापक स्तर पर गहराई में जाकर किया जा सकता है। इसके द्वारा हम लोकमानस को अधिक स्पष्टता के साथ ग्रहण कर सकेंगे। उसके यथार्थ रूप के उद्घाटन से लाभ यह होगा कि हम उसे उचित परिष्कार और दिशा देने के क्षेत्र में अधिक सजगता और सावधानी से कार्य कर सकेंगे। हम लोक को ऐसा साहित्य दे पायेंगे जो इनको नयी दिशा दे सके। इनकी आर्थिक एव राजनैतिक समस्याओं के समाधान मे भी इससे पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

—हिन्दी–विभाग
एम० एम० एच० कालेज
गाजियाबाद (उ० प्र०)

□

— — — —

लोक-संस्कृति और लोकेतर संस्कृति मे उतना ही अन्तर है जितना श्रद्धा और तर्क, सहज और सजावट मे होता है। लोक-सस्कृति प्रकृति की गोद मे पलती और पनपती है; लोकेतर संस्कृति आग उगलती हुई चिमनियों, हुंकार करती हुई मशीनो और विद्युत-बल्वो से प्रदीप्त नगरो मे निवास करती है। लोक–संस्कृति के उपासक या संरक्षक बाहर की पुस्तके न पढ़कर अन्दर की पुस्तकें पढते है; उनके हृदय-सरोवर मे श्रद्धा के सुमन सदैव फूले रहते है; लोकेतर सस्कृति के उपासको, सरक्षको मे धन, पद, शिक्षा का स्वाभिमान रहता है; उनके हृदयो मे तर्क की चिनगारियाँ सुलगती रहती है।

—गोपीनाथ कविराज

लोक-साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

कला कुमार

लोकसाहित्य लोक-जीवन के विविध रूपों की विविध छवियों मे सच्ची अभिव्यंजना है। लोक-सस्कृति लोक-जीवन मे निहित विभिन्न-रीति-रिवाजों रूढियो, परम्पराओ, सस्थाओं, सामाजिक संगठनो, भापा, धर्म, कला, विज्ञान, कानून, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था, मशीनो एव तकनीकी क्रियाकलापो तथा उन समस्त उपकरणो का समग्र रूप है, जिनका जन-जीवन मे सामान्य अथवा विशेप–किसी भी रूप मे उपयोग होता है। यह सस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सामाजिक विरासत (Social Heritage) के रूप मे प्राप्त होती है और प्रत्येक पीढी इसको परिवर्तित एव परिवर्द्धित करती है। अत. लोक-संस्कृति लोक-जीवन की गतिशील परम्पराओ एवं क्रियाकलापो का समग्र रूप है। इसी वात की झलक हमे पाश्चात्य विद्वान् टायलर के इस कथन मे मिलती है जिसमें उन्होंने स्पष्ट किया है "सस्कृति वह मिश्रित पूर्ण व्यवस्था है जिसमे वे समस्त ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता के सिद्धान्त, विधि-विधान, प्रथाएँ एवं अन्य समस्त योग्यताएँ तथा आदतें सम्मिलित है जिन्हे व्यक्ति समाज के सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।" मेकाइवर ने इसी को अपने शब्दों मे कहा है "संस्कृति हमारे दैनिक व्यवहार मे कला, साहित्य, धर्म, मनोरजन और आनन्द मे पाये जाने वाले रहन-सहन और विचार के तरीको मे हमारी संस्कृति की अभिव्यक्ति है।" अत स्पष्ट है कि संस्कृति का क्षेत्र वहुत व्यापक है, जहाँ यह एक ओर ठोस उपकरणो के कार्य व्यापारों को अपने मे समाहित करती है, वहाँ मानव की सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रवृत्तियों एव मनोदशाओ का इसमें नैसर्गिक अकन होता है। "हमारी प्रवृत्तियाँ, विश्वास और विचार, हमारे निर्णय और मूल्य, हमारी सस्थाएँ-राजनीतिक वैज्ञानिक, धार्मिक, और आर्थिक, हमारी नैतिक संहिताएँ और शिप्टाचार के नियम हमारी पुस्तकें और यत्र, हमारे विज्ञान एवं दर्शन वे सव और दूसरी वहुत–सी चीजें संस्कृति मे सम्मिलित हैं।" हम उपयुक्त विवेचन से पाते है कि कोई भी सस्कृति अपने सर्वाधिक वैज्ञानिक रूप मे लोक संस्कृति ही है, यहाँ हम लोक सस्कृति की इन्ही पृष्ठ-भूमियो का विवेचन एव महत्त्वांकन प्रस्तुत करने जा रहे है जिनकी विशद अभिव्यक्ति लोकसाहित्य के अन्तर्गत देखने को मिलती है।

लोक-जीवन में लोक–सस्कृति के विकास क्रम के तीन ही रूप मुख्य रूप से उभर कर सामने आये हैं। १. पारिवारिक जीवन २. सामाजिक जीवन और ३.

उन्हीं दोनों की पृष्ठभूमि मे विश्व-बन्धुत्व की उदात्त परिणति। वैसे, राष्ट्रीय जीवन की अभिव्यक्ति भी लोक-जीवन मे प्रचुर रूप से मिलती है किन्तु यह सर्वत्र समभाव एवं समान रूप से नही मिलती।

१ पारिवारिक जीवनः-

पारिवारिक जीवन में धुरी के रूप मे नारी' का अस्तित्त्व है जिसके ऊपर परिवार की गाडी चला करती है। नारियाँ यदि सौम्य, सुशील, सुगृहिणी हुई तो वह परिवार सुख शान्ति का अक्षय भंडार बना होता है, और यदि वे कलहरूपिणी कर्कशा हुई तो सम्पूर्ण परिवार की स्थिति ही अस्त-व्यस्त हो जाती है। सुशिक्षित एव सुसंस्कृत नारियाँ जहाँ अपनी भावी सन्तान को सुशिक्षित एव सुसस्कृत बनाकर आदर्श रूप में प्रस्तुत करने मे सक्षम हैं, वहाँ दूसरी ओर कुलशीलहीना, कर्कशा एवं असस्कृत नारियाँ अपनी भावी सन्तान को 'समाज का कोढ' के रूप मे प्रस्तुत कर महान् अमंगल एवं अहित की जननी बनती हैं। लोकसाहित्य मे जहाँ आदर्श पतिव्रता नारियो का उल्लेख है, वहाँ ऐसी नारियों का भी उल्लेख पाया जाता है जो विधवा होने के लिए सूर्य भगवान से प्रार्थना करती है। जहाँ माता-पुत्री का पावन प्रेम दिखलाया गया है, वहाँ सास-बहू तथा ननद-भौजाई के कटु एवं विषाक्त व्यवहारो का भी वर्णन प्रचुर हुआ है। भाई और बहन के निस्पृह, पवित्र और दिव्य प्रेम का वर्णन करने के लिए जो भी विशेपण प्रयुक्त हुआ है, वह हृदय को छुए बिना नही रहता।

भाई-भाई के घनिष्ठ आत्मीय प्रेम-सम्बन्ध के उल्लेखो के साथ ही देवर-भाभी के भी सम्बन्धों की प्रशसनीय उद्भावना लोकसाहित्य मे मिलती है।

मित्र-मित्र के मधुर एवं दिव्य सम्बन्धो को भी अभिव्यक्ति सहज सौम्य रूप मे मिलती है, जिसे एक पारिवारिक परिवेश मे प्रस्तुत किया गया है। माँ की ममता, पिता का प्यार, बहन-भाई का पावन स्नेह, मित्रमडली का आत्मीय भाव, देवर-भावज, ननद-भौजाई आदि के सम्बन्धों का स्पप्ट रूप लोकसाहित्य मे द्रप्टव्य है। तात्पर्य यह है कि लोकसाहित्य में लोक जीवन के उभय पक्षों सुन्दर और असुन्दर, मंगल और अमंगल को अपने यथार्थ रूप मे अभिव्यक्त कर हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है।

२ सामाजिक जीवनः-

सामाजिक जीवन में, जीवन के परिवारिक पहलू मे लेकर सामाजिक स्तर के विविध सम्बन्धों का समग्र रूप होता है। यही कारण है कि व्यक्ति-व्यक्ति की प्रकृतियो के समुच्चय से सामाजिक जीवन का रूप स्थिर होता है। व्यक्ति की सौम्य स्नेहमयी प्रकृति जहाँ एक ओर समाज का पावन, सौम्य स्नेह-तन्तुओं मे पिरोकर एक सुन्दर मनका रूप में प्रस्तुत करता है, वहाँ कुटिल, कलहमयी प्रकृति का व्यक्ति उटज-झाड-सा-काट-कुश बिखरा कर समाज मे नाना प्रकार के विग्रह-विवाद एव कलह पैदाकर बिखराव उत्पन्न कर देता है। लोक-जीवन के इस यथातथ्य रूप का

सही निरूपण हमे लोकसाहित्य में मिलता है। समाज-जीवन के विविध पक्षों की यहाँ सक्षिप्त झाँकी प्रस्तुत है।

क **आदर्श सतीत्व:**—समाज-जीवन के बीच हिन्दू-परिवार का एक आदर्श उदाहरण रहा है। उसमे पिता-पुत्र, माता–पुत्री, भाई-वहन, सास-बहू, पति–पत्नी, ननद-भावज–सभी आनन्द के साथ एक प्रेममय वातावरण में निवास करते हैं। पति-पत्नी के आदर्श प्रेम की रसीली झाँकी लोकगीतों मे पर्याप्त रूप में देखने को मिलती है। लोकगीतो मे नारी के सतीत्व की कई वार परीक्षाएँ होती मिलती हैं। एक वार जहाँ पति विदेश चला जाता है, तो उस समय में अपने आपको नारी को कठोर विरह की आग में तपा-तपा कर अपने सतीत्व की रक्षा करनी पडती है। तिस पर पति यदि परदेश (पूरवी वनिजिया) से वापस आता है, तव वह अपनी स्त्री के चरित्र पर सदेह करता है और उसकी अग्नि–परीक्षा के वाद ही उसे ग्रहण करता है। किन्तु गौरव की वात यह है कि उसकी स्त्री सती शिरोमणि सीता की भाँति पति के इस परुप व्यवहार पर मन मे तनिक भी भेद नही आने देती, वल्कि अपना धर्म समझकर हँसते-हँसते अग्नि परीक्षा के उपरान्त पति के चरणो मे समर्पित हो जाती है।

नारी का यह आदर्श सतीत्व समाज-जीवन की पावन धुरी है। यह वही पवित्र स्थली है जिसके पावन रहने से राम-कृष्ण, भीष्म, अर्जुन और अनेकशः महान् पुरुषो का उद्भव होता है, जिनसे लोक मंगल का पावन संधान होता है और उनकी विकृति से लोक-नर-पिशाचो के यूथो मे परिणत हो जाता है। सतीत्व के इस आदर्श रूप की अभिव्यक्ति मानव पर्याय से इतर पशु जगत मे भी वडे भावभीने रूप मे अभिव्यजित हुई है। किमी उदाम हिरणी को देखकर हिरण उसकी उदामी का कारण पूछता है, जिसके उत्तर मे हिरणी कहती है कि आज राजा दशरथ के घर मे पुत्र जन्म के कारण छट्ठी का उत्मव मनाया जाएगा जिसमे तुम्हे मारकर तुम्हारा माँस पकाया जाएगा। हिरण के मारे जाने पर हिरणी, रानी कौशल्या से यह प्रार्थना करती है कि हिरण की खाल मुझे देने की कृपा कीजिए जिसे मैं पेड़ पर टाँग कर अपने टूटे दिल को शांति दे सकूँ। किन्तु उसकी वह मर्मस्पर्शी विनती अस्वीकार कर दी जाती है और रानी उस खाल से खजडी वनवाती हैं तथा वालक राम इस खंजड़ी को वजा-वजाकर खेलते है। जव शोकाकुला हरिणी उस खजड़ी की आवाज सुनती है तो वह चौंक उठती है, उसका हृदय टूक-टूक हो जाता है।

वह ढाक के पेड के नीचे खड़ी होकर अपने मृत पति की याद मे आठ-आठ आँसू रोती है। अवधी भाषा मे अभिव्यजित एक लोकगीत मे इस मर्मकथा को देखें —

"छापक पेड़ छिउलिया त पतवन गहवर,
अरे रामा, तेहि पर ठाढ़ि हरिनिया त मन अति उनमनि।
धरतै चरन हरिनवां त हरिनि से पूछई, हरिनी! की तोर चरहा झुरान कि
पानी विनु मुरझिऊ।

नाहीं मोर चरहा झुराव न पानी विनु मुरझेऊ। हरिना ! आज राजाजी के
छट्ठी तुमहि मारि डरिहैं ॥
मचियैं बैठी कौसल्या रानी, हरिनि अरज करई,
रानी मासंवा त सिझहिं करहिया, खलरिया हमे देतेऊ ॥
पेडवा से टंगतिऊँ खलरिया, त हेरि-हेरि देखतिऊँ ॥
रानी हरिनि घर अपने मन समुझउतिऊँ जनकु हिरना जियतई ॥
जाहु हरिनि घर अपने खलरिया नाहीं देबई,
हरिनि, खलरी के खंजरी मढउबई, त राम मोर खेलिहई,
जब-जब बाजै खंजरिया मब्द सुनि अनकई,
हरिनी ठाढि ढंकुलिया के नीचे हिरन के विसूरई॥"

इस गीत को पढते ही हृदय भर आता है। इतना मार्मिक है यह । इसमें एक पतिव्रता पत्नी का आदर्श रूप अपने चरम रूप मे उभर कर चित्रित हुआ है। इस पति-वियुक्ता दुखिनी हरिणी की पीड़ा का अवलोकन कर पाषाण का हृदय भी पिघल जाता है।

नारियो का सतीत्व जितना गौरव रखता है, उन्हे उसकी रक्षा मे भयकर स्थितियों का भी सामना करना पडता है। वस्तुत मानव हृदय बडा ही दुर्बोध होता है तथा अवनति की राहे बड़ी ही फिसलन भरी होती हैं और यदि उसमें प्रलोभन के दो-चार धक्के लग जाएँ, तो फिर पतन का ठिकाना ही क्या ? जिस पर नारी हृदय तो सहज-सरल एव कोमल हुआ करता है उनके लिए किसी प्रलोभन को ठुकरा पाना कोई आसान कार्य नहीं होता। फिर भी सती नारियो ने भयकर से भयकर प्रलोभनो को चण्डी का रूप धारण कर बडी ही निर्ममता से ठुकरा दिया है। प्रसाद की यह उक्ति अक्षरश सत्य है 'महत्त्वाकाक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी मे पलता है।' यदि नारियाँ प्रलोभनो की घडी मे निष्ठुर नहीं बने तो फिर सतीत्व के पावन मोती की कैसे रक्षा कर सके, कैसे सार-संभाल कर पावे ।

नारियों के इस सतीत्व-रक्षा प्रयास का लोकसाहित्य मे बडा ही भव्य चित्रण हुआ है। जब पति का प्राणात हो गया तो उन्होंने अपनी कंचन सी काया को धधकती अनल लपटों मे होम कर जौहर व्रत का पालन किया। जल समाधि लेकर, विप पानकर अपने कुल को कलंकित होने से बचाया, दुराचारी आततायियो को छलकर अपने पतिव्रता धर्म की रक्षा की और अनेक कष्टो एव यातनाओं को भोगते हुए भी अपने सतीत्व की मर्यादा को अडिग बनाए रखा। उन्होंने कुबेर तक की अतुल सम्पदा को अपने पैरो से ठुकरा दिया तथा संसार की कोई भी शक्ति उन्हे चाँदी और सोने के चमचमाहट के जाल मे फाँस न पायी। लोकसाहित्य मे पद्मिनी कुसुमा देवी और भगवती देवी के स्वर्णोपम चरित्र से कौन परिचित नही है जिन्होने अलौकिक चातुरी तथा साहस के द्वारा अनाचारी मुगलो के छक्के छुडा दिये, अपने प्राणो की आहुति दे दी किन्तु चरित्रबल पर आँच तक नही आने दिया।

कुसुमा देवी का आदर्श चरित्र लोक-जीवन में इतना अधिक व्याप्त है कि देखते ही बनता है। लोक-जीवन मे गीतों की धुन में पिरोयी हुई एक गीत की लड़ी देखे

"तनियक डोलिया थमाओ मिरजवा, बाबा के सगरवा मुहंवा धोइत हो ना।
बाबा के सगरवा सुन्दर बढइल पनियां, हमरे सगरवा पनियां, पीयो हो ना ।।
तोहरा सगरवा मिरजा नित उठि होइ हैं, बाबा के सगरवा दुरलभ होइ हो ना।
एक घूंट पियलीं, दूसरा घूंट पियलीं, तिसरे में गई है तराई हो ना ।।
रोइ- रोइ जालवा डलावैं राजा मिरजा, फंसि आवैं धोधिया सेवरिया हो ना।
मुँहवा पटुक देके रोवे राजा मिरजा, मोरे मुंह करिखा लावलू हो ना ।।
सिर पै पगड़िया बाँधि हँसे भैया बाबा, दूनो कुल रखिऊ बहिनी कुसुमा हो ना ।।"[1]

कुछ उदाहरण ऐसे भी पाये जाते हैं कि किसी रमणी का पति सुदूर देश को चला जाता है, उस समय उस प्रोपितपतिका के रूप लावण्य पर विमुग्ध हो कोई बटोही बहुमूल्य हीरे जवाहरात एवं सोने चाँदी का प्रलोभन देकर उसके सतीत्व को खरीदना चाहता है, किन्तु वह गरिमामयी पतिव्रता नारी उसे अपने पैरों से ठुकरा देती है किन्तु अपने सतीत्व को भ्रष्ट नहीं करती। वह सुन्दरी बटोही को जवाब देती है-'ए बटोही ! तुम्हारे सोने मे आग लग जाये और मोतियों में बज्र पड़े। दुनियाँ में 'सत' (सतीत्व) छोडने से 'पत' (प्रतिष्ठा) नहीं रहती।"

बटोही धन का लालच देते हुए कहता है:—

"डाला भरि सोना लेहू, मोतिया से मांग भरू, जाति छाडि मोरे संग लागहूँ रे की।" इस पर सती सुहागिन उसका मुँहतोड उत्तर देती हुई कहती है:-

"आगि लागो सोनवा, बजर परे मोतिया रे, सत छोड़े कइसे पत रहिहैं नु रे की।"[2]

सती-सुहागिनों की सतीत्व-रक्षा सम्बन्धी ऐसी अनेक कथाएँ लोकगीतों में देखी जा सकती हैं। लोकगीतों के अतिरिक्त लोक-कथाओं मे भी ऐसी अनेक कथाएँ मिलती हैं, जिनमें नारी के गौरवमय सतीत्व की पावन-कथा-धारा हिलोरें ले रही हैं।

माता पुत्री का वात्सल्य सम्बन्ध:—माँ पुत्र को अतीव प्यार करती है किन्तु पुत्री पर भी उसका कम स्नेह नही होता। पुत्री के जन्म से लेकर उसके पालन-पोषण तथा विवाहपर्यन्त माँ को चाहे कितनी ही कठिनाइयो को क्यो न झेलनी पड़े किन्तु वह इसकी तनिक भी चिन्ता नही करती। बल्कि विवाह के पश्चात् पुत्री की विदाई के समय तो उसके हृदय से प्रेम एवं वात्सल्य का वह फव्वारा फूट पड़ता है कि जिसका चित्रण कोई कुशल चितेरा भी करते थक पड़ता है। पुत्री का भी एक

1. डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय . लोकसाहित्य की भूमिका पृष्ठ 247
2. डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय . भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन।

मात्र सहारा उसकी माँ ही होती है, जिसके सामने वह बड़ी होने पर एक स्नेहमयी सखी के समान गलत–सही–सभी बातों को निःशंक–निश्छल भाव से रखती है और माँ का हृदय क्षमाशील वसुन्धरा के समान होता है, जो हर गलत–सही बातो को अपने क्रोड मे छिपा लेती है तथा पुत्री के ऊपर ममता का आँचल लहराकर प्रेम का मलय पवन सरसाती है।

पुत्री को जब ससुराल मे कष्ट उठाना पडता है, तब उसकी व्यथा-कथा 'भगिया पीसत ए आमा, हथवा खिअइले, धतूर मलए ए आमा जियरा अकुलइ ले" सुनकर माँ की छाती छलनी हो जाती है।

भाई-बहन का पावन प्रेम:—लोक–जीवन मे भाई और बहन के शुद्ध, सात्विक, दिव्य और देवदुर्लभ प्रेम का ऐसा उदाहरण मिलता है कि प्रेम गगा भी तरल हो विष्णु के पदनख से शंकरदेव की जटा का स्पर्श कर धरती का ललाट चूम लेती है। भाई जब बहन के घर जाता है, तब बहन अपने भाई का आगमन सुनकर खुशी से झूम उठती है। एक बहन अपने भाई के आगमन पर भाव-विह्वल होकर कहती है।

"ए भाटिन, तुम गीत गावो, ए मेरी सास ! तुम मेरे भाई के लिए पूड़ी बनाओ,[1]

"आरे आरे जोगिन भाटिन सब कोई गावहु हो। मोरा जियरा भइलवा हुलास, वीरन मोर आवेले हो।

आरे आरे सासु बढइतिन करहिया हो। मोरा जियरा हिलोरे, वीरन मोरे आवेले हो।"

'भाई के चोट अवरू केहुनी के घाव न सहाला', भोजपुरी की यह कहावत बहन का भाई के प्रति निहित प्रेम की कितनी मार्मिक व्यजना है। बहन के हृदय मे भाई के प्रति कितनी करुणा, कितना प्रेम और कितना स्नेह होता है, इसे कोई भाई अपनी कलाई मे राखी के पवित्र धागे को बँधवाकर ही जान पाता है। राखी का पवित्र धागा जिसमें भाई के द्वारा बहन की रक्षा का सकल्प जुडा होता है, भारतीय संस्कृति की एक परम पवित्र थाती है। जिस प्रकार से बहन भाई के प्रति एक अलौकिक पावन परिवेश मे समर्पित होती है, भाई भी अपने प्रेम की अंजलि बहन को अर्पित करते समय कम भावनाप्रवण नही होता। वस्तुतः लोकगीतो मे भाई–बहन के प्रेम की इतनी पवित्र झाँकी सुशोभित है कि देखते ही बनता है।

सास-पतोहू का संबंध:—लोक-जीवन मे अन्य संबंधो के अतिरिक्त सास-पतोहू का संबंध भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। लोक-गीतों मे सास का चित्रण प्रायः दारुण (दरूनिया) यानी कठोर प्रवृत्ति की नारी के रूप में हुआ है, जो अपनी पतोहू को सदा तरह-तरह की यातनाएँ देती रहती है। सास अपनी पतोहू के प्रति

---

1 डॉ० उपाध्याय– भोजपुरी लोकगीत, भाग-1, पृष्ठ-144

सदा विषवाणों का प्रयोग किया करती है। जब उसका पुत्र परदेश चला जाता है, तब वह पतोहू से जो कुछ कहती है, पतोहू के स्वर मे सुनिए—

"सासु मोर बोलेली विरहिया, तू केकर कमइया खइबू ए राम।"

और फिर इसके बाद तो वह नाना प्रकार के कहर ढाती है। वह पतोहू को मानसिक और शारीरिक कष्ट दे देकर कृश कर डालती है। वह उससे बर्तन मंजवाती है और गहरे कुएँ से पानी भरवाती है।[1] एक पतोहू की यह मर्मकथा तो देखिए कि मर्म पर यह कितना सीधा असर करती है :

"कई मन कूटो मइया, कई मन पीसीला हो ना।
भइया कई रे मन रीन्हीली रसोइया हो ना।
सासू खाँची भर बासना मजावे ले हो ना।
सासू पनिया पताल से भरावेले हो ना॥"

यहाँ तक कि अपने परदेशी पुत्र की बहू पर सास छोटी-छोटी बातों पर भी चारित्रिक कलक लगाती है। सास का ममतामयी जननी के रूप मे अपनी बहू के प्रति वात्सल्य-स्नेह होना चाहिए, वह लोक साहित्य मे कही भी दृष्टिगत नहीं होता। इसका अर्थ यही है कि प्राय. सास अपनी बहू के प्रति कठोर (दारुण) ही हुआ करती है।

ननद-भावज का संबंध:—लोक गीतो मे ननद-भावज के संबंध का जो चित्रण हुआ है, वह सास-पतोहू के कटु सबंधों से कुछ कम नही है। प्रायः ननदें अपनी माँ और भाई से अपने भावज के विरुद्ध शिकायत करती पाई जाती हैं। ननद–भावज का सघर्ष वैसे कोई नया भी नही है, वह बहुत प्राचीन काल से चला आया है, किन्तु इसका मनोवैज्ञानिक ही विश्लेषण कर सकता है।

सौतिया डाह—लोकगीतो मे सौतिया डाह का बडा ही सजीव वर्णन मिलता है। उसमे तो 'काठ की भी सौत' अच्छी नही मानी गई है। वस्तुतः नारी हृदय अपने पति मे सर्वात्मना इस प्रकार समर्पित होती है कि पति के प्रेम-सिंहासन पर दूसरी किसी को भी बैठने देना नही चाहती। गोपियो को भी कृष्ण से यह शिकायत थी कि वह मुरली को अपनी सौत से कम नहीं देखती क्योंकि गोपिकाएँ तो कृष्ण के अधरामृत का कभी समय पर ही पान कर पाती हैं किन्तु मुरली तो सदा ही अमृत रस मे पगी होती है। सौत की कल्पना भी दूसरी स्त्री को असहनीय पीड़ा देती है। वशी के प्रति एक अन्य स्त्री का उद्गार देखिए जिसे (वशी को) उसका पति अपने साथ रखा होता है—

"राजा के वशी सेजरिया पर बाजे, सवतिया होके सुनबि राउर वंशी।"

सपत्नी की चिंता मे तो स्त्री को रात-रात भर नींद नही आती। "लागिति नाही निनिया ए राजाजी, बाये सुतलि बा सवतिया ए राजाजी, लागति नाही निनिया ए राजा जी।"

---

1 दुर्गा शकरसिंह, भोजपुरी लोकगीतों में करुण रस, पृष्ठ 445

यही नहीं, सौतिया डाह तो इस सीमा तक पहुँच जाता है कि एक दूसरी में झोटम झोटा (सिर के बालों को पकड़ कर परस्पर खीचातानी करके लड़ना) तक की नौबत आ जाती है ।

"उढरि बियहि केर झोटीक झोटा हो ना ।
रामा राजा बैठि देहरी झखे हो ना ।"

और यह नौबत लड़ाई तक ही नही रहती बल्कि वह सौत का प्राण तक लेने को उतारू हो पडती है ।

"देहुना सासु हो छुरिया कटरिया, कतल कर घलवो सोनारिन हो ना ॥"

३. आर्थिक जीवनः—मानव-जीवन को सुखी बनाने के लिए समृद्धि की ओर उन्मुख करने के लिए अर्थ एक सबल माध्यम है । यही कारण है कि लोक-जीवन का चित्रण जहाँ सामाजिक क्षेत्र मे हुआ है, तो आर्थिक क्षेत्र मे भी हुआ है । जीवन मे जिस प्रकार से सुख और दुःख समान रूप से दिवा-निशा की भाँति आते जाते रहते हैं, लोक जीवन मे उनका ठीक उसी रूप मे चित्रण हुआ है । यदि एक ओर लोक जीवन मे सुख समृद्धि की उत्ताल तरगो का चित्रण मिलता है तो दूसरी ओर दीन-हीन-निर्धन अवस्था का भी बडा ही मार्मिक चित्रण हुआ है जहाँ झूमर के गीतो मे सोने की थाली मे भोजन करने एव स्वर्णमय पात्रो से जल पीने का वर्णन उपलब्ध होता है, वहाँ टूटी हुई खाट और टपकते हुए छप्पर का मर्मस्पर्शी चित्रण हमारे हृदय को आकर्पित कर लेता है । कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि सुख-दु'ख, आशा-निराशा, विलास–वैभव और दैन्य–दीनता के उभय पक्षो का वर्णन लोक–साहित्य मे पाया जाता है ।[1]

निर्धनता का चित्रणः—लोकगीतो मे नारियो के द्वारा निर्धन अवस्था का वडा मार्मिक वर्णन हुआ है । एक निर्धन तथा दु'खिनी नारी अपनी पीड़ा तथा निर्धनता का वर्णन करती हुई कहती है कि मेरा छप्पर टूटा हुआ है, और वर्पा की बूँदें भीतर टपक रही हैं । मेरी सुधि भी लेने वाला कोई नही है । मेरा जेठ अपना बँगला छवाता है और मेरा देवर चौपाल छवाता है । उस स्त्री के घर को भला कौन छवाएगा जिसका पति परदेश मे है । इस गीत मे दु खिया स्त्री के निर्धन–जीवन का मर्मस्पर्शी चित्रण प्रस्तुत किया गया है । यह अवधी का लोकगीत निम्नांकित है ।[2]

"टूटही मुडइया बुनिया टपकई रे ! के सुधि लेवे हमार ।
जेठा छवावइ आपन बगलवा, देवरा छवावै चौपार ।
हमरा मदिलवा केऊ न छवावै, जेकर पियवा विदेश ।"

एक स्त्री अपने पति के परदेश जाते वक्त विलाप करती हुई कहती है कि मेरा पति तो पूर्व देश बगाल मे व्यापार करने के लिए जा रहा है अब मेरे उजडे

1. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय लोकसाहित्य की भूमिका, पृष्ठ 238
2. श्री कृष्णदास : सो. गो. मा. व्याख्या

हुए घर को कौन छवावेगा ।[1]

"पियवा जे चलते पुरूब वनिजरिया से केई रे छइहें ना, मोरा उजड़ल वंगलवा । से केई रे छइहे ना ।।"

इन सभी लोकगीतो मे ग्रामीणो की विपन्नता का यथातथ्य निरूपण हुआ है । हृदय की इन सीधी-सच्ची बातो मे सीधे हृदय को छू लेने की सामर्थ्य है । इनमें कोई सजावट अथवा श्रृंगार नही । एक बहन की इस मर्मकथा पर दृष्टिपात कीजिए जब वह अपने गृह–आगत भाई से अपना दुखड़ा सुनाती हुई कहती है कि भैया मुझे न मालूम कितना मन धान कूटना पड़ता है । कितना मन गेहूँ पीसना पडता हैं और कितने मन की रसोई वनानी पड़ती है । इसके वाद बहुत से वर्तन माँजने पड़ते है तथा वहुत दूर के कुए से पानी खीचकर लाना पडता है । सव लोगो के भोजन करने के पश्चात् जव खाने की मेरी पारी आती है तव मुझे सवसे छोटी रोटी खाने को मिलती है । इसमे से भी ननद के लिए कलेवा रखना पड़ता है, कुछ अश देवर को देना पड़ता है । फिर कुत्ते और विल्ली को भी कुछ भाग देना जरूरी है । कपडो की भी दशा यही है । दूसरों के द्वारा व्यवहार मे लाया गया वस्त्र मुझे पहनने को मिलता है । इसमें से भी ननद के लिए ओढनी देनी पडती है । देवर का लंगोट इसी कपडे से वनाया जाता है । शेष कपड़े से मे अपना किसी प्रकार तन ढँकती हूँ ।"[2]

इस प्रकार हम देखते है कि लोकगीतों के माध्यम से लोक-जीवन की आर्थिक स्थिति का वडा ही सजीव चित्रण हुआ है । उसमे आभिजात्य साहित्य की तरह न अलकारो की शृखला है, न शैली का विविध आयामी विन्यास, वल्कि हृदय के सहज–सौम्य प्रकोष्ठ से जीवन का सही वर्णन हुआ है ।

किसानों का निश्छल जीवन: गाँवो मे किसानो का जीवन निश्छल, निर्मल, सीधा-सादा एव अल्प मे सतुष्ट होता है. वैसा अन्यत्र कहाँ ? लोक-साहित्य मे ग्राम-जीवन की इस निश्छलता एव सहजता की अच्छी उद्भावना हुई है । कृपक का जीवन 'सतोषं परमं सुखम्' का जीता–जागता चित्र है । इसका एक दृश्य एक मारवाड़ी लोकगीत मे द्रष्टव्य है, जिसमे कहा गया है कि किसान केवल इतना चाहता है कि उसके पिता का घर और उसकी ससुराल एक ही गाँव मे हो, खेत पश्चिम मे हो, झोपड़ी वर्षा के दिनो मे (टपकने) वाली न हो । तालाव खेत के पास हो, जिससे वैलो को पानी पीने के लिए दूर नही जाना पड़े । यदि भगवान् इतना दे दे तो उससे और कुछ नही माँगना है । देखिये—

'उठे ही पीरो होय उठे ही सासरो, अथूणो होय न खेंत चवे न आसरो ।
नाडा खेत नजीक जडे खोलना, इतना दे करतार फेर नही वोलना ।।"

इस प्रकार के चित्र लोक–साहित्य मे विभिन्न भापाओं में देखने को मिलते

1. डॉ उपाध्याय भो लो गी. भाग-1 पृष्ठ 364
2. रामनरेश त्रिपाठी - काव्य कौमुदी भाग-5 (ग्रामगीत)

है, जिसमें कृपक-जीवन की सादगी, संतोषी, निश्छल एव निर्मल-जीवन के सौम्य चित्र खीचें गये है ।

4 लोक जीवन की धार्मिक भावभूमि:— धर्म के प्रति अधश्रद्धा एवं अधभक्ति लोक-जीवन की प्रथम विशेषता है । आभिजात्य कहे जाने वाले जीवन मे, आज सभ्यता के नये दौर मे भले ही परिवर्तन एव परिवर्द्धन होते चले जा रहे हो, किन्तु लोक-सस्कृति की धारा आज भी अपने प्राचीनतम वेग से ही एकरूप प्रवाहित है । ग्रामीण स्त्रियाँ आज भी उसी प्रकार से व्रत रखती है और अपनी अभीष्ट कामनाओ की सिद्धि के निमित्त देवताओ की पूजा करती है, जिस प्रकार से प्राचीन-काल मे की जाती थी । पुरुप वर्ग भी अपनी धार्मिक भावनाओ और विधि-विधानो को थाती के समान सँजोकर रखे हुए हैं । लोक-जीवन की इस अपरिवर्तनशील धर्म-भावना की सच्ची अभिव्यक्ति लोक-साहित्य मे गीतो, कथाओ एव गाथाओ आदि के रूप मे हुई है । वस्तुतः धर्मभावना की प्रगाढता लोकजीवन का प्राण है और लोक-सस्कृति की आत्मा है । चाहे जीवन का कोई भी कार्य-व्यापार क्यो न हो, वह धार्मिक मान्यताओ के विरुद्ध नही किया जाता । इसी कारण लोक-जीवन अधिकाश में धार्मिक जीवन है और अल्पांश मे सामाजिक अथवा पारिवारिक । सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन जो कि नून, तेल लकड़ी अर्थात् जीवन की यथार्थ माँगो से पूर्ण होता है, पद-पद पर धर्म-भावना से सचालित होता है । इस धर्म-भावना के आधार-विन्दु विभिन्न व्रत-त्यौहारो का अनुप्ठान एव विविध देवी-देवताओं की पूजा-आराधना है ।

विभिन्न देवी देवताओं को पूजा:— लोक-जीवन मे शिव, सूर्य हनुमान, भैरव, काली माई, वावा सत्यनारायण, पार्वती, कृष्ण आदि की विभिन्न रूपो मे पूजाएँ होती है । शिव उन सब मे ज्यादा प्रचलित है । शिव भगवान से लेकर साधारण पति रूप तक मे पूजे जाते हैं । एक चित्र देखे जिसमे एक स्त्री कहती है कि ऐ सखी ! शिव के मदिर मे दर्शन करने के लिए चलो । कोई इनके मदिर मे अक्षत-चन्दन चढाता है और कोई लाल चूनरी चढाकर अपनी अभीष्ट सिद्धि की प्रार्थना करती है ।[1] इसी प्रकार से ग्रामो मे कार्तिक मास मे सूर्य पप्टीव्रत वड़ी धूमधाम से मनाया जाता है । इसमे उपवास करके सूर्य को अर्घ्य दिया जाता है जिससे स्पष्ट है, सूर्य लोक-जीवन मे अच्छी तरह मर्यादित हैं । पुत्र अभिलापिणी कोई स्त्री भगवान् सूर्य से प्रार्थना करती हुई कहती है कि 'हे भगवान् मै आपको अर्घ्य प्रदान करने के लिए कव से खड़ी हूँ । अत. मेरा पैर दुखने लगा है और कमर मे पीड़ा हो रही है । अत. आप शीघ्र उदय लीजिए जिससे मैं अर्घ्य प्रदान कर सकूँ ।[2]

"गोडवा दुखइले रे डाँड़वा पिरइले, कव से जे वानी हम ठाढ ।
आरे हाली हाली उग ए अदितमल अरघ दिआऊ ॥"

---

1 डॉ. उपाध्याय · भोजपुरी लोकगीत भाग-1 पृष्ठ 368
2. वही पुष्ठ

इसी प्रकार से महावीर जी (श्रीहनुमान) के पूजन का भी वहुत वडा महत्त्व है। नव दुर्गा (दशहरा) के समय माता दुर्गा के अनुष्ठान की भी वड़ी पवित्र परम्परा है।

नवदुर्गे पर भेंट दी जाती है, उस समय का एक गीत धर्म-भावना पर कितना सुन्दर प्रकाश डालता है, द्रष्टव्य है। 'देवी दुर्गा की पूजा भगी (मेहतर) के घर से लेकर कुलीन जाति एव राज-दरबार तक में समान रूप से होती हैं। इस व्रत के समय व्रत करने वाली स्त्री के साथ चाहे उसका पति ही क्यो न हो, यदि कामतृप्ति करना चाहता है तो वह गलित कुष्ठ तक के रोग का शिकार हो जाता है। लेकिन सती स्त्री पतिव्रता नारी द्वारा माता दुर्गे से अपने पति की स्वास्थ्य कामना करने पर माता प्रसन्न होकर कचन सी काया का वरदान दे देती है।' एक ब्रजगीत प्रस्तुत है .

भगी के घर हौमु ह्वै रे ओ माइ, भैया हमहु देखन को जाइगे रे हो माइ ॥
रनियाँ ने टका चढाइयैं हो माइ, जै जै भगत ने योग दिवाडए हो माइ ॥
रानियाँ तो लैकै चलिदई हो माइ, जै जै वीव मे राजा मिलि गयो हो माइ ॥
रनियाँ ने माता सुमरिए हो माइ, मैया मेरी लज्जा राखिए हो माइ ॥
पुरियन की विडिया है गयी हो माइ, मैया सासु चमेली के फूल है हो माइ ॥
राजा तो कोढी है गयो हो माइ, मैया होने कोढ चुचातुए हो माइ ॥
रनियाँ न ज्वाला सुमिरिए हो माइ, मैया हरिरि चुरिनिए भातुए हो माइ ॥
राजा की सोरन काया है गयी हो माइ भगी के घर होमु ह्वै रे ओ माइ ॥

मारवाड मे देवी-देवताओ के गीत विशेप रूप से गाये जाते है जिनमे हनुमान और भैरव (भैरूंजी) अधिक प्रसिद्ध है। कोई मारवाड़ी भक्त कहता है कि वावा वजरग की मूर्ति वडी भव्य है। कमर मे लाल लगोटा माथे पर सिंदूर का तिलक है। वावा बजरग आसन लगाकर वैठे है। अपने ब्रह्मचर्य के प्रताप से वजरगजी ने रावण की अशोक वाटिका को विध्वस्त कर डाला और राजा रामचन्द्रजी के कार्य को सिद्ध किया। माता अजनी की कोख धन्य है जिसने हनुमान जैसे पराक्रमी को जन्म दिया[1]—

"लाल लगोटी तिलक सिन्दूर को, वैठ वजरग आसन डाल ।
वाग विधूंस्या, लका दलमली, सार्‌या राजा रामचन्द्र का काम ।
धन माता अजनी की कूख, ऊण जायो हणवंत पूत ।
वावा वजरंग रो वगलो हद वण्यो ॥"

देवी-देवताओ की पूजा-उपासना का एक प्रमुख कारण पुत्र-धन की प्राप्ति है। कोई स्त्री कहती है 'हे भगवान् ! मैं अधिक पुत्रो को नही चाहती। केवल पाँच पुत्रो को प्राप्त करके ही सतुप्ट हो जाऊँगी। यह सूर्य की पूजा के लिए अक्षत

1. पारीक : राजस्थानी लोकगीत भाग–1 (पूर्वार्द्ध) पृष्ठ 12-13

और शीतल जल लिए हुए है जिससे कि सूर्य को अर्घ्य दे सके।[1]

"खोइछा छतवा गुडुवा जुड़ पानी चलली कवन देई अदित मनावे।
थोरा नाही लेवौ आदित बहुत ना माँगिले, पाँच पुतर आदित हमारा के दिहिनी॥"

प्राय. पुत्र, धन-सम्पदा, नीरोग जीवन आदि की कामनाओ की कथा इन व्रतों-अनुष्ठानो के मूल मे पाई जाती है। कही-कही बसावन भुइयाँ तथा राहू देव की पूजा होती है जिसमे आदिम जीवन का यथातथ्य चित्र देखने को मिलता है। कही-कही भूत-प्रेतो एव जिंद की भी पूजा होती है।

तात्पर्य यह है कि ग्रामोण जीवन धर्म से परिप्लावित है, जिसका स्पष्ट चित्र लोक-गीत एव लोक-कथाओं मे देखने को मिलता है।

५. लोक संस्कृति में राष्ट्रीय भावनाः— किसी भी देश के राष्ट्रीय जीवन मे लोक-साहित्य का अत्यधिक महत्त्व है। लोक सस्कृति के प्रवहमान स्वरूप मे धर्म, अध्यात्म, समाज आदि के विविध पहलुओ के साथ उद्दाम राष्ट्रीय भावनाओ का भी पर्याप्त समावेश है। इस मौखिक साहित्य मे धर्म, समाज तथा सदाचार सम्बन्धी अमूल्य सामग्री भरी पडी है। इसके साथ ही इतिहास और भूगोल सवधी अन्य बाते भी उपलब्ध होती हैं। भाषा शास्त्री के लिए तो यह साहित्य-रत्नाकर के समान है जिसमे गोता लगाने पर उससे अनेक अनमोल मोती प्राप्त हो सकते है।"[2]

लोकगीतो, मे मुगलो के शासन काल मे किस प्रकार इस देश मे अशाति एव दुर्व्यवस्था थी, इसके अनेक चित्र पाए जाते है। तुर्क राजाओ की स्वेच्छाचारिता एव विषय–लोलुपता का खुला चित्र इसमे अकित है कुसुमा देवी का तालाब मे कूद कर प्राणात करने की घटना इसका ज्वलत उदाहरण है। इसके अतिरिक्त १८५७ की क्रान्ति की चर्चा भी लोकगीतो मे भरपूर मिलती है। उन वीर कथात्मक गीतों मे वीर रस की ऐसी सुन्दर व्यजना हुई है कि उसे पढकर आज भी रोमाच हो आता है, भुजाएँ फडकने लगती है। भोजपुरी लोकगीत का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"लिखि लिखि पतिया भेजलन कुवरसिंह एसुनु अमरसिंह भाय हो राम।
चमडा के टोड़वा दाँत से हो काटे कि, छतरी के धरम नसाय हो राम॥
बाबू कुवरसिंह भाई अमरसिंह, दोनो अपने है भाय हो राम।
बतिया के कारण से बाबू कुवरसिंह, फिरगी से रेड़ वढाय हो राम॥
दानापुर से जब सजलक हो कम्पू, कोइलवर मे रहे छाय हो राम।
लाख गोला तुहू के गनि के हो मारे हो, छोड़, बरहरवा के राज हो राम॥

१८५७ की क्रान्ति के सबध मे अनेक ऐसे गीत पाये जाते है जिनमे तत्कालीन दुरवस्था का स्पष्ट चित्र अकित है। उनमे कही तो मेरठ के सदर बाजार की लूट का वर्णन है, तो कही अवध की बेगमो पर अग्रेजो द्वारा किए गए अत्याचार का

1. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय भो लोकगीत भाग–1 पृष्ठ 249
2. इडियन एण्टिक्रकोटी भाग XL (40) सन 1911 पृष्ठ–165

लोक छन्द एवं लोकधुनें

के० सी० त्यागी

सामान्यत लोक-अभिव्यक्ति के दो रूप हैं, गद्यात्मक तथा पद्यात्मक। गद्य सदैव वर्ण, मात्रा, यति एवं गति से मुक्त रहता है, जबकि पद्य मे प्रत्येक शब्द-योजना निर्दिष्ट नियमानुसार होती है। यही नियमित शब्द-योजना छन्द कही जाती है।

समस्त सृष्टि छन्दमय है। प्रकृति का प्रत्येक कण एक नियमित गति में बँधा है। सारा नक्षत्र-मण्डल, दिवस-रात्रि और ऋतुओं का व्यापार एक सुनिश्चित लय से समाविष्ट है। विश्व की सारी कलाएँ इसी नियम, व्यवस्था तथा तात्त्विक सामजस्य पर आधृत है।

सृष्टि के रस-छन्द-स्पन्दन युक्त आवेग की प्रथम लोकाभिव्यक्ति कविता और सगीत के रूप मे ही हुई है। मानव के मुख से निस्सृत प्रथम लयात्मक वाणी में कविता और सगीत का उत्स सन्निहित है। कालान्तर मे लोकजीवन का क्षेत्र जैसे-जैसे जटिल होता गया, दोनों कलाएँ अपने भिन्न-भिन्न रूपो मे भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न नियमानुमार्गो में नियन्त्रित होकर विकसित होती रहीं।

लोकगीत भी पिंगलशास्त्र के नियमों से निर्बन्ध हैं। उनमे गति है, लय है पर वे स्वच्छन्द हैं तथा अपनी मर्यादा के अन्तर्गत हैं। इनमे सहज एवं सरस प्रवाह है जो अपनी स्वतः विकसित लोक-कला से प्राप्त हुआ है।[1]

लोकगीतो के अपने छन्द हैं, जिन्हे लोक-छन्द कहा जाता है। ये लोक-छन्द हैं। सोहर, विरहा, आल्हा, लोरी, झूमर, सावन, फगुआ, चक्की (जँन्तसार), वरवै आदि।

सोहर छन्द : इसे सोहिलो भी कहते हैं और पुत्र-जन्म पर गाया जाता है। इस छन्द का सर्वप्रमुख गुण भावो की व्यापकता में है। यह गीत गाने में सरस होता है तथा इसे स्त्रियाँ उल्लसित हृदय से द्रुत स्वर मे गाती हैं यथा:

जच्चा ने बच्चा जाया है, दिन खुशी का आया है।
.... आदि (सम्पूर्ण गीत)।

तथा

'यह घड़ी शुभ बड़ी उस दिन जानूंगी

1. अवधी का लोकसाहित्य - डॉ० सरोजनी रोहतगी, पृ० 428।

मेरौ री होलरिया[1] जिस दिन बाबा कहके बोलेगा।
.... आदि (सम्पूर्ण गीत)।

विरहा छन्द : यह गीत अवधी क्षेत्र मे प्रायः श्रमिको के द्वारा गाया जाता है। 'विशेषतः अहीर और मल्लाह इसे गाते हैं। यथा :

बाबा के बाग महुलिया चुअति है, वन मे चउई वन बेल मोरी भउजी।
अपनी सेज पर गोरी चुअत है जेकर पिया परदेस मोरी भउजी।'

आल्हा छन्द : यह छन्द समस्त उत्तर भारत का प्रिय छन्द है तथा लोक-जीवन मे यह गेय छन्द के रूप मे स्थान पा गया है। इसका प्रयोग साहस एव वीरता के उदात्त भावों के प्रकाशन के लिए किया जाता है। इसने प्रायः श्रुतिकटु वर्णो का प्रयोग किया जाता है। इसका गायन द्रुत लय मे होता है :

'एक को मारूँ दो गिर जाएं, तीसरा दहल खाय गिर जाए।'
.... आदि।

लोरी छन्द : बच्चो को सुलाने के लिए माताएँ प्राय. प्यार भरी लोरियाँ गाया करती हैं। माँ की मधुर लोरी मे बच्चे के लिए मधु से भी अधिक मिठास होती है। माँ जब स्नेह से थपकते हुए मधुर स्वर मे लोरी गाती है तो निन्दिया रानी झट से आकर बच्चे की पलको मे झूलने लगती है, जैसे .

सोजा मेरे भैया।
मैं ले रही बलैया।। .. .. आदि।

तथा

लोरी ले रे श्याम, वृन्दावन वासी, लोरी ले।
गोकुल के कन्हैया लोरी ले, अवध-विहारी[1] तू लोरी ले।
.. .. आदि।

झूमर छन्द : इसकी प्रत्येक पक्ति छोटी होती है तथा गीत भी छोटा होता है। इसकी लय सरस एव सुन्दर होती है। द्रुत लय के कारण इसे झूमर कहा जाता है। इसमे आनन्द, हर्ष तथा उल्लास प्रतिध्वनित होता है तथा लय मे द्रुतगति के कारण एक चाञ्चल्य होता है :

दिअना जराइ गोरी चढि गई अटरिया,
जागे स्याम रैनि रही थोरी।..........आदि।

सावन छन्द : यह लोक का एक विशिष्ट छन्द है। यह आषाढ से लेकर भादों (तीन माह) तक गाया जाता है। यह मन्द लय मे गाया जाता है। इसके विषय प्रेम-प्रसग, मिलन, विरह, मुगलो द्वारा सुन्दर नारियों का अपहरण आदि हैं। यह प्रायः झूला झूलते समय गाया जाता है। यथा .

'अषाढ मास घनघोरैं बिजली मत चमकै चमकोरे।

---

1 पुत्र के लिए प्रेममय सम्बोधन।

वर्णन है। सन् ५७ मे जब अंग्रेजो ने वाजिदअली शाह से अवध की गद्दी छीन कर उसे लखनऊ से निर्वासित कर दिया, इस दुःख से उनकी वेगमो का यह विलाप कितना हृदय द्रावक है। द्रष्टव्य है :

"गलियन गलियन रैयत रोवे, हटियन वनिया वजाज रे।
महल मे वैठी वेगम रोवैं, डेहरी पर रोवैं ख्वास रे॥
मोती महल की वैठक छूटी, छूटी है मीना वाजार रे।
वाग जमनिया की सैरैं छूटी, छूटे मूलूक हमार रे।
जो मैं ऐसी जानती, मिलत लाट से जाय रे।
हा हा करती पैया परती, लेती सैंइया छोड़ाय रे॥"

मुगलो के कुशासन के पश्चात् अँग्रेजो के दमनचक्र के विरुद्ध १८५७ की क्रान्ति के समय से लेकर महात्मा गाधी के नेतृत्व मे की गई अहिंसक क्रान्ति, १९१९ के जलियाँवाला वाग हत्याकाड, १९३० का नमक आन्दोलन, १९४२ का भारत छोड़ो आन्दोलन, खादी एव चर्खा का व्यापक प्रचार आदि पर अनेक प्राणवान् लोक-गीत प्राप्त है, जिनमे तत्कालीन स्थिति का यथातथ्य चित्रण रोमाचकारी ढंग से चित्रित किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकसाहित्य मे राष्ट्रीय भावना-प्रवण गीतो एवं गाथाओं की एक व्यापक परम्परा है, जो लोक-सस्कृति का जीवन है।

६. वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना:— भारतीय लोक-जीवन स्वार्था-भिमुख न होकर विश्वमगल की दिशा मे परोपकार, निष्काम सेवाभाव आदि की ओर विशेप उन्मुख रहा है। यही विश्व-मगल की उद्दाम भावना लोक-सस्कृति की आत्मा है। लोक-सस्कृति की इसी विभूति का प्रसाद है कि जीवन के नानाविध उतार-चढावो के वावजूद भी वह एक रूप से, एक समान प्रवहमान है। लोक-साहित्य मे इस सर्वभूतहिताय एव सर्वजनसुखाय भावना का प्रचुर वर्णन मिलता हैं। गाँवो में परोपकार के लिए कुवाँ खोदवाने, तालाव वनवाने और वाग लगवाने की प्रथा चिरकाल से चली आ रही है। ऐसा कार्य जिससे दूसरे मनुष्यो को सुख मिले, ग्रामीण लोगो को अधिक प्रिय होता है। एक लोक-गीत मे यह भाव व्यक्त किया गया हे कि कुवाँ खोदने का फल यह है कि पानी भरने वाली पनिहारिनो की भीड़ लगे। तालाव की सार्थकता इसमे निहित है कि उसमे से मनुष्य के साथ-साथ पशु-पक्षी तक शीतल जल पान करने का आनन्द ले। इसके अतिरिक्त इसमे अनेक ऐसे गीत तथा कथाएँ है जिनमें—

"सर्वेऽत्र सुखिनः भवन्तु;
सर्वे सन्तु निराभयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,
मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्॥"

की उदात्त-दिव्यभावना का प्रस्फुटन हुआ है। इसी सर्वजनसुखाय की भावना के

आदर्शों के कारण लोक संस्कृति सहस्रो वर्षों से अक्षुण्ण है। लोकमंगल की यह पावन भावना विश्व-कल्याण की पावन पृष्ठभूमि है।

इस प्रकार हम सक्षिप्त विवेचन के उपरान्त इस निष्कर्ष पर आते है कि लोक-साहित्य मे लोक-सस्कृति का सच्चा स्वरूप चित्रित हुआ है और लोक-साहित्य की उद्भावना ही संस्कृति के पावन अंचल मे हुई है। अतः उसके विषय एव प्रति-मान सभी लोक सस्कृति के ज्वलत विम्ब हैं। भले ही उसमे नाना देवी-देवताओं, परियों, पशु-पक्षियो, राक्षसो, अप्सराओ, नागो, उड़नखटोलो आदि का अलौकिक वातावरण दिखाई पडता हो, किन्तु ये सारी भावनाएँ हमारे मानवीय संस्कृति के सजीव चित्र प्रस्तुत करती है। लोक-साहित्य इन्ही सस्कृति-सपुष्ट पृष्ठभूमि में उद्भूत हुआ, विकसित हुआ है और आज भी गतिमान है, जिनका सास्कृतिक परि-वेश मे महत्त्व अक्षुण्ण है।

—स्वतन्त्र भारत,
दि पायनियर लि०,
२०, विधानसभा मार्ग,
लखनऊ-२२६००१।

□

□ राल्फ विलियम्स

लोक-गीत न पुराना होता है, न नया। वह तो उस जंगली पेड़ की तरह होता है जिसकी जड़ें अतीत की गहराइयों मे घुसी होती है मगर जिसमें नित नयी शाखाएँ, नयी पत्तियाँ, नये फल निकलते रहते है।

लोक छन्द एव लोकधुनें

के० सी० त्यागी

सामान्यत लोक-अभिव्यक्ति के दो रूप हैं, गद्यात्मक तथा पद्यात्मक। गद्य सदैव वर्ण, मात्रा, यति एव गति से मुक्त रहता है, जबकि पद्य मे प्रत्येक शब्द-योजना निर्दिष्ट नियमानुसार होती है। यही नियमित शब्द-योजना छन्द कही जाती है।

समस्त सृष्टि छन्दमय है। प्रकृति का प्रत्येक कण एक नियमित गति में बँधा है। सारा नक्षत्र-मण्डल, दिवस-रात्रि और ऋतुओं का व्यापार एक सुनिश्चित लय से समाविष्ट है। विश्व की सारी कलाएँ इसी नियम, व्यवस्था तथा तात्त्विक सामजस्य पर आधृत है।

सृष्टि के रस-छन्द-स्पन्दन युक्त आवेग की प्रथम लोकाभिव्यक्ति कविता और सगीत के रूप मे ही हुई है। मानव के मुख से निस्सृत प्रथम लयात्मक वाणी में कविता और सगीत का उत्स सन्निहित है। कालान्तर मे लोकजीवन का क्षेत्र जैसे-जैसे जटिल होता गया, दोनो कलाएँ अपने भिन्न-भिन्न रूपों मे भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न नियमानुमानों में नियन्त्रित होकर विकसित होती रही।

लोकगीत भी पिंगलशास्त्र के नियमों से निर्बन्ध हैं। उनमें गति है, लय है पर वे स्वच्छन्द है तथा अपनी मर्यादा के अन्तर्गत हैं। इनमे सहज एव सरस प्रवाह है जो अपनी स्वतः विकसित लोक-कला से प्राप्त हुआ है।[1]

लोकगीतों के अपने छन्द हैं, जिन्हें लोक-छन्द कहा जाता है। ये लोक-छन्द हैं। सोहर, विरहा, आल्हा, लोरी, झूमर, सावन, फगुआ, चक्की (जँन्तसार), वरकें आदि।

सोहर छन्द : इसे सोहिलो भी कहते हैं और पुत्र-जन्म पर गाया जाता है। इस छन्द का सर्वप्रमुख गुण भावो की व्यापकता में है। यह गीत गाने मे सरस होता है तथा इसे स्त्रियाँ उल्लसित हृदय से द्रुत स्वर में गाती हैं यथाः

जच्चा ने बच्चा जाया है, दिन खुशी का आया है।
.... आदि (सम्पूर्ण गीत)।

तथा

'यह घड़ी शुभ बड़ी उस दिन जानूंगी

1. अवधी का लोकसाहित्य डॉ० सरोजनी रोहतगी, पृ० 428।

मेरो री होलरिया[1] जिस दिन बाबा कहके बोलेगा ।
.... आदि (सम्पूर्ण गीत)।

बिरहा छन्द : यह गीत अवधी क्षेत्र मे प्राय: श्रमिकों के द्वारा गाया जाता है। विशेषत: अहीर और मल्लाह इसे गाते हैं। यथा :

बाबा के बाग महुलिया चुअति है, वन मे चउई वन वेल मोरी भउजी।
अपनी सेज पर गोरी चुअत है जेकर पिया परदेस मोरी भउजी।'

आल्हा छन्द : यह छन्द समस्त उत्तर भारत का प्रिय छन्द है तथा लोक-जीवन मे यह गेय छन्द के रूप मे स्थान पा गया है। इसका प्रयोग साहस एव वीरता के उदात्त भावो के प्रकाशन के लिए किया जाता है। इसमे प्राय: श्रुतिकटु वर्णों का प्रयोग किया जाता है। इसका गायन द्रुत लय मे होता है :

'एक को मारूँ दो गिर जाएं, तीसरा दहल खाय गिर जाए।'
.... आदि।

लोरी छन्द : बच्चो को सुलाने के लिए माताएँ प्राय. प्यार भरी लोरियाँ गाया करती हैं। माँ की मधुर लोरी मे बच्चे के लिए मधु से भी अधिक मिठास होती है। माँ जब स्नेह से थपकते हुए मधुर स्वर में लोरी गाती है तो निन्दिया रानी झट से आकर बच्चे की पलको मे झूलने लगती है, जैसे -

सोजा मेरे भैया।
मै ले रही बलैया।। ......आदि।

तथा

लोरी ले रे श्याम, वृन्दावन वासी, लोरी ले।
गोकुल के कन्हैया लोरी ले, अवध-विहारी! तू लोरी ले।
.... आदि।

झूमर छन्द : इसकी प्रत्येक पक्ति छोटी होती है तथा गीत भी छोटा होता है। इसकी लय सरस एव सुन्दर होती है। द्रुत लय के कारण इसे झूमर कहा जाता है। इसमे आनन्द, हर्ष तथा उल्लास प्रतिध्वनित होता है तथा लय मे द्रुतगति के कारण एक चाञ्चल्य होता है :

दिअना जराइ गोरी चढि गई अटरिया,
जागे स्याम रैनि रही थोरी।..........आदि।

सावन छन्द : यह लोक का एक विशिष्ट छन्द है। यह आषाढ से लेकर भादो (तीन माह) तक गाया जाता है। यह मन्द लय मे गाया जाता है। इसके विषय प्रेम-प्रसग, मिलन, विरह, मुगलो द्वारा सुन्दर नारियों का अपहरण आदि है। यह प्राय: झूला झूलते समय गाया जाता है। यथा :

'अषाढ मास घनघोरैं विजली मत चमकै चमकोरे।

---

1. पुत्र के लिए प्रेममय सम्बोधन।

पीतम ना है मोरे धोरै[1], मै तो मर जाऊँ दहसत खायकँ ।'

....आदि ।

फगुआ छन्द : यह होली के समय गाया जाता है । मुख्यत: यह श्रृंगार और भक्तिपरक होता है । इसमे श्रृंगार के दोनो पक्ष मिलन व विरह पाये जाते है । सामान्यत: इसमे डेढ ताल, चौताल तथा होरी आदि छन्द होते है यहाँ पर होरी छन्द की सरलता एव लावण्य द्रष्टव्य है :—

होली खेलन चलो री विरज मे
सासु भी खेले सौहरा भी खेले
म्हारे खेलन की क्या चोरी जी विरज मे ।

तथा

होली खेले रगवीर[2] अवध मे होली खेले
राम के हात[3] कनक पिचकारी सीता के हात अवीर—
.... होली खेले........... आदि ।

चक्की (जॅन्तसार) छन्द : चक्की पीसते समय स्त्रियाँ जो गीत गाती हैं उन्हे चक्की या जँन्तसार कहा जाता है। इन गीतो में नारियों की मानसिक वेदना जैसे वन्ध्या का दु.ख, विधवा का करुण क्रन्दन, वियोगिनी की व्यथा तथा ससुराल मे सास एवं ननद द्वारा दिए जाने वाले कष्टों का विवरण होता है । आज विज्ञान के युग मे हाथ की चक्की के स्थान पर विजली की चक्की प्रारम्भ हो गई है । इससे लोकजीवन भी प्रभावित हुआ । अत: अव ये गीत कम गाये जाते है । एक गीत उल्लेख्य हैं :

'ना इस घर मे चक्की री ना चूल्हा
    ना चक्की मे चूण वँहण मेरी
वुरा हैं ससुर का देस
    ना इस घर में कोठी रे कुठला
ना कोट्ठी मे धान ।'

इस गीत में समदु:खभोग्या देवरानी जिठानी की मार्मिक व्यथा प्रकट है ।

बरवै छन्द : यह हिन्दी का एक प्रसिद्ध छन्द है । इसमे भावो की तीव्र अभिव्यजना एवं सौन्दर्य रहता है । इसमे भाव व गति का सुन्दर परिचालन हुआ है। यह पूर्वी अवधी का अत्यन्त सुलभ छन्द है । रहीम और तुलसी ने अवधी भाषा को इस छन्द द्वारा विशेष गौरव प्रदान किया है । अवधी लोकगीत में इसका उदाहरण देखिए :—

'आगि लागि घर जारिगा, वड़ सुख कीन्ह,

1. पास, समीप ।
2. रघुवीर ।
3. हाथ ।

पिय के हाथ घयिलवा भरि-भरि दीन्ह ।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोकगीतों मे अपने विशिष्ट छन्द विद्यमान हैं यद्यपि छन्दो का कोई शास्त्रीय विधान नही है । यहाँ यह भी उल्लेख्य-ध्यातव्य है कि उल्लिखित सभी लोक-छन्द बड़े-बड़े कवियो ने अपनाये । यहाँ पर दो–चार उदाहरण प्रमाणार्थ अलम् होगे ·

(१) 'जसुमति मन अभिलाष करै ।
कब मेरो लाल घुटरुअन चालै कब धरणी पग द्वैक धरै ।'

(सोहर छन्द–सूर)

(२) 'या गोकुल के चौहटें रंगभीजी ग्वालिनी ।
हरि-संग खेलैं फाग, नैन सलोने री रंगभीजो ग्वालिनी ।
× × × × × ×
रत्न जटित पिचकारियाँ रगभीजी ग्वालिनी ।[1]

(होरी छन्द)

(३) झूलत झुलावत, कण्ठलावत, वडी आनन्द-बेलि ।
कबहुंक रहसत, मचकि लैं–लै एक-एक सहेलि ।
झकझोरि, झमकति, डरति प्यारी, पिया अंकम मेलि ।[2]

(सावन छन्द)

(४) जसोदा हरि पालने झुलावै ।
हलरावै मल्हरावै दुलरावै जोइ सोइ कछु गावै ।
× × × × × ×
मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुलावै ।

(लोरी छन्द)

इन गीतों में क्रमश. मातृ-हृदय की अभिलापा, गोपियो का कृष्ण के साथ होली खेलने का हर्षोल्लास, कृष्ण जी के साथ गोपियो का उमंगित हो झूला झूलना तथा माता यशोदा द्वारा पुत्र को स्नेह सहित थपकाते हुए सुलाने का प्रयत्न करना आदि भाव व्यंजित हुए है । वस्तुत ये गीत लोक छन्दो मे रचित लोकगीत ही है ।

उपर्युक्त लोक-छन्दो के अतिरिक्त सभी प्राचीन, भक्त, रीति तथा आधुनिक कवियों ने अपने काव्यो मे लोक-छन्द ही अपनाये हैं क्योकि सभी कवि लोक-कवि पहले है बाद मे कुछ और । दोहा, चौपाई, छप्पय, कवित्त, सवैया, रोला, पद आदि सभी लोक-भापा के छन्द हैं तथा इन्ही छन्दो को प्रायः कवि अपनाते आये है । इन सभी छन्दो का नामकरण विपय-भावो के अनुरूप ही है जो अपने प्रमुख गुण गेयता के अनुसार लोक-जीवन की सरस मार्मिक तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति करने मे सक्षम है । वस्तुतः लोक-गीत तो है ही सगीतात्मक छन्द । गायन के विना इसकी सरसता

1. सूरसागर (सभा) दशम स्कन्ध. पृ० सं० 2867 ।
2. सूरसागर (सभा) दशम स्कन्ध पृ० सं० 2830 ।

का अनुमान नही लगाया जा सकता क्योंकि विभिन्न गीतो की लय अथवा धुन विभिन्न होती है।

लोक धुन :

लोक धुन हृदय की सुख-दुःख रूपी भावनाएँ कभी सुखद एवं कभी करुण राग-रागनियों के रूप मे स्वत: ही उसके कण्ठ से निकल पड़ती है।

ये राग-रागनियाँ शास्त्रीय राग-रागनियाँ नही है, अपितु लोक-संगीत अथवा लोक धुनें है। प्राय यह समझा जाता है कि लोक-गान भी राग-रागनियाँ (शास्त्रीय संगीत) है। किन्तु ऐसा समझना ठीक नही है क्योकि राग तो एक रूढ़ परिभापिक शव्द है। लोक-गान तो लोक सगीत (लोक धुन) है। स्वर तो उसमे भी होते है। विना स्वर के कोई गीत हो ही नही सकता। पर जहाँ स्वर मे स्थायी, आरोही-अवरोही तथा सचारी वर्ण का नियम लग जाता है और स्वर इन नियमों से व्यवस्थित हो जाते है वहीं पर राग (शास्त्रीय सगीत) की उत्पत्ति हो जाती है। जहाँ गान इन नियमो से जकडा नही है वहाँ गान 'धुन' कहलाता है। लोकगीत में 'धुन' होती है, राग नही। यदि लोक-गान भी नियमो से जकड़ जायेंगे तो फिर वे लोक-गान नहीं रह पायेंगे। वे राग (शास्त्रीय सगीत) का रूप धारण कर लेंगे।

लोक-धुनो की संख्या अनन्त है। भारत के प्रत्येक जन-पद मे जितने भी लोक-गान प्रचलित हैं, उनकी विशेप धुन है। ये धुने निसर्गसिद्ध है। इन्हीं लोक-धुनो मे भारतीय संगीत(शास्त्रीय सगीत)के प्रत्येक राग छिपे हुए है।[1] यदि स्पप्टत: देखा जाए तो प्रतीत होगा कि लोक सगीत लोक-सम्वन्धो का सगीतमय इतिहास है। इस इतिहास मे हमारी पीढ़ियों के मानवीय सम्वन्ध, रीति-रिवाज, विश्वास व धारणाएँ, जीवन के मार्मिक अनुभव, प्रेम की मधुर कल्पना और समाज को एक सूत्र में पिरोने की लालसा का भावनात्मक प्रतिफलन रहता है।[2]

लोक-गान एवं उनमे प्रयुक्त धुनो का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि शास्त्रीय संगीत का विकास निश्चित रूप से लोक-गान पर आधृत है। लोक धुनो मे राग के मूल स्वरो को लेकर राग-रागनियो का निर्माण कर प्रदेश एवं जनपद विशेप की गान पद्धति पर उनका नामकरण करना भी इस वात को सिद्ध करता है कि शास्त्रीय संगीत का आधार लोक-सगीत ही है।[3]

इस प्रकार लोक-गीतो को परखने पर लोक-धुनो की निम्नलिखित विशेपताएँ मानी जा सकती हैं :

1 चार पाँच स्वरों मे सीमित (साधारणत.)।

2 लयवद्धता

3. लय के अनेक प्रकार इन धुनो मे से प्राप्त होते हैं।

---

1. मालवी लोकगीत : डा. चिन्तामणि उपाध्याय, पृ० 361
2. साहित्य, सगीत और कला . कोमल कोठारी, पृ० 173
3. मालवी लोकगीत : डा. चिन्तामणि उपाध्याय, पृ० 361-362

4. लोकधुनों के स्वर समय के अनुरूप होते है।
5. सरलता
6 धुन रचना प्रसंगानुकूल होती है।
7. एक धुन मे अनेक गीत गाये जा सकते है।[1]

इस प्रकार ये धुनें 'सुख-दुःख एवं आनन्द-उल्लास के भावों को प्रकट करने वाले लोकगीतो के शब्द संगीत की स्वर माधुरी के सहारे रस उत्पन्न करने की क्षमता रखती हैं।'[2]

जैसा कहा जा चुका है शास्त्रीय संगीत के अधिकाश रागो का जन्म लोकधुनों से ही हुआ है। अनेक ध्वनियाँ शुद्ध शास्त्रीय रागो से मिलती है। जिस भाव-विशेष का चित्रण गीत मे किया जाता है वह उसके शब्दो के अर्थ से पूर्णतः मेल खाता है, उसी भाव विशेष के अनुरूप शास्त्रीय संगीतकारो ने रागो का नामकरण किया।

यहाँ कुछ रागो का उल्लेख किया जाता है जो लोकगीतों में अधिक प्रयुक्त हुए हैं—जैजैवन्ती, पीलू, तिलककामोद, वसन्त, खमाज, काफी, देश, बिलावल, बिरहा (विरह)।

लोकगीतो मे मुख्यतः ख्याल, लावनी, दादरा, कहरवा, झूलना, कजली, रसिया, गजल, चौबोला, कव्वाली, खेमटा आदि लोक-ध्वनियाँ (लोकधुनें) आती हैं। भारतेन्दुयुगीन कवियों ने लोकधुनो के प्रयोग किये थे। भारतेन्दु जी ने ख्याल, लावनी, कजली आदि ध्वनियो (धुनो) के आधार पर अनेक गीतो की रचना की है।[3] प्रसाद एवं निराला के कुछ गीतो मे लावनी, रसिया, खेमटा आदि लोकगीतो की लय और शैलियों का सुन्दरतम समाहार है। बच्चन, नीरज, भवानी प्रसाद मिश्र, शमशेर, 'सुमन', गिरिजाकुमार माथुर प्रभृति कवियो ने लोकगीतो की धुन पर अनेक संगीत-प्रधान गीतो की सर्जना की है।

इसके अतिरिक्त फिल्म-निर्माताओं ने भी अब फिल्मी धुनो मे लोक-रुचि न देखकर लोकधुनो को ही अपनाना प्रारम्भ कर दिया है तथा लोकधुनो पर निर्मित फिल्मे अत्यधिक लोकप्रिय हो रही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोकगीत लोक-लय (लोक-छन्द), लोक-रुचि, लोक-निधि, लोक-दृष्टि, लोक-भावना, लोक-रीति, लोक-नीति, लोक-पक्ष, लोक-स्वर, लोक-धुन तथा लोक-स्वीकृति आदि पर सर्जित-निर्मित है तथा इन्ही से प्रेरित-प्रभावित हो समस्त गायक-कवि अपने गीतो-काव्यो की सर्जना करते हैं। फलतः साहित्यिक कहे जाने वाले चन्दवरदायी, विद्यापति, मीरा, कबीर, सूर, तुलसी, बिहारी, भूषण, घनानन्द, हरिऔध, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा, 'बच्चन', 'सुमन', 'माथुर,' 'अज्ञेय' प्रभृति कवि मूलतः लोक-कवि ही

1. सम्मेलन-पत्रिका लोक-संस्कृति अंक—पृ. 312
2. मालवी-लोकगीत चिन्तामणि उपाध्याय, पृ. 362
3. हिन्दी कविता मे युगान्तर डॉ. सुधीन्द्र, पृ 432

लोकगीत

1– अगिका संस्कार-गीतों का अध्ययन, निर्मलकुमार सिंह, भागलपुर 1979
2– अलीगढ़ तथा उसके आसपास के लोकगीतो, विशेपतया जिकरी भजनो का लोकमास्कृतिक अध्ययन, श्रीराम शर्मा, आगरा 1968
3– अवधी के लोकगीतो का सामाजिक अनुशीलन, हरिशकर शुक्ल, सागर 1964
4– अवधी लोकगीतो का सास्कृतिक अध्ययन, हर्पकुमार तिवारी, अवध 1981
5– आंध्र के लोकगीत, कर्णराज शेपगिरिरात्र, आगरा 1965
6– आगरा जिले के लोकगीतो का शास्त्रीय अध्ययन, मथुराप्रसाद दुबे, आगरा 1965
7– आगरा, मथुरा व अलीगढ क्षेत्र के भगतशैलीय काव्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, मिहिलाल यादव आगरा 1975
8– आगरे के लोककाव्य का भापावैज्ञानिक अध्ययन, अरविन्द कुलश्रेष्ठ, आगरा 1965
9– उत्तर भारत मे राजस्थानी लोकगीत, रामेश्वर शर्मा, बिहार 1977
10– कर्नाटक के लमानी लोकगीतो का साहित्यिक अध्ययन, हेगप्पा देसप्पा लमानी, कर्नाटक 1977
11– कागडा के लोकगीत . साहित्यिक विश्लेपण एवं मूल्याकन, गौतमचन्द्र शर्मा, गुरनानक 1974
12– काशिका जनपद के अकगीत, हीरालाल तिवारी, काशी 1965
13– काशिका वोली और उसके लोकगीतो का विवेचनात्मक अनुशीलन, आदित्यप्रसाद त्रिपाठी, सागर 1969
14– किशनगजिया वोली के लोकगीत, तारामोहन प्रसाद, कलकत्ता 1978
15– कुमाऊं के लोकगीतो का सास्कृतिक अध्ययन, हीरावल्लभ गहतोड़ी, अलीगढ़ 1971
16– कुमाऊँनी लोकगीतो का साहित्यिक एव सांस्कृतिक अध्ययन, पूरनचन्द्र पत, कुमायूँ 1978
17– गढवाल के लोकनृत्यात्मक गीतो का सास्कृतिक अध्ययन, शिवानन्द नौटियाल, मेरठ 1978
18– गढ़वाली वोली की रावल्टी उपवोली, उसके लोकगीत और उसमे अभिव्यक्त लोकसस्कृति, गोविंद चातक, आगरा 1957
19– गढ़वाली लोकगीतो मे नारी, कुसुम नौटियाल, गढवाल 1980
20– गूजरी लोकगीतो का अध्ययन, मेहरउद्दीन खा, मेरठ 1978
21– छत्तीमगढी लोकगीत, सुशीला पोहानकर, इंदिराकला 1972(संगीत विभाग से)
22– छत्तीसगढी लोकगीतो का भापावैज्ञानिक अध्ययन, एम० एल० यदु, रविशकर 1973

23- छत्तीसगढ़ी लोकगीतो का लोकतात्त्विक तथा मनोवैज्ञानिक अनुशीलन, श्रीगिनि हनुमतराव नायडू, नागपुर 1970

24- छत्तीसगढ़ी लोकगीतो का समाजशास्त्रीय अध्ययन, डी०एस० शुक्ल,रविशकर 1973

25- छत्तीसगढी लोकगीतो की भूमिका विशेषतया सरगुजा के आचलिक लोक-गीत, जे० पी० पाडेय, रविशकर 1971

26- थारू लोकगीतो का आलोचनात्मक अध्ययन, शभुशरण शुक्ल, आगरा 1973

27- नागरी लोकगीतो मे श्रृगार रस का सास्कृतिक अध्ययन, विश्वेश्वर प्रस द केसरी, राँची 1973

28- नृतत्व एव समाजशास्त्र के आधार पर छत्तीसगढ़ी के सरगुजा जिले के लोक-गीतो का अध्ययन, कुतल गोयल, जबलपुर 1972

29- पुष्पकरण समाज के विवाह गीतो का सास्कृतिक अध्ययन, उदयकिशन व्यास, जोधपुर 1976-77

30- पूर्वाचल के मुस्लिम लोकगीतो का अध्ययन, इरशाद अली; गोरखपुर 19.0

31- पूर्वी अवधी भाषा के लोकगीतो का अध्ययन, चन्द्रकला शर्मा, आगरा 1970

32- पूर्वी अवधी के लोकगीतो का सास्कृतिक अध्ययन, महेशप्रताप नारायण, आगरा 1975

33- फरीदावाद जनपद के लोकगीतो का समीक्षात्मक अध्ययन, विद्याबिंदु सिंह-काशी 1977

34- वज्जिका के लोकगीतो के रूपतत्त्व तथा वस्तुतत्त्व का विश्लेपणात्मक अध्ययन विनोदिनी शर्मा, विहार 1969

35- वरेली जनपद के लोकगीतो मे साहित्य का स्वरूप, प्रतिभा निगम, कानपुर 1980

36- वलिया जिले के भोजपुरी लोकगीतो का अध्ययन, रामजी तिवारी, भागलपुर, 1977

37- वुँदेलखड के लोकगीत तथा लोककवि ईशुरी का विशेष अध्ययन, शंकर-लाल शुक्ल, आगरा

38- वुदेलखडी लोकगीतो का सामाजिक सास्कृतिक एव काव्यगत तुलनात्मक अध्य-यन, विनोदकुमार तिवारी, सागर 1970

39- वुदेली लोकगीतो का सास्कृतिक अध्ययन, नोतीलाल चौरसिया, सागर 1972

40- वुदेली लोकगीतो का सास्कृतिक एव साहित्यिक विवेचन, रामभरोसे साहू, कानपुर 1974

41- वुदेली लोकगीतो मे प्रेमभावना, वीरेन्द्रसिंह परिहार, विक्रम 1969

42- वुलदशहर के सस्कार सवधी लोकगीतों का मध्यवर्ग एव निम्नवर्ग के आधार पर अध्ययन, चन्द्रकला त्यागी, आगरा (विद्यापीठ) 1962

हैं क्योंकि वस्तुत: सभी गायक-कवियो के गीतो-काव्यों का मूल उत्स लोक-क्षेत्र ही तो है।

—हिन्दी-विभाग
एस० एस० वी० कालेज
हापुड़ (उ० प्र०)



☐ हजारी प्रसाद द्विवेदी

ग्राम गीत का समस्त महत्त्व उनके काव्य सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं है। इनका एक वहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है एक विशाल सभ्यता का उद्घाटन, जो अब तक या तो विस्मृति के गर्भ में डूबी हुई है या गलत समझ ली गई है। आर्य आगमन के पूर्व ही समृद्ध आर्येतर सभ्यता भारतवर्ष में फैली हुई थी, उसके साथ ही और भी छोटी—छोटी सभ्यताएँ इस विशाल भू-भाग मे फैली हुई थी।आर्यों ने राजनीतिक रूप में तो भारतवर्ष को जीत लिया था पर वे सास्कृतिक रूप में पूर्णरूप से यहाँ के मूल निवासियो के द्वारा प्रभावित हो गए थे यहाँ की मूल सभ्यता वैदिक सभ्यता से एकदम भिन्न थी और आज भी लोकाचार स्त्री-आधार-पौराणिक परम्परा आदि के रूप मे वह विद्यमान है। ग्रामगीत इस सभ्यता के वेद है। वेद भी तो अपने आरम्भिक युग में श्रुति कहलाते थे। वेद भी आर्यों की महान् जाति के गीत ही थे और ग्राम गीतो की भाँति ही सुनकर याद किए जाते थे। सौभाग्यवश वेद ने श्रुति से उतरकर लिपि का रूप धारण कर लिया पर हमारे ग्रामगीत अब भी श्रुति ही हैं।··· लोकगीत का महत्त्व मोहनजोदडो से कही अधिक है। मोहनजोदड़ो सरीखे मग्न स्तूप ग्रामगीतो के भाष्य का काम दे सकते हैं।

—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 130

लोक-साहित्य पर सम्पन्न शोध-कार्य

—गिरिराज शरण अग्रवाल

लोक-कथाएँ

1– कुमाऊँ और गढ़वाल की लोककथाओं का विवेचनात्मक अध्ययन, प्रयागदत्त जोशी, जबलपुर 1972

2– कुमाऊँ की लोककथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन (विशेपतया अलमोड़ा तथा नैनीताल क्षेत्र) भवानीदत्त पत, आगरा 1978

3– कुमाऊँ की लोकगाथाओ का साहित्यिक और सास्कृतिक अध्ययन, उर्वादत्त उपाध्याय, आगरा 1971

4– कुमाऊँनी की लोककथाओं का अध्ययन, मोहनचन्द्र पंत, कुमायूँ 1980

5– पजाब की लोककथाओ का आलोचनात्मक अध्ययन, सुशील प्रभा, पंजाब 1970

6– वागपत तहसील की लोककथाओ का तात्त्विक अध्ययन, शिवकुमार शर्मा, मेरठ 1981

7– वंदेली और मालवी लोककथाओ का तुलनात्मक अध्ययन, के० एल० प्रवासी, भोपाल 1975

8– व्रज की लोककहानियों के अभिप्राय, सावित्री सरीन, कलकत्ता 1958

9– व्रजक्षेत्र की व्रतानुष्ठानक कहानियो का अध्ययन, आशा शर्मा, आगरा 1966

10– भारतीय लोककथाएँ : उद्‌भव और विकास, बसंतीलाल बम, विक्रम 1966–67

11– भोजपुरी लोकगाथा, सत्यव्रत सिन्हा, इलाहावाद 1953

12– मगही लोककथाओ का अध्ययन, नागेश्वर वर्मा, भागलपुर 1966

13– मगही लोककथाओ का लोकतात्त्विक अध्ययन, रामप्रसाद सिंह, मगध 1971

14– मालवी लोककथाएँ, प्रह्लादचन्द्र जोशी, विक्रम 1971

15– राजस्थान की व्रत कथाएँ, लक्ष्मीदेवी शर्मा, राजस्थान 1970

16– राजस्थान के पूर्वी अचल (व्रजप्रदेश) की लोककथाओ का साहित्यिक एव सास्कृतिक अध्ययन, टी० डी० दिनकर, आगरा 1981

17– राजस्थानी लोककथाएँ, कृष्णकुमार शर्मा, राजस्थान 1964

18– हिंदी क्षेत्रीय लोककथाओ के कथामानक रूप तथा अभिप्राय, ललिता सिंह, आगरा 1965

लोकगीत

1– अगिका संस्कार-गीतों का अध्ययन, निर्मलकुमार सिंह, भागलपुर 1979
2– अलीगढ़ तथा उसके आसपास के लोकगीतो, विशेपतया जिकरी भजनो का लोकसास्कृतिक अध्ययन, श्रीराम शर्मा, आगरा 1968
3– अवधी के लोकगीतो का सामाजिक अनुशीलन, हरिशकर शुक्ल, सागर 1964
4– अवधी लोकगीतो का सास्कृतिक अध्ययन, हर्षकुमार तिवारी, अवध 1981
5– आध्र के लोकगीत, कर्णराज शेपगिरिराव, आगरा 1965
6– आगरा जिले के लोकगीतो का शास्त्रीय अध्ययन, मथुराप्रसाद दुवे, आगरा 1965
7– आगरा, मथुरा व अलीगढ क्षेत्र के भगतशैलीय काव्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, मिहिलाल यादव आगरा 1975
8– आगरे के लोककाव्य का भापावैज्ञानिक अध्ययन, अरविन्द कुलश्रेष्ठ, आगरा 1965
9– उत्तर भारत मे राजस्थानी लोकगीत, रामेश्वर शर्मा, विहार 1977
10– कर्नाटक के लमानी लोकगीतो का साहित्यिक अध्ययन, हेगप्पा देसप्पा लमानी, कर्नाटक 1977
11– कागडा के लोकगीत . साहित्यिक विश्लेपण एव मूल्यांकन, गौतमचन्द्र शर्मा, गुरुनानक 1974
12– काशिका जनपद के अकगीत, हीरालाल तिवारी, काशी 1965
13– काशिका वोली और उसके लोकगीतो का विवेचनात्मक अनुशीलन, आदित्यप्रसाद त्रिपाठी, सागर 1969
14– किशनगजिया वोली के लोकगीत, तारामोहन प्रसाद, कलकत्ता 1978
15– कुमाऊँ के लोकगीतो का सास्कृतिक अध्ययन, हीरावल्लभ गहतोड़ी, अलीगढ़ 1971
16– कुमाऊँनी लोकगीतो का साहित्यिक एव सांस्कृतिक अध्ययन, पूरनचन्द्र पत, कुमायूँ 1978
17– गढ़वाल के लोकनृत्यात्मक गीतो का सास्कृतिक अध्ययन, शिवानन्द नौटियाल, मेरठ 1978
18– गढ़वाली वोली की रावल्टी उपवोली, उसके लोकगीत और उसमे अभिव्यक्त लोकसंस्कृति, गोविंद चातक, आगरा 1957
19– गढवाली लोकगीतो में नारी, कुसुम नौटियाल, गढवाल 1980
20– गूजरी लोकगीतो का अध्ययन, मेहरउद्दीन खा, मेरठ 1978
21– छत्तीसगढी लोकगीत, सुशीला पोहानकर, इदिराकला 1972 (संगीत विभाग से)
22– छत्तीसगढी लोकगीतो का भापावैज्ञानिक अध्ययन, एम० एल० यदु, रविशंकर 1973

23- छत्तीसगढी लोकगीतो का लोकतात्त्विक तथा मनोवैज्ञातिक अनुशीलन, श्रीगिनि हनुमतराव नायडू, नागपुर 1970

24- छत्तीसगढी लोकगीतो का समाजशास्त्रीय अध्ययन, डी०एस० शुक्ल,रविशकर 1973

25- छत्तीसगढी लोकगीतो की भूमिका दिशेपतया सरगुजा के आचलिक लोक-गीत, जे० पी० पांडेय, रविशकर 1971

26- थारू लोकगीतो का आलोचनात्मक अध्ययन, शमुशरण शुक्ल, आगरा 1973

27- नागरी लोकगीतो मे शृगार रस का सास्कृतिक अध्ययन, विश्वेश्वर प्रस द केसरी, राँची 1973

28- नृतत्व एव समाजशास्त्र के आधार पर छत्तीसगढी के सरगुजा जिले के लोक-गीतो का अध्ययन, कुतल गोयल, जवलपुर 1972

29- पुप्पकरण समाज के विवाह गीतों का सास्कृतिक अध्ययन, उदयकिशन व्यास, जोधपुर 1976-77

30- पूर्वांचल के मुस्लिम लोकगीतो का अध्ययन, इरशाद अली; गोरखपुर 19.0

31- पूर्वी अवधी भापा के लोकगीतो का अध्ययन, चन्द्रकला शर्मा, आगरा 1970

32- पूर्वी अवधी के लोकगीतो का सास्कृतिक अध्ययन, महेशप्रताप नारायण, आगरा 1975

33- फरीदावाद जनपद के लोकगीतो का समीक्षात्मक अध्ययन, विद्याबिंदु सिंह-काशी 1977

34- वज्जिका के लोकगीतो के रूपतत्त्व तथा वस्तुतत्त्व का विश्लेपणात्मक अध्ययन विनोदिनी शर्मा, विहार 1969

35- वरेली जनपद के लोकगीतो मे साहित्य का स्वरूप, प्रतिभा निगम, कानपुर 1980

36- वलिया जिले के भोजपुरी लोकगीतो का अध्ययन, रामजी तिवारी, भागलपुर, 1977

37- वुँदेलखड के लोकगीत तथा लोककवि ईशुरी का विशेष अध्ययन, शकर-लाल शुक्ल, आगरा

38- वुदेलखडी लोकगीतो का सामाजिक सास्कृतिक एव काव्यगत तुलनात्मक अध्य-यन, विनोदकुमार तिवारी, सागर 1970

39- वुदेली लोकगीतो का सास्कृतिक अध्ययन, नोतीलाल चौरसिया, सागर 1972

40- वुदेली लोकगीतो का सास्कृतिक एव साहित्यिक विवेचन, रामभरोसे साहू, कानपुर 1974

41- वुदेली लोकगीतो मे प्रेमभावना, वीरेन्द्रसिंह परिहार, विक्रम 1969

42- वुलंदशहर के सस्कार सबधी लोकगीतो का मध्यवर्ग एवं निम्नवर्ग के आधार पर अध्ययन, चन्द्रकला त्यागी, आगरा (विद्यापीठ) 1962

43- बैसवाड़ा अंचल के लोकगीत, उनमे जीवन और कला, कन्हैया लाल अवस्थी, कानपुर 1976

44- भरतपुर तहसील के लोकगीतों का लोकशास्त्रीय अध्ययन, आशा कुलश्रेष्ठ, आगरा 1977

45- भिंड-मुरैना मडल के लोकगीतों का भौगोलिक, ऐतिहासिक पद्धति से अध्ययन, पी० एन० उपाध्याय, जीवाजी 1972

46- भोजपुरी के सस्कार गीतो मे लोकसस्कृति का चित्रण, हरगोविन्द तिवारी, आगरा 1976

47- भोजपुरी लोकगीतों की सामाजिक तथा सास्कृतिक पृष्ठभूमि, धर्मवीरसिंह, विहार 1977

48- भोजपुरी लोकगीतो मे नारी के विविध रूप, विनोदलता मिश्र, काशी विद्यापीठ 1979

49- भोजपुरी लोकगीतो मे प्रकृति-चित्रण, लल्लन पाठक, आगरा 1979

50- मंडी के लोकगीतो का एक अध्ययन, काशीराम, पजाब 1974

51- मगही लोकगीतो का आलोचनात्मक अध्ययन, कल्याणेश्वरी वर्मा, पटना1964

52- मगही लोकगीतो मे प्रेम की अभिव्यंजना, वैद्यनाथ शर्मा, पटना 1974

53- मधुवनिक ब्राह्मणेतर सामाजिक परम्परा गीत, उर्मिला प्रसाद, विहार 1975

54- मधुवनी के आस पास सुरक्षित मैथिल समाज-जीवन के गीत, नदनदन झा, विहार 1971

55- मालवी लोकगीत, चिंतामणि उपाध्याय, नागपुर 1956

56- मेरठ जनपद के लोकगीतो का अध्ययन, कृष्णचन्द्र शर्मा आगरा 1958

57- मेरठ जनपद के सस्कार विपयक लोकगीत, स्वर्णकान्ता आर्य, आगरा 1965

58- मैथिली लोकगीतो मे समाज-चित्रण, लोकनाथ मिश्र, विहार 1969

59- मैथिली लोकगीत, पूर्णानन्दलाल दास, विहार 1962

60- मैथिली-लोकगीत, अणिमा सिंह, कलकत्ता 1963

61- मैथिली लोकगीतो का अध्ययन, तेजनारायण शास्त्री, नागपुर 1959-60

62- मैथिली लोकगीतो मे समाज-चित्रण, इलारानी सिंह, कलकत्ता 1972

63- राजस्थान के शृंगारिक लोकगीत, श्यामा लाधुसिंह कछवाहा, वड़ोदा 1977

64- राजस्थानी ख्यातों का सास्कृतिक अध्ययन, सज्जनकुमारी जैन, राजस्थान 1976

65- राजस्थानी फाग साहित्य और उसका सास्कृतिक महत्त्व, श्रीमती रमेशपारीक राजस्थान 1974

66- राजस्थानी वात-साहित्य : एक अध्ययन, मनोहरलाल शर्मा, राजस्थान1965

67- राजस्थानी वात साहित्य का सास्कृतिक अध्ययन, सीताराम चौधरी, जोधपुर 1969-70

68- राजस्थानी लोकगाथाएँ और निहाल दे सुल्तान, कृष्णविहारी सहल, राजस्थान 1969
69- राजस्थानी लोकगीत, श्रीमती स्वर्णलता अग्रवाल, राजस्थान 1959
70- राजस्थानी लोकगीतो का विवेचनात्मक अध्ययन, ब्रजकुमार कपूर, सागर 1973
71- राजस्थानी लोकगीतो में नारी–भावना, पुष्पलता शर्मा, राजस्थान 1974
72- राजस्थानी लोकगीतो मे विरह–भावना, श्रीमती सुशीला गुप्त, जोधपुर 1968
73- राजस्थानी वीरगाथात्मक पवाड़ो मे लोकतत्त्व, उषा कस्तूरिया, दिल्ली 1976
74- राजस्थानी वेलि साहित्य, नरेन्द्रकुमार भानावत, राजस्थान 1962
75- बघेली लोकगीतो मे सास्कृतिक चेतना एव सौदर्यभावना, जयनारायण सिंह, जवलपुर 1977
76- वैवाहिक अवसरो पर हिंदी के लोकगीतो का अध्ययन, कलक्टर दीक्षित, आगरा 1971
77- सागर जिले के ऋतु और उत्सव के लोकगीत, हीरालाल रायकवार, सागर 1960
78- हड़ौती लोकगीत, चन्द्रशेखर भट्ट, विक्रम 1964
79- हरियाणा के लोकगीतो का सामाजिक अध्ययन, जगदीश शर्मा, मराठवाड़ा 1972
80- हिंदी का फाग और वसंत काव्य, गोविंदप्रसाद नगाइच, आगरा 1967
81- हिंदी की पूर्वी अवधी (रायवरेली, प्रतापगढ़, सुलतानपुर, फैजाबाद, गोडा एव बाराबकी) के लोकगीतो का सास्कृतिक अध्ययन, चक्रपाणि पाँडेय, आगरा 1974
82- हिंदी लावनी-साहित्य पर हिन्दी सतसाहित्य का प्रभाव, पुण्यमचन्द्र मानव, मैसूर 1970

लोकगीत : तुलनात्मक

83- कश्मीरी तथा खडीवोली (हिन्दी) के लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन, जवाहरलाल हडू
84- अवधी और भोजपुरी लोकगीतो मे रामकथा, किरन मिसिरा, लखनऊ 1977
85- अवधी और राजस्थानी लोकगीतो का सांस्कृतिक विवेचन रघुनंदनसहाय श्रीवास्तव, राजस्थान 1977
86- खडीवोली और अवधी लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रेमा अग्रवाल, कानपुर 1975
87- छत्तीसगढ़ी एवं वुदेली लोकगीतो का तुलनात्मक अध्ययन, दुर्गापाठक आरती, जवलपुर 1974

88- वघेलखडी एवं छत्तीसगढी लोकगीतो का तुलनात्मक अध्ययन, गोविंदप्रसाद मिश्र, रीवा 1975

89- भोजपुरी और अवधी लोकगीतो का तुलनात्मक अध्ययन, श्रीमती विद्या चौहान, आगरा 1964

90- राजस्थानी और गुजराती लोकगीतो का तुलनात्मक अध्ययन, जगमल सिंह मेहरोट, राजस्थान 1971

91- राजस्थानी और गुजराती लोकगीतो का तुलनात्मक अध्ययन, हीरालाल, गुजरात 1971

92- हरियाणवी और राजस्थानी लोकगीत . एक तुलनात्मक अध्ययन, मेघराज शर्मा, कुरुक्षेत्र 1973

93- हिंदी और तेलुगु लोकगीतो का तुलनात्मक अध्ययन, सज्जा पशुपति राव, आंध्र 1978

94- हिंदी और मलयालम साहित्य के लोककाव्य का तुलनात्मक अध्ययन, के० करुणाकरन, कोचीन 1980

95- हिंदी तथा डोगरी लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन, जनककुमारी गुप्त, जम्मू 1968

लोक-नाट्य

1- अवधी की लोकनाट्य परम्परा, सतोपकुमार मिश्र, कानपुर 1980

2- कुरुप्रदेश की स्वागकला, इन्द्रसेन शर्मा 'वारिज', आगरा 1967

3- खड़ीवोली लोकनाट्य का अध्ययन, पद्मप्रकाश शुक्ल, मेरठ 1981

4- विहार की नाटकीय तथा नाटकीयप्राय . लोकविधाएँ, महेश कुमार सिन्हा, पटना 1973

5- वुलदशहर जनपद के लोकनाट्य साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, कालूराम, मेरठ 1976-77

6- भारतीय लोकनाट्यों की पृष्ठभूमि मे मालवा लोकनाट्य मंच : एक विशेष अध्ययन, शिवकुमार भवसागर

7- भोजपुरी लोकनाट्य साहित्य का अध्ययन, भरतसिंह, आगरा 1972

8- राजस्थानी लोकनाटक खयाल साहित्य का एक अध्ययन, प्रभुनारायण शर्मा, आगरा 1960

9- राजस्थानी लोकनाट्य परम्परा मे मेवाड का गवरी नाट्य और उसका साहित्य, महेन्द्रकुमार भानावत, उदयपुर 1968

10- हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य-परम्परा का आलोचनात्मक अध्ययन, पूरनचन्द्र शर्मा, कुरुक्षेत्र 1978

11- हाथरस के हिंदी स्वागो का इतिहास और उनकी कला, लक्ष्मणसिंह, कुरुक्षेत्र 1972

12– हिंदी लोकनाट्य की पृष्ठभूमि मे स्वाँग का अध्ययन, रामसिंह रावत, दिल्ली 1969

लोकसाहित्य

1-- अवधी का लोकसाहित्य, सरोजनी रोहतगी, विक्रम 1968
2– अवधी का लोकसाहित्य , कृष्णकिशोर मिश्र, लखनऊ 1968
3– अवधी लोकसाहित्य मे नारी–भावना, गुरुशरण लाल, लखनऊ 1973
4– अहिरानी बोल और उसके लोकसाहित्य का अध्ययन, विजय वनदेव चन्द्र, पूना 1979
5– अहीरवती लोकसाहित्य, श्यामसुंदर शर्मा, कुरूक्षेत्र 1976
6– उत्तर प्रदेश के हिंदीसाहित्य और लोकसाहित्य मे भैरों, परमात्मा प्रसाद माथुर, आगरा 1969
7– कन्नौजी लोकसाहित्य का अध्ययन, सतराम अनिल, लखनऊ 1965
8– कन्नौजी लोकसाहित्य मे समाज का प्रतिविंव, सुरेशचद्र त्रिपाठी, आगरा 1967
9– काँगडा क्षेत्र का लोकसाहित्य : एक समालोचनात्मक अध्ययन, ललितादेवी गुप्त, आगरा (विद्यापीठ) 1974
10– किन्नर लोकसाहित्य, वंशीराम शर्मा, पंजाव 19' 0
11– कुमाऊँनी जनसाहित्य का अध्ययन, (नैनीताल, अल्मोड़ा क्षेत्र), त्रिलोचन पाडेय, आगरा 1960
12– कुमाऊँनी लोकसाहित्य मे प्रेम का स्वरूप, रमेशचद्र पंत, कुमाऊँ 1979
13– कुल्लई लोकसाहित्य, पद्मचद्र कश्यप, पंजाव 1963
14– खडीवोली मे लोकसाहित्य का अध्ययन, सत्या गुप्त, इलाहावाद 1961
15– खडीवोली लोकसाहित्य मे नायक-नायिकाओ की परिकल्पना, महेशचद्र शर्मा, मेरठ 1973
16– घावरी वोली और लोकसाहित्य का अध्ययन, एन० वी० चौधरी, पूना 1975
17– छत्तीसगढ़ का लोकसाहित्य, चद्रकुमार अग्रवाल, नागपुर 1965
18– छत्तीसगढ़ी लोकजीवन और साहित्य का अध्ययन, शतकुला वर्मा, विक्रम 1964–65
19– छिंदवाड़ा जिले के आदिवासी लोकसाहित्य का अनुशीलन, नरसिंह धनोरिया, सागर 1979
20– जम्मू की पूर्वोत्तरीय पर्वतीय वोलियो का लोकसाहित्य, प्रीतम कृष्ण, जम्मू 1976
21– दोर्ली लोकसाहित्य का भाषापरक अध्ययन, रामजनय पाडेय, रविशंकर, 1971
22– निमाड़ी और उसका लोकसाहित्य, कृष्णलाल हस, नागपुर 1956
23– पावूजी राठौर के पवाड़े, व्रजलाल सिंह वारहठ, पिलानी 1972
24– पिथौरागढ समाज की वोली और उसका लोकसाहित्य, भवानीदत्त उप्रेती,

इलाहाबाद 1972

25– बंजारा लोकसाहित्य का मूल्यांकन, पुष्पलता बाबूराव रामपुरे, शिवाजी, 1976

26– बंजारी बोली के लोकसाहित्य का अध्ययन, भगवतीप्रसाद शुक्ल, नागपुर 1976

27– बघेली लोकसाहित्य का अध्ययन, भगवतीप्रसाद शुक्ल, आगरा 1956

28– बदायूं जनपद के लोकसाहित्य का साहित्यिक अनुशीलन, कुँवरपाल जोशी, आगरा 1978

29– बाँगरू का लोकसाहित्य, देवेंद्रकुमार मेहता (दीपक), आगरा 1968

30– बुंदेली लोकसाहित्य : भाषावैज्ञानिक और आलोचनात्मक अध्ययन, पूरनचंद श्रीवास्तव, जबलपुर 1964

31– बुंदेली लोकसाहित्य, रामस्वरूप श्रीवास्तव, विक्रम 1965

32– बुंदेली लोकसाहित्य . एक अनुशीलन, कन्हैयालाल वर्मा, रीवा 1977

33– ब्रज मे लोक चित्रकला निबद्ध लोकसाहित्य, चिरंजीलाल झा, आगरा 1966

34– ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, गौरीशंकर सत्येंद्र, आगरा 1949

35– भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन, कृष्णदेव उपाध्याय, लखनऊ 1951

36– भोजपुरी लोकसाहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, श्रीधर मिश्र, बिहार 1965

37– मालवी लोकसाहित्य : एक अध्ययन, बदरीप्रसाद परमार (श्याम परमार) आगरा 1957

38– मुरादाबाद जनपद के लोकसाहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन, शांतिदेवी गुप्त, आगरा 1972

39– मेरठ जिले के लोकसाहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, दयाशंकर वत्स, अलीगढ 1975

40– मेरठ जनपद की परिगणित जातियो के लोकसाहित्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन, देवीसिंह, मेरठ 1978

41– मैथिली लोकसाहित्य, ताराकांत मिश्र, मगध 1970

42– राजस्थान के लोक-देवता एवं तत्संबंधी लोकसाहित्य, पुष्पा भाटी, पिलानी 1970

43– राजस्थानी लोकसाहित्य का सैद्धांतिक विवेचन, सोहनदास चारण, जोधपुर 1972

44– लखीमपुर जनपद के लोकसाहित्य का अध्ययन, विमला शर्मा, कानपुर 1978

45– लोकजीवन में लोकविश्वास तथा अंध परंपराओं का अध्ययन, प्रियंवदा गुप्त, काशी 1977

46– विदर्भ क्षेत्रीय गोंडी बोली के लोकसाहित्य का अनुशीलन, सोहनलाल शर्मा, नागपुर 1968

47– शेखावटी लोकसाहित्य : एक अध्ययन, महावीरप्रसाद, राजस्थान 1973

48– सिंहासन बत्तीसी तथा उसकी हिंदी परंपरा का लोकसाहित्य की दृष्टि से अध्ययन, लक्ष्मीदेवी सक्सेना, आगरा (विद्यापीठ) 1962

49– सिरमूर का लोकसाहित्य, खुशीराम गौतम, पंजाब 1974
50– हरियाणवी लोकसाहित्य का साँस्कृतिक अध्ययन, श्रीमती सुमित्रा सिंह, राजस्थान 1980
51– हरियाणा प्रदेश का लोकसाहित्य, शंकरलाल यादव, लखनऊ 1958
52– हिंदी के लोकसाहित्य मे लोकमानस की अभिव्यक्ति का स्वरूप, उमारानी श्रीवास्तव, इलाहाबाद 1971
53– हिंदी क्षेत्र के लोकसाहित्य मे देवी, सुधा नौटियाल, आगरा (विद्यापीठ), 1969
54– हिंदी पूर्वी लोकसाहित्य मे प्रकृति, सुधाकर तिवारी, गोरखपुर 1980
55– हिंदी लोकसाहित्य मे ऋतु गीतो का अध्ययन, भावदेव पाडेय, आगरा 1967
56– हिदी लोकसाहित्य मे हास्य-व्यंग्य, वैरिस्टरसिंह यादव, लखनऊ 1976

तुलनात्मक

57– छत्तीसगढ़ी एवं उरण्व बोली के लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, उषा-रानी मिंज, रविशंकर 1980
58– छत्तीसगढ़ी के परिनिष्ठित साहित्य व लोकसाहित्य का तुलनात्मक व साहि-त्यिक अनुशीलन, विनयकुमार पाठक, रविशकर 1980
59– हिंद और कन्नड़ मे लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, पी० वी० नंजराज, मैसूर 1972

—हिन्दी-विभाग
वर्धमान कालेज,
बिजनौर (उ० प्र०)



लोक-गीत : स्वरूप एवं महत्व

महेशचन्द्र शर्मा

हर मनुष्य के अन्तस् में, चाहे वह सभ्य हो अथवा असभ्य, स्वानुभूति को वाणी देने की इच्छा अवश्य होती है। कारण ? कारण यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जब उसकी रागात्मक प्रवृत्ति लयात्मक होकर निकलती है, तभी वह 'गीत' रूप मे परिणत हो जाती है। मानव-मन की सहज-सरल अभिव्यक्ति लोकगीतो मे होती है। आडम्बर एव यान्त्रिकता के लिए इन गीतों मे कोई स्थान नहीं होता। वस्तुतः सरल हृदय की सरल अभिव्यक्ति ही 'लोकगीत' की आत्मा है। शान्तिनिकेतन के कुंजविहारी दास का कहना है कि लोकगीत उन लोगो के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति है जो सुसभ्य परिवारो से बाहर रहकर बहुत कुछ आदिम अवस्था मे निवास करते हैं। लोकगीत अधिकाशत: मौखिक एव परम्परागत रूप मे पीढी-दर-पीढी संक्रमण करता हुआ जीवित रहता है। इसीलिए इसमे हमे एक प्रकार की ताजगी और जिन्दादिली मिलती है जो लिखित एव रचित साहित्य मे उस परिमाण मे नही मिलती।

अब प्रश्न हो सकता है कि इन लोकगीतों का रचयिता कौन होता है ? इन लोकगीतो का रचयिता कोई व्यक्ति नही होता। सामान्य जन-मानस की अज्ञात सृष्टि भी इन्हे नहीं कहा जा सकता। फिर, इन गीतो का अविर्भाव कहाँ से होता है ? लोकगीतो के उद्‌गम के सम्बन्ध मे देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपना अभिमत दिया है। उनका कहना है, "कहाँ से आते हैं इतने गीत ? स्मरण-विस्मरण की आँख-मिचौनी से। कुछ अट्टहास से। कुछ उदास हृदय से। कहाँ से आते हैं इतने गीत ? जीवन के खेत में उगते है ये सब गीत। कल्पना भी अपना काम करती है, रसवृत्ति और भावना भी, नृत्य का हिलोरा भी—पर ये सब हैं खाद। जीवन के सुख, जीवन के दु.ख, ये हैं लोकगीत के बीज।"[1] लोक-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान डॉ० सत्येन्द्र ने कहा है "जब लोकमानस आनन्द से गद्‌गद् हो उठता है या वेदना का स्रोत प्रवाहित होने लगता है तो स्वतःप्रेरित भावलहरियाँ लोकमानस से प्रवाहित होने लगती हैं— ये ही लहरियाँ लोकगीत नाम से अभिहित होती हैं— न इनकी रचना का कोई स्वरूप है, न नियमावली। न ही लोकगीतो के मूल रचयिता का पता है।"[2]

---

1. देवेन्द्र सत्यार्थी . धरती गाती है, पृ० 178
2. सत्येन्द्र . लोकवार्ता की पगडण्डियाँ, पृ० 160.

लोक-गीत मानव-जीवन के गीत है। हर्डर का विश्वास था कि कविता का जन्म आदिम मनोभावो के प्रकृत प्लावन मे हुआ हैं। यह बात लोकगीतो एव काव्य-दोनो पर चरितार्थ होती है। अग्रेजी-कवि वर्ड्सवर्थ ने स्पष्टतः इस बात को प्रतिपादित किया है कि काव्य का उद्‌गम आदिम मनोभावो के प्रकटीकरण से हुआ है। उसने कविता की जो परिभाषा दी है, वह लोकगीतो के विषय मे उतनी ही सही है। उसकी मान्यता है कि अच्छा काव्य ही कालजयी होता है और वह केवल जन-जन के माध्यम से जीवित रहता है। जो लोग जीवन और प्रकृति के निकट रहते है, उनकी रचना ज्यादा सहज एव स्वाभाविक होती है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समूह से विलग होकर वह अपनी जीवन-यात्रा को नही चला सकता। लोकगीत सामूहिक अभिव्यक्ति है। इसीलिए उनमे हमे जीवन की ऐसी सभी स्थितियो की अभिव्यक्ति मिलती है जो व्यक्ति को सामूहिक जीवन से बाँध देती है।

अब 'लोकगीत' के सम्बन्ध मे भारतीय एव पाश्चात्य विचारको के मतो को उद्‌धृत करना समाचीन रहेगा।

भारतीय विचारकों के मतः—

1. "It's seed lies in community singing."[1]
   (लोकगीत का मूल जातीय सगीत मे है)
2. "A folk-song is a spontaneous out-flow of the people who live in a more or less primitive Conditions."[2]
   (लोकगीत उन लोगो के जीवन का स्वतोद्‌गीर्ण प्रवाह है जो आदिम अवस्था मे जीवन बिताते है।)
3. "लोकगीत किसी सस्कृति के मुँह-बोलते चित्र है।"[3]
4. "आदिम मनुष्य-हृदय के ज्ञानो का नाम लोकगीत है। मानव-जीवन की, उसके उल्लास की, उसकी उमगो की, उसकी करुणा की, उसके रुदन की, उसके समस्त सुख-दुःख की ··· ·· ······ ··· ··· कहानी इनमे चित्रित है।"[4]
5. "ग्रामगीत प्रकृति के उद्‌गार हैं। इनमे अलंकार नही, केवल रस है! छन्द नही, केवल लय है!! लालित्य नही, केवल माधुर्य है!!! ग्रामीण मनुष्य के, स्त्री-पुरुषो के मध्य मे हृदय नामक आसन पर बैठकर प्रकृति गान करती है। प्रकृति

---

1. Devendra Satyarthi : Meet my people, Page 194.
2. K. B Dass : A study in Orrison Folk-Lore Introducton, Page 1:
3. वासुदेव शरण अग्रवाल : आजकल- नवम्बर 1951.
4. सूर्यकिरण पारीक एव नरोत्तम स्वामी . राजस्थान के लोकगीत (पूर्वार्द्ध)-प्रस्तावना, पृष्ठ 1-2।

के वे ही गान ग्रामगीत है ।"[1]

6. "सामान्य लोकजीवन की पार्श्वभूमि मे अचिन्त्य रूप से अनायास ही फूट पड़ने वाले मनोभावों की लयात्मक अभिव्यक्ति लोकगीत कहलाती है ।"[2]

7. ग्रामगीत सम्भवतः वह जातीय आशुकवित्व है, जो कर्म या क्रीडा के ताल पर रचा गया है । गीत का उपयोग जीवन के महत्त्वपूर्ण समाधान के अतिरिक्त मनोरजन भी है ।"[3]

8. "ग्रामगीत आर्येतर सभ्यता के वेद है ।"[4]

9. "लोकगीतो के निर्माता प्राय. अपना नाम अव्यक्त रखते हैं और कुछ मे वह व्यक्त भी रहता है (बुन्देलखण्डी कवि ईसुरी की फागो में उसके नाम की छाप मिलती है) वे लोक–भावना मे अपने भाव मिला देते है । लोक–गीतो मे होता तो निजीपन ही है किन्तु उनमे साधारणीकरण और सामान्यता कुछ अधिक रहती है....."[5]

10. "लोकगीत मानवीय कृतित्व की वह सामान्य धरोहर है जो विश्व-मानव की भूमि पर प्राप्त हुई है ।"[6]

11. "लोक–गीत सर्वसामान्य की बहुश्रुत परम्परा के स्वतः स्फूर्जित उद्–गार है ।"[7]

12 "लोकगीत हमारे जीवन–विकास के इतिहास हैं ।"[8]

13. "लोकगीत मानव–हृदय की प्रकृत भावनाओ की तन्मयता की तीव्रतम अवस्था की गति है, जो स्वर और ताल को प्रधानता न देकर लय या धुन–प्रधान होते है ।"[9]

पाश्चात्य विचारकों के मतः—

1. "A folk song Composes itself."[10]
   (लोकगीत स्वतः उद्भूत है ।)

2 This primitive spontaneous music has been Called folk-song."[11]

---

1. रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी–भाग 5, प्रस्तावना, पृ० 1–2 ।
2. चिन्तामणि उपाध्याय लोकायन, पृ० 16 ।
3 सुधाशु . जीवन के तत्त्व और काव्य सिद्धान्त, पृ० 175 ।
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी · छत्तीस गढी लोकगीतो का परिचय–भूमिका, पृ० 5 ।
5. गुलाबराय . काव्य के रूप, पृ० 111 ।
6. सत्येन्द्र . हाडौती लोकगीत (ले० चन्द्रशेखर भट्ट)– प्राक्कथन ।
7. चन्द्रशेखर भट्ट : हाडौती लोकगीत, पृ० 30
8. तेजनारायण लाल · मैथिली लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० 16 ।
9. शान्ति अवस्थी . साहित्य सम्मेलन पत्रिका (लोक सस्कृति अक), पृ० 37 ।
10. Grimm : Encyclopaedia Britanica- Vol. IX Page 447.
11. Percy : वही, पृ० 448 ।

(आदिमानव के उल्लासमय संगीत को ही लोकगीत कहा जाता है ।)

3. "A folk-song if neither new nor old, it is like a forest tree with its roots deeply burried in the past, but which Continually puts forth new branches, new leaves, new fruits."[1]

(लोकगीत न नया होता है और न पुराना । वह तो उस जगली पेड की तरह होता है जिसकी जड़ें अतीत की गहराइयो मे घुसी होती हैं– परन्तु जिनमे नित नई शाखाएँ, नई पत्तियाँ और नए फूल खिलते रहते है ।)

इन मतो का ध्यानपूर्वक अनुशीलन करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना सरल हो जाता है कि लोकगीतों का मानव–जीवन से घनिष्ट सम्वन्ध है । लोक–जीवन हमारे देश एव समाज के प्राचीन गौरव तथा आदर्श की अभिव्यंजना जिस माध्यम से करता है, उसे 'लोकगीत' कहा जा सकता है ।

लोक-साहित्य के जितने भी रूप हैं, उनमे लोक–गीतो ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है । लोक–गीतो का महत्त्व निर्विवाद है । मौखिक परम्परा से प्राप्त ये गीत विभिन्न कालो एव स्थानो की बोलियो, सामाजिक एव सास्कृतिक स्थिति तथा ऐतिहासिक व राजनैतिक पहलुओ का ज्ञान प्राप्त करने मे हमारे सहायक हो सकते हैं । हर विषय का अध्ययन करने के लिए लोक-गीत हमारे लिए साधन उपस्थित करते हैं ।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने लोकगीतो के रसोद्रेक का उल्लेख करते हुए अपना मत व्यक्त किया है . "लोक के साथ सम्पर्क मे रहकर हमारे जीवन मे रुके हुए स्रोत फूटकर वहने लगेंगे और रस–ग्रहण करके टूटे हुए तन्तु फिर अपने तार से जुड़ सकेंगे ।"[2] डॉ० अग्रवाल ने यह एक ऐसा तथ्य उपस्थित कर दिया है, जो लोक-गीतो के सामाजिक महत्त्व को प्रतिपादित करता है ।

सच तो यह है कि मानव के प्राणो मे विद्युत सचार करने वाली शक्ति का प्रस्फुटन जितना लोक–गीतो मे हुआ है, उतना अन्यत्र नही । कहना न होगा कि हमारी आत्मा को प्रकृत-पुरातन आनन्द लोक मे पहुँचाने की सर्वाधिक शक्ति यदि कहीं है तो इन्ही लोक-गीतों में । इसीलिए लोकगीतो का जन-जीवन से शाश्वत सम्बन्ध हे । वस्तुतः, जन-जीवन जन-वाणी के पीछे-पीछे चलता हे ।



हिन्दी विभाग
लाजपतराय कॉलेज
साहिबाबाद (गाजियाबाद)

1, Ralph Williams : वही, पृ० 418 ।

2. वासुदेवशरण अग्रवाल धीरे वहो गगा (ले० देवेन्द्र सत्यार्थी)–आमुख ।

लोक-गीत

हरद्वारी लाल शर्मा

हर आदमी आदमी होता है, साथ ही कुछ और भी, जैसे वकील, डाक्टर, कारीगर, किसान। इसीलिए कहा जा सकता है कि हर आदमी 'आम' भी होता है, और 'खास' भी। समष्टि भी व्यष्टि भी, सामान्य भी और विशिष्ट भी, लोक भी लोकोत्तर भी, एक भी और अनेक भी। जीवन की समग्रता, अखंडता और सम्पूर्णता के लिए, वह 'खास' से 'आम' और 'आम' से 'खास' होता रहता है। लोक-गीत 'लोक' की अभिव्यक्ति है, आम सामान्य और समष्टि की। लोक-गीत को समझने के लिए यह उसका पहला आयाम है।

पहला, किन्तु पर्याप्त नही, क्योकि 'लोक' से ही समूचा सच्चा साहित्य, काव्य और कलाएँ, नीति-धर्म-दर्शन उपजते हैं, और जिन्हे हम लोक–काव्य कहते है, और गाथाओ, लोक-कथाओ, लोक-वार्ता आदि के रूप मे जानते है, इन सबका मूल उत्स भी लोकमानस है, अर्थात् 'आम' आदमी के मन का गहरा, अचेतन आयाम जहाँ जीवन की ऊर्जाएँ, काम और कामनाएँ, भाव और भावनाएँ पैदा होती पलती-पनपती है। यह हमारी सत्ता का वह विन्दु है जहाँ जीवन और मन एक है, चेतना और अन्तश्चेतन मिलते है। तव लोक-गीत की अपनी निजता क्या है? उसका अपनापन ? उसकी प्रकृति और स्वरूप ?

थोडा इतिहास की ओर देखे। वेद अपने मूल रूप मे स्यात् उत्कृष्ट लोक–गीत थे। वे छन्दोवद्धगीतियाँ है, अर्थात् ऋक्— इसमे सन्देह नही। वे गाये जाते थे। वेदों का पुराना नाम 'ब्रह्म' है—वेद से बहुत पुराना, और जो लोग स्वर और लय के साथ ब्रह्म ज्ञान करते थे, यज्ञ और युद्ध के अवसरो पर, वे 'ब्राह्मण' हो गये। ब्राह्मण-वर्ण वहुत बाद की वात है। साम और सोम, यज्ञ और युद्ध की इनमें चर्चा है, और दिव्य शक्तियो के लिए गद्‌गद् प्रार्थनाएँ, जिनमे समूचा आर्य-मानस बोल उठा है, गा उठा है। सस्कृति के ह्रास के साथ [या, इसे विकास कहे जिसमें अनेक अनार्य आदिम तत्त्व, आकर मिल गये और पंच कर एक हो गये ?] वेद विशिष्ट हो, गये, जन-चेतना से दूर, जिन पर केवल कुछ ऊपरी लोगो का अधिकार रह गया। विशिष्टता के कारण वे ब्राह्मण–क्षत्रिय तक सीमित हो गये। सस्कृत प्राकृतो, और अपभ्रशो का साहित्यिक विकास भी प्रारम्भ हो गया। कुछ लोगो की

धरोहर के रूप में ये लिखे भी जाने लगे। परन्तु कुछ लोगो मे सिमट आने से संस्कृत की विशाल काव्य-सम्पदा मे कोई लोकगीत नही मिलता, न मिलने की सम्भावना है क्योकि लिख जाने पर उसका रूप स्थिर हो जाता है। लोक-गीत की लोक, गति, जीवन्तता और मादकता लिखे जाने से समाप्त हो जाती है। व्याक-रण उसे बाँध देती है, शुद्ध-अशुद्ध भाषा का भेद लोक-गीत के हृदय को वेध देता है। प्राकृत और अपभ्रंश के लिखित साहित्यो में लोक-गीत नही मिलते। लोक-काव्य, लोक-गाथाएँ हैं। पर यह दूसरी बात है। स्पष्ट है कि जो लिखा गया, वह बुढा गया, जड और स्थिर हो गया। स्यात्, इसी कारण लोक-गीत लिखे नहीं गये, साहित्य और भाषा के रूपों में इन्हे जकड़ा नही जा सका। इस ऐतिहासिक साक्ष्य से सिद्ध है कि लोक गीत अलिखित होते है, लेख बद्ध नही और, दूसरी बात जो उससे भी अधिक महत्त्व की है, वह है कि लोक-गीत भाषा मे नही, बोलियो मे होते हैं, मुक्त कण्ठ से, मुक्त आकाश के नीचे, मौज और मस्ती से गाये जाते है। अलिखित होना और बोलियो मे पाया जाना, भाषा के लिखित परिष्कृत रूपो मे नही, लोक-गीत का आवश्यक आयाम है।

गेय गुण तो लोक-गीत का प्राण है। लिखे जाने पर प्राणवत्ता समाप्त हो जाती है। परन्तु यह गेय अथवा गीत तत्त्व है क्या ?

हम सभी का अनुभव है, अपने आप को अथवा गाने वाले को देखकर कि गाने के लिए हमारा तन-मन एक साथ तैयारी करता है। तन-मन के सामान्य तनाव और उत्तेजनाएँ ढीली होती है जिससे गीत के स्वर, लय, उठान, आरोह-अवरोह अपने नये तनाव उनमें भर सके, गीत के भावो का ज्वार उठे और तन-मन मे, आँखो, नाडी-नसो, यहाँ तक कि शरीर की पेशियो मे समा जाये। यदि गायक गीत के भावो से भरा नही तो गान की क्रिया मशीनी और निर्जीव रहती है। पेशेवर गायक यो ही किसी राग में फूट उठते है, किन्तु उनमे भी यह क्रिया, तन-मन के वितान का भावो से भरपूर हो उठना— अभ्यास के बावजूद भी, होती है। इस ज्ञान अथवा 'गूँज' के अभाव में स्वरो मे जीवन का अनुरजन अथवा अनुगूंज नही होता, नही सुनाई पडता। साधारण श्रोता तो स्वर तक भी नही पहुँचता। वह शब्दो मे ही उलझा रह जाता है। परन्तु गीत का आत्म-तत्त्व तो स्वरो के पीछे रहता है। शब्द वैखरी भाषा है, स्वर मध्यमा नाद है जो आकण्ठ बजता है, और हृदय के रणन में अथवा भावो की गूंज मे इसका पश्यन्ती रूप रहता है। यह पश्यन्ती रूप भी किसी 'परा' की स्फूर्ति और अभिव्यक्ति है। इस प्रकार गीत की वैखरी—शब्दो पर तैरता हुआ श्रोता उस आश्चर्य और रहस्यात्मक आयाम तक पहुँचता है जो हमारे अस्तित्त्व की गुहा मे सन्निविष्ट है। पर श्रोता तो तब वहाँ पहुँचेगा जब गायक (वेद का उद्-गाता) वहाँ पहले से ही मौजूद हो।

गीत की इस प्रकृति और स्वरूप से लोक-गीत के स्वरूप का बहुत कुछ

अवगाहन किया जा सकता है। लोक-गीत गाये जाते है।"[1] मिलकर लोक-काव्य लिखा भी जा सकता है। लोक-गीत मे विशेष अवसरों के अनुरूप अपना विशिष्ट स्वर-वितान और स्वर विस्तार होता है, विशिष्ट लय और आरोह-अवरोह, जो मन के गम्भीर भावों से भरकर ध्वनि-धाराएँ उठाता है, स्पन्दन पैदा करता है और खामोशी (Silence) को भर देता है। टेहले और धार्मिक गीतों को लीजिए जो बहुत पुराने हैं। शब्द और साहित्य की दृष्टि से उनमें अधिक नहीं, पर जब स्त्रियाँ मिलकर इन्हे गाती हैं, धीमी, मद्धिम लय में गीत की लयात्मक ध्वनि-धारा में साक्षात् 'परा' अध्यात्म, हमारे अस्तित्व का गम्भीरतम आयाम उतर आता है। कानो के मार्ग से सीधा प्रवेश कर भीतर-बाहर छाने लगता है लेखक ने कई ऐसी वृद्धाओ को देखा है जो 'देवी' के विशेय गीत को कान मे पडेते ही भावों से विभोर होकर मूर्च्छित हो जाती थी गीत के बोल इतने सरल थे : देवी के भवन मे लटक रहे फुंदना, देवी के भवन मे। लटक रहे, लटकाये रहे बजना देवी के भवन में। इत्यादि "देवी के भवन मे, इस पुनरावृत्ति मे और साथ ही इसकी मन्द, गम्भीर लय मे'इतना प्रभाव था कि सभी सुनने और गाने वालियों पर वह दिखाई पड़ता था। जाहर पीर के रतजगो के अवसर पर माता-देवी के लिए किये गये रातभर चलने वाली मान्यताओं पर, पर्वों, धार्मिक मेलो, यात्राओ के समय (जैसे, चैत्र मास मे करौली "[2] को जाती हुई भक्तो की टोलियो मे) लोक-लयो का जादुई प्रभाव प्रत्येक श्रोता ने अवश्य ही देखा होगा। इनमे जादू, चमत्कार और मत्रो का सम्मोहन रहता है जो, यदि श्रोता थोडा-सा अपने मन से मुक्त होकर स्वीकार करे तो अवश्य ही तन-मन पर छा जाता है और, प्रभाव आज का मनुष्य ही नहीं जानता। वैदिक (श्रोत) एव स्मार्त्त विधियो को मान्यता देने वाले पण्डित कर्मकाण्ड ने मत्रो के प्रभाव को स्वीकार करके भी अमत्रक संस्कार जिन्हे टहले कहा कहा जाती है स्त्रियों द्वारा गीत गाकर ही पूरे किये जाते है : हल्दी के गीत, लगुन चढ़ने के गीत, फेरों के गीत, गौरी-पूजा के गीत, देवी के गीत, न जाने कितने गीत हैं जिनमे मंत्रों का रहस्य, जादू, चमत्कार और प्रभाव है पण्डितो ने इस प्रभाव को स्वीकार किया, क्योंकि प्रत्येक पण्डित के विशिष्ट व्यक्तित्व के नीचे और पीछे एक अ-पण्डित, आदिम मानव जीता-जागता है। सच यह प्रतीत होता है कि ये लोक-गीत लोक-जीवन के मत्र हैं।

1. तुलनीय एक अमेरिकी कहावन— मेक्सिको मे कोई गाना नही जानता और सब गाते हैं। बहुत देर तक कोई भी अपने को 'कोरस' (समूह गान) मे शामिल होने से नहीं रोक सकता। American Folklore पृ० 356.

2. ये लोकगीत 'लांगुरिया' कहलाते है, इनकी अपनी धुन है। अपनी मन्त्र-शक्ति से यह भक्तों की टोलियो को मानो नाच उठने के लिए मजबूर करता है। पैदल यात्राओं के युग मे, मार्ग [illegible] और मार्ग लांगुरिया से गूंज उठते थे। आज रेलो ने इस लोक-गीत की रेढ़ मार दी है।

सम्भव है कि लोक-गीतो का आविर्भाव आदि मन और मानव की मूल धार्मिक वृत्ति से हुआ हो जिसकी आँखो ने अपने ओर चारो ब्रह्माण्ड मे किसी रहस्य मय, दिव्य शक्ति को देखा था और उसका सान्निध्य एवं आशीष पाने के लिए धार्मिक विधानो की कल्पना की थी। इस तर्क का आधार है : लोक-गीतो मे आज भी पाया जाने वाला मत्रो का जादुई प्रभाव। इनका अलिखित रूप और इनकी गेयता और, गेयता भी वह जिसमे शब्दो की अपेक्षा स्वर लय, ध्वनि, स्पन्दन, उतार–चढ़ाव एवं मूल लोक-गीतो का मन्द, मद्धम लय-विधान ! लोक-गीत, सचमुच लोकजीवन के मंत्र हैं।

लोक-गीतो का मंत्र-स्वभाव और जादुई प्रभाव एक अन्य तत्त्व से भी स्पष्ट है। वह तत्त्व है इनमे समाया हुआ और मचलता हुआ नृत्य। लोक-गीत की लय और स्वर-लहरी जब तन–मन के वितान को भरपूर भरकर हिलोरें लेती है तो उसमे समाहित नृत्य पद-चाप मे घूंघरू और पैंजनियो की ताल मे, कण्ठ और हाथो की मुद्राओ में थिरकने लगता है। नृत्य लोक–गीत का जीवन तत्त्व है। अधिकाश मे लोक-गीत नृत्य–कभी या बहुधा तो समूह–नृत्य-के साथ गाये जाते है। सभ्यता के साथ नृत्य का लोक-रूप छिपता जा रहा है, फिर भी तथाकथित पिछड़े क्षेत्रो और पिछडी जातियो मे नृत्य-लोक-नृत्य-जीवित है। मानना होगा कि लोक-चेतना की उत्कृष्टतम गतिशील और मधुर अभिव्यक्ति नृत्य के बाहर कही नही होती।

नृत्य और लयः—

भारतीय कला–विधान के ये दो सार तत्त्व है, और सारे कला-विधान अन्ततः जीवन से प्राप्त होते हैं।

नृत्य-तत्त्व के अतिरिक्त सामूहिकता लोक-गीत के लिए अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होती है– मिलकर ही गाये जाते है। लोक-गीत जिनके समवेत स्वरों मे मन की मूल, आदिम लोक–चेतना–सबके मन में समाई बात-साफ झलकती है। यों समूह-गान, '1' Chorus Songs, होते है, किन्तु लोक गीत मे समष्टि मन–आम आदमी–सामूहिकता के पीछे से झाँकता है और ये समूह भी, अधिकांश में, नारियो के होते है, धार्मिक गीतो, रतजगो, पर्वों और जात के अवसरो पर वृद्धाओं के गम्भीर स्वर; विवाह, बधाई आदि अवसरों पर युवतियो के युवा स्वर, पिछड़े क्षेत्रो में 'जहाँ लिंग-भेद को जीवन मे मान्यता नही दी है, वहाँ स्त्री और पुरुपो के मिले–जुले स्वर। पर कुछ बात है कि स्त्री-वृद्धा, युवती, अथवा कुमारियो ने लोक–गीत को अपने कण्ठ में सँजोया है। एक कारण हो सकता है नारी-स्वभाव की भाव-

---

1. लोक–गीत के गायन और रचना दोनो मे 'सामूहिकता' अनिवार्य तत्त्व है। एक गाये और बनाये भी, तो भी वह 'एक' लोक–मानस और लोक–वाणी का माध्यम ही होता है। तुलनीय American Folklore : पृ० 356 behind the folk song and the individual folk singer is the folk-group, at work, worship or play, which speaks in and through him.........

प्रवणता, जीवन के समीपतम होने से मन के मूल भावो की सम्पन्नता, जो प्रौढ़ पुरुप मे वैज्ञानिकता के विकास के कारण दुर्वल हो उठती है। लोक-गीत मन की गम्भीरतम भूमिशो को हीं नहीं छूते, वे जीवन के समीपतम होते है जहाँ इनमे अपने स्वर और सुगन्ध रहते है। स्त्री का मन जीवन के समीप रहने के कारण लोक-गीत उसी का दाय वन उठा है।

धरती की इसी सौंधी गध के कारण इन्हे ठीक ही 'धरती के गीत' कहा गया है . लोक-गीत यानी धरती के गीत।

लोक-गीत के लक्षणो को सामने रख कर इन्हें लोक-जीवन और लोकमानस की समान जैसी दिखने वाली अभिव्यक्तियो से अलग समझा जा सकता है। सक्षेप मे ये लक्षण है : 1. 'लोक' की अभिव्यक्ति 2. अन्तश्चेतन अथवा प्राथमिक भावो की अभिव्यक्ति 3. लोच, जीवन्तता, सहज और छन्द-व्याकरण तथा रीति के वन्धनों से मुक्त 4. अलिखित और अनाम 5 भापा मे नही वोली मे गाये गये 6. गेय गुण, 7 मत्र अथवा जादू का प्रभाव अथवा मार्मिकता, 8 नृत्य और लय का प्राधान्य, 9 सामूहिकता, 10 स्त्रियो की प्रमुखता।

किसी भी एक लक्षण से लोक-गीत को समान अभिव्यक्तियों से पृथक् करना आसान नही है। जैसे, किसी भी मार्मिक अभिव्यक्ति के मूल मे 'लोक' रहता है। आज कुछ आलोचक[1] सच्चे काव्य को 'व्यक्ति' का काव्य मानते है, लोक की अभिव्यक्ति को नहीं। किन्तु यह विवादास्पद है कि व्यक्तित्व के किस अश, अतराल और आयाम से कवि के स्वर उमड़ते है। सच यह प्रतीत होता है, कि 'व्यक्ति' का सृजनशील और सत्यतम आयाम वह है जहाँ वह स्वय 'लोक' होता है। जो हो, लोक-लक्षण लोक-गीत का महत्त्वपूर्ण लक्षण है। वह मूल चेतना और प्राथमिक भावो को रूपित करता है, न कि द्वैनीयक[2]-भावों को, जैसा कि अभिजन काव्य मे होता है। लोग आल्हा वनाकर, रसिया, रागिनी या लोक-गीत भी रच कर समय-समय पर गाते हैं, जैसे युद्ध चुनाव अथवा ऐसे ही अवसरो पर होता है। ये सचमुच लोक-गीत नही हैं। इसी प्रकार साङ्गीत रचनाएँ की जाती हैं। लखमीचन्द, जगराम सिंह, मास्टर शिव्वासिंह, सुदूरपूर्व मे विदेसिया के रचयिता भजन आदि अनेक लोगों ने लोक मच को समृद्ध किया है। पूर्व दक्षिण और पजाव मे अपने प्रकार की सगीतात्मक और नाट्य-प्रधान रचनाएँ है। इनमे विपय अधिकाश मे 'लोक' और मन की प्राथमिक भावनाएँ होती है, ढूँड-ढूँड कर सच्ची अथवा कल्पित लोक-कथाओ को मार्मिक स्वरों में गाया और अभिनीत किया है जैसे, भर्तृहरि, नल-दमयन्ती (ढोला), राजा हरिश्चन्द्र, हीर-राँझा और अनेक मार्मिक प्रेम-कथाएँ। ये वोली मे लिखे और मचित होते हैं। भापा की भी छूट रहती है। केवल सगीत के लिए इन्हे ताल-तुक

1. गिरिजा कुमार माथुर और व्यक्तिवादी कवि जो 'मैं' को 'हम' से अधिक महत्त्व देते है। अज्ञेय, मुक्तिवोध आदि 'मैं' से 'हम' का विकास मानते है, व्यक्तित्व का ह्रास नहीं
2. द्वैतीयक भाव—Secondary feelings जो संस्कृति की देन है।

मे बाँधा है—केवल इतना ही छन्द का वन्धन होता है। लगभग ये रीति-मुक्त हैं, इस अर्थ मे कि इन्हे किन्ही पूर्व-पारिभाषित रूपो में समेटना सम्भव नही होता, क्योकि इनमें 'आचार्य' नही होते। हाँ, गुरू-चेला का भाव रहता है। गुरू-चेला की मोहर हर राग-रागनी पर लगी होती है · जैसे, देखें · ताल पर की मुरगाई

गुरू तेरा तने समझावे तू क्षत्री लाल कहावे।
शिवचरण शर्मा कथ के गावे, नया छन्द बनाना बच्चा।

[खास प० लखमीचन्द]

नयी-नयी तर्जे, छन्द, कहानियाँ गढ़ने की छूट होती है। परन्तु सब कुछ होते हुए भी अलिखित अनाम लोक-गीत नही हो सकते। गेय गुण होता इनमे भी। जोगी वैरागी इकतारा, सारगी या धुतारा (दो तार का बाजा), खजरी, डमरू, ढ़प (दफ) को लेकर बड़े मार्मिक गीतों को मार्मिक स्वरो में गाते और रतजग करते हैं। इनमे मत्र का जादुई प्रभाव भी रहता है। किन्तु इनमे 'समूह' और समूह भी स्त्रियो का, और विशेष अवसर से उत्पन्न गहरी मार्मिकता, प्राथमिक भावो का उन्मुक्त उद्गार आदि न होने से ये सच्चे अर्थ मे लोक गीत नही होते। लोक-गीत अपने कई लक्षणो के कारण 'आदिम मनु और आदिम मन' मरा नही, कभी नही मरता। वह तथाकथित सस्कृत, सभ्य, विज्ञानी मानव की अन्तश्चेतना के रूप में अमर है।

जेल रोड, मेरठ

लोक-गीतों में सांस्कृतिक चेतना

परमानन्द पाण्डेय

लोकगीतो मे जनजीवन का पारम्परिक एवं स्वाभाविक चित्र सुलभ होता है। इसलिए लोकगीतों को समाज का स्वच्छ दर्पण माना जा सकता है। हमारा सारा सामाजिक जीवन सगीतमय है। भारतीय समाज मे जीवन में प्रत्येक अवसर को, प्रत्येक कर्म को, सागीतिक सुष्ठुता देकर उसका उपभोग किया जाता है। पुरुप खेत मे श्रम करते हों या जगलों मे गाय चराते हों, चाहे स्त्रियाँ खेतो मे धान रोपती हो या घर मे चक्की चलाती हो, वे वरावर शरीर और मन मे स्फूर्ति लाने के लिए सरस गीतो की लहरो पर झूमती हुई दिखायी देती है। जन्म–विवाह आदि मांगलिक अवसरो को तो लोकगीत अनुपम मनोहरता प्रदान कर उन्हे उत्सव मे परिणत कर ही देते है।

गार्हस्थ जीवन में एक पुत्र का होना परमावश्यक है। यदि गृहस्थ के घर में पुत्र नही है तो सारी गृहस्थी, धन-सम्पत्ति विल्कुल निस्सार है—सारा घर अन्धेरा है। एक भोजपुरी सोहर में इसी भाव को व्यक्त किया गया है—

सून लागे दिया विनु मन्दिल, माग सेनुर विना हो।
ललना ओइसन सून तिरिया गोद, से एक वालक बिना हो॥
सून लागे महल अटरिया, अवरु खेत धरतिया वितु हो।
ललना नही नीक लागे सुखभोग, से एक सतति विनु हो॥

जिस स्त्री को सन्तान नही है उसका जीवन वडा दुःखमय हो जाता है। उसको चारो ओर अपमान ही मिलता हैं। सास, ननद, पति सभी उसकी उपेक्षा करते है। यहाँ तक कि उसको जगल के हिंस पशु तक अपना भोज्य वनाने के लिए तैयार नहीं। निम्नलिखिन लोकगीत मे ऐसी एक अभागिन स्त्री की मनोव्यथा को मार्मिक अभि-व्यक्ति दी गयी है –

सासु मोरी कहेली वझिनियाँ, ननद ब्रजवासिनि हो।
ललना, जिनकी हम वारी रे ब्याही ऊहो घर से निकालइन हो॥

घर से निष्कासित यह वाँझ स्त्री जगल मे जाकर–वाघिन से प्रार्थना करती है कि वह इसे खा जाए तो इसको दुख से छुटकारा मिले। किन्तु वाघिन भी इसे घर लौट जाने को कहती है, क्योकि वह इसे खायेगी तो वह भी वाँझ हो जाएगी। वाँझ हो जाने के भय से उसे सर्पिणी नही डँसती, धरती भी अपने अन्दर ले लेने से इनकार

कर देती है। यहाँ तक कि नैहर मे माँ भी यह कहकर लौटा देती है कि उसको रखेगी तो उसकी वहू बाँझ हो जायेगी।

एक दूसरे सोहर मे पुत्रहीन महिला गंगा मे डूबने जाती है और 'गगा माय' से प्रार्थना करती है कि वह अपनी लहरों मे इसको डुबा दे तो इसको अपमानजनक जीवन से छुटकारा मिल जाए। गगा माता उसे डूबने का कारण पूछती है तो वह जवाब देती है—

नाहि मोरा सास-ससुर दु.ख, नही नैहर दूर बसे हो।
गंगा माय, ना मोर पिया परदेस, कोखि दुःख डूबऊँ हो॥

किन्तु 'गंगा माय' को दया आ जाती है और वह उसे पुत्र पाने का वरदान दे देनी है। तव वह गगा माय' से भगीरथ जैसा पुत्र मागती है और पिअरी चढाने का वादा कर लौट जाती हैं।

यह गीत विहार की सभी लोकभाषाओं अगिका, वज्जिका, भोजपुरी मगही, मैथिली के अतिरिक्त अन्य प्रादेशिक भाषाओं मे भी ईषत् अन्तर के साथ प्रचलित है।

नारी जीवन में इतनी समस्याएँ हैं कि वह अगले जन्म मे नारी होना चाहती ही नही। अगर कही नारी हो जाए, तो वह अपने जीवन को शान्तिपूर्वक जीने के लिए सूर्य भगवान से निम्नलिखित प्रार्थना करती है—

गोड़ तोरा परिओ सुरुजदेव, जलम मति दीहऽराम तिरिया।
तिरिया जलम जो दीहऽ बहुत मति दीहऽराम सूरती।
सुरती वहुत जो दीहऽ पुरुख मति दीहऽराम मुरखा।
मुरुखा पुरुख जो दीहऽ बहुत मति दीहऽराम बलका।
वलका वहुत जो दीहऽ, पकरि धरि झेंके राम बटिया।

आधुनिक सभ्य समाज मे परिवार–नियोजन की उपादेयता को वहुत महत्त्व दिया जा रहा है और छोटा–परिवार सुखी–परिवार के सिद्धान्त को वहुत प्रचारित किया जा रहा है। किन्तु वहुत पहले ही हमारे प्राचीन लोकगीतो मे परिस्थिति के अनुकूल सीमित परिवार की महत्ता को स्वीकार किया गया है जो उपर्युक्त गीत से स्पष्ट होता है।

भारतीय समाज में पति ही सब कुछ है। यहाँ तक कि पति को परमेश्वर माना गया है। भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ पति की मृत्यु के वाद पत्नी उसकी चिता पर जलकर सती हो जाती है। हमारे इतिहास मे ऐसी अनेक सतियों की गाथाएँ सुलभ हैं। एक समय कानून के द्वारा सती-प्रथा को बन्द कराने के लिए शासन और राजा राममोहन राय जैसे आधुनिक समाज–सुधारकों को कठिन प्रयास करना पड़ा था। फिर भी, आये दिन कही-कही सती होने की घटना अखवारो मे मिलती ही हैं। भारतीय नारी के इस पवित्र और अलौकिक उत्सर्ग की छाया यहाँ के पशु-पक्षी पर भी पड़े विना नही रहती। निम्नलिखित लोकगीत मे एक हिरनी की सतीत्व भावना की करुण एव हृदयद्रावक अभिव्यक्ति दी गई है—

पानी के पियासल हरिनमा, जमुनमा घाटे रे जाय।
वोअलो मैं चिनवा हो रामा, हरिनमा चरि रे जाय।
वाट-उटोहिया रे भइआ तुहूँ रे मोर भाय।
एहि राहे देखुआ हरिनमा वहेलिया ले ले रे जाय।
देखइ हे पातरि हम हाजीपुर के हाट।
हाथ गोड वान्हले वहेलिया, हटिया ले ले रे जाय।
पग तोरे थाके वहेलिया, हथवा लागे रे घून।
कवनी कसूरवा वहेलिया, मोरी सेजरिया कइले सून।
चाम मास वेचिहे वहेलिया, हाड़वा दिहे रे मोर।
ओही हाड़ लेइ सती होइवो, एहि जमुना के तोर॥

प्यासा हरिण पानी पीने के लिए जमुना किनारे जाता है। बहेलिया उसे मार कर उसका चाम-मॉस हाजीपुर हाट मे वेच लेता है। व्याकुल हिरणी सती होने के लिए उसकी हाड की याचना करती है।

यहाँ हिरणी भारतीय ललना से भी आगे बढ गयी है—वह तो पति के शव के साथ सती होती है—वह केवल हिरण की हड्डी लेकर ही सती होगी। यहाँ हिरणी की विवशता, व्याकुलता, पातिव्रत्य तथा निरीह प्राणी पर हिंसक मनुष्य के अत्याचार को एक ही साथ चित्रित करके उसकी मार्मिक पीड़ा को मुखरित किया गया है। यह हिरणी भारतीय सती नारी का प्रतीक है।

लोकगीतो के रचयिता अज्ञात है। इन गीतो की पृष्ठभूमि में सैकड़ो वर्षो की परम्परा है। आज प्राप्य लोकगीतो मे इनका मूलरूप सुरक्षित नहीं है। इसका कारण यह है कि कोई गीत एक कठ से दूसरे कठ मे मुक्त सचरण करता हुआ गाँव, क्षेत्र और प्रान्त की सीमाएँ पार कर जाता है। लोकगीतों की विशेपता यह है कि ये जहां पहुंचते है वहीं की माटी मे रँग जाते है और वहीं की भापा और लय का निचोल धारण कर वही हो जाते हैं। इसी उदारता के कारण एक ही गीत ईपत् परिवर्तन के साथ मगही, मैथिली. भोजपुरी, अगिका वज्जिका आदि लोक भापाओ मे प्राप्त है। विहार के वाहर भी छत्तीसगढ़ी. भतरी, वुन्देली, कन्नौजी व्रज, अवधी आदि मे भी कुछ स्थानीय भापिक परिवर्तनो के साथ समान रूप से गाये जाते है।

देश के प्रत्येक क्षेत्र की लोकभारती मे असंख्य रत्न भरे पड़े है जो भारतीय जीवन को पूर्णरूपेण व्यक्त करते है। हमारा लोक-साहित्य भाषा भाव वैभव और व्यंजना शक्ति से सम्पन्न है। इनके सग्रह और संरक्षण की समुचित व्यवस्था वाछित है। आज हमारे धर्म, सस्कृति एवं शिक्षा पर अनेकविध प्रभाव पड़ रहे है जिनसे हमारे जीवन मे कृत्रिमता और विकृति पैदा हो रही है। हमारी संस्कृति को सबसे अधिक क्षति पहुँचायी है—फिलमो ने। लगता है अश्लीलता, नग्नता, लूट हत्या आदि अपराध कर्मों को दिखलाने के लिए फिल्मो का निर्माण होता है। आजकल विवाहादि मागलिक अवसरो पर सिनेमा के अश्लील रेकार्ड वजाये जाते हैं। स्कूल-कालेजों मे

पढ़ने वाली लड़कियाँ गीत गाने को असभ्यता मानती है। कुछ युवतियाँ गाती भी है तो मागलिक लोकगीतो के वदले सिनेमा का गीत गाना ही अधिक पसन्द करती है।

ऐसी स्थिति मे हमारे पूर्वजो की एक अमूल्य सास्कृतिक धरोहर लुप्त हो रही है। अत. समाज के प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान इस ओर जाना चाहिए और लोकगीतो के सरक्षण और प्रचार का प्रयास किया जाना चाहिए।

—अनुसधान पदाधिकारी
बिहार-राष्ट्रभापा-परिषद, पटना-४

☐

☐ मध्य प्रदेश की करमा नामक जाति के लोकगीत की पक्ति का आशय—
'यदि तुम मेरे जीवन की सच्ची कहानी जानना चाहते हो, तो मेरे गीतो को सुनो।'
— डॉ० वैरियर एल्विन 'फोक साग्स ऑफ छत्तीसगढ' की भूमिका से

☐कुन्ज बिहारी दास

A Folk Song is a spontaneous overflow of lite of the people that live more or less in primittve conditions out side the sphere of Sophisticated Influences—

लोकोक्तियों की सामाजिक भूमिका

चन्द्रपाल सिंह

किसी भी समाज मे कुछ सर्वस्वीकृत मूल्य होते है, एक सी सस्कृति होती है, एक सा जीवन दर्शन होता है, और उस जीवन-दर्शन पर आधारित एक सा या सामान्य आदर्श होता है। समाज के ये मूल्य, संस्कृति और जीवन-दर्शन मिल कर सामाजिकता का निर्माण करते है। अतः सामाजिकता मूल्य सापेक्ष है, मूल्य निरपेक्ष नही। समाज के हर सदस्य को सामाजिकता से ही पथ-प्रदर्शन मिलता है। यह सामाजिकता ही जैविकीय मानव को सामाजिक मानव वनाती है। इसी सामाजिकता में मानव अपना-अपना जीवन जीते हैं। अतएव सामाजिक जीवन से अभिप्राय मानव के उस जीवन से है जिसे वह समाज से प्राप्त करता है और जिसे वह सामाजिक मूल्य, सस्कृति, सामाजिक जीवन दर्शन तथा सामाजिक आदर्श के प्रति सचेष्ट रह कर जीता है। इस सामाजिकता का जो कुछ विरोधी है वह सब असामाजिक है। इसे हम सामाजिकता का ऋणात्मक ध्रुव भी कह सकते है। धनात्मक ध्रुव समाज-सापेक्षता मानी जा सकती है। इन्ही दोनों विरोधी तत्वो के संघर्ष का नाम है— सामाजिक इतिहास।

सामाजिक इतिहास के प्रति लोकोक्तियाँ दुहरी भूमिका निभाती हैं। एक ओर वे इसकी अभिव्यक्ति करती है तो दूसरी ओर वे इसके निर्माण में भी सहायक होती है। अभिव्यक्ति के रूप मे कही वे नीति निर्देश करती है तो कही उपदेश देती दिखायी देती हैं। कहीं सामान्य सत्य की सूचना देती हैं तो कही उपयोगी शिक्षा प्रदान करती हैं। कही प्रचलित रीति वताती है तो कही उद्वोधन करती चलती है। इस प्रकार लोकोक्तियाँ समाजिकता की बहुविधि अभिव्यक्ति करती है। उदाहरण स्वरूप"[1] या तो जी हजूर नही तो दूर-दूर" या "हाक्कम के अगाडी अर् घोडे की पिछाड़ी ना आवै"— लोकोक्तियो मे व्यावहारिक नीति वतायी गयी है। "खाक्के सोजा, मार के भग जा", "एक चुप सौ को हरावै", "खेल मे क्या मियाँ जी", "घड़े का राध्या घेसले से ई लिकडे", "जिसका काम उसी कू छाज्जै, और करै तो डण्डा वाज्जै", आदि अनेक उदाहरण नीति-निर्देश परक लोकोक्तियों के लिये जा सकते है। उपदेशात्मक लोकोक्तियो के उदाहरण दर्शनीय हैं— 'ऐसे चल रे कागा जैसे चले तेरे माई वावा", "दौड़ों भागो थको मत। खाओ पिओ

1. इस लेख मे सभी उदाहरण खड़ी बोली क्षेत्र से लिये गये हैं।

छको मत । बोलो चाल्लो वको मत । देखो भाल्लो तको मत । ", "कान में तिनका नाक मे उंगली, मत कर मत कर मत कर । दांत मे मजन आँख मे अजन, नित कर नित कर नित कर ।"

अनेक लोकोक्तियाँ सामान्य सत्य की सूचना देती हैं। जैसे— "आँत भारी तो माथ भारी", भूक मे गुल्लर पक्वान", जाड्डा म्हा[1] न पोह[2] जाड्डा बाल[3] का हो", बडी खेत्ती बडा खरच, छोट्टी खेत्ती छोट्टा खरच", अधकचरी विद्या दहै, कुंत दहै हथियार । करी हुई नारी दहै, दहै नीच जात का यार ।" आदि ।

यो तो हर प्रकार की अभिव्यक्ति मे कुछ न कुछ सीख रहती ही है, किन्तु लोकोक्तियाँ विशेष रूप से सीख देती दिखायी देती है। सीख का अधिकारी कौन है, इसका स्पष्ट निर्देश है— "सीख वाको दीजिए जाको सीख सुहाय, सीख न दीजे बांदरा घर बइया का जाय् ।" "चा घर ते दे दे पर जमान्ती न बने " मे व्यावहारिक सीख दी गई है। किसी के लेन-देन के बीच में पड़ने से वाद मे दु.ख ही उठाना पड़ता है— ऐसा अनुभव अनेक लोगो ने किया होगा। फिर, चलना तो सडक का चा फेर क्यूं ना हो, बैठना तो भाइयो का चा बैर क्यूं ना हो"— खणा तो गेहूँ का चा ज्हैर क्यूं ना हो, दूध तो भैस का चा थोडा क्यूं ना हो"– कहावत मे कितनी सुदर नीति की अभिव्यक्ति हुई है इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता नही ।

साराश यह है कि समाज जिन मूल्यो पर टिका होता है, उन मूल्यो की जितनी संक्षिप्त और सुंदर अभिव्यक्ति लोकोक्तियो मे हुई है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ ही है। मानव जीवन के अनन्तकालीन विविध अनुभवो का जैसे ये कोश हैं। समाज का सारा इतिहास जैसे इनमे छिपा पड़ा है। इस दृष्टि से लोकोक्तियो के सग्रह को यदि आज का वेद कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। यदि किसी समाज की सस्कृति, सभ्यता आदि का अध्ययन करना हो तो उसकी लोकोक्तियो का अध्ययन कर लेना पर्याप्त होगा।

स्थूल रूप से मानव चेतना दो भिन्न दिशाओ मे बँटी हुई है। एक, वैक्तिक और दूसरी, सामाजिक । प्रथम परिच्छेद मे इन्ही दोनो दिशाओ को ऋण और धन, दो ध्रुव कहा गया है। समस्त मानव व्यवहार इन्ही दोनो तत्त्वो से भावित-प्रभावित रहता है। लोकोक्तियो का सर्वाधिक सामाजिक महत्त्व इस बात में है कि वे इन दोनो ध्रुवों मे सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न करती है। वे व्यक्ति को वैयक्तिकता के सकीर्ण घेरे से निकाल कर सामाजिकता के व्यापक परिवेश में प्रवेश कराती हैं। वे व्यक्ति को "प्रकृति" से "संस्कृति" की ओर ले जाने का भरपूर प्रयास करती है। वे व्यक्ति की निरकुशता पर अकुश लगा कर उसे सामाजिकता के सन्मार्ग पर ला खडा करने की कोशिश करती है।

---

1. माघ माह।
2. पौष माह।
3 हवा।

अनन्त काल के अनुभव के आधार पर लोकमानस व्यक्ति और समाज दोनों की मनोवृत्ति से सम्यक् परिचित होता है। इसी परिचय के कारण वह व्यक्ति की मानोवृत्तिक प्रवृत्तियों पर अकुश लगाने में सक्षम हो पाता है। इस प्रकार लोकोक्तियाँ सामाजिक नियत्रण का सशक्त साधन वनती है।

श्री के० के० कुल्लड़[1]— कुल्लर भी हो सकता है— नामक एक सज्जन लोकोक्तियों के सम्वन्ध में यह शका उठाते हैं कि वे कोई निश्चित मार्ग नही वताती, वल्कि एक ही परिस्थिति मे दो भिन्न प्रकार की लोकोक्तियाँ मिल जाती है। इस शंका से ये महोदय या तो लोकोक्तियों के महत्त्व को स्वीकारना ही नही चाहते या उनके महत्त्व को कम आँकना चाहते हैं। वे कहते है कि एक लोकोक्ति यदि एक तर्क देती है तो दूसरी उसे काट देती है। ऊपरी तौर पर इनका तर्क सही प्रतीत होता है, किन्तु यदि हम सामाजिक प्रक्रिया मे होते रहने वाले निरंतर द्वंद को ध्यान मे रख कर इस वात को देखें तो इस शंका का समाधान हो जाता है। सामाजिक–असामाजिक अथवा व्वैक्तिक–सामाजिक अथवा ऋणात्मक धनात्मक ध्रुवों का समाज मे निरतर सघर्ष होता रहता है। अतः एक लोकोक्ति यदि वैयक्तिकता का तर्क उपस्थित करती है तो दूसरी उसी परिस्थिति में सामाजिकता का पोषण कर देती है। यही कारण है कि दो लोकोक्तियों में विरोध प्रतीत होता है। इसके कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं:—

1–	" खावण पिव्वण में सरम कैसी"।	"मू खावै आँख लजावै।"
2–	"मूछ वाका मरद है पौड[2] वाकी घोडी। '	'कर्‌क[3] वांका मरद है चाल् वाँकी घोडी।
	सींग वाँकी भैंस है नैंन वाँकी गोरी।"	दूध वाँकी भैंस है सील् वाँकी गोरी।"
3–	भादो भला है वरसणा जेठ भली है धूप।	"अति का भला न वरसना अति की भली न धूप।
	वेट्टा भला है वोलना वेट्टी भली है चूप।"	अति का भला न वोलना अति की भली न चूप।"
	जीव्[4] का जित्तै करतव का हारै"	"एक् चूप् सौ कू हरावै।"

इत्यादि। इन उदाहरणों में प्रत्येक लोकोक्ति के आगे उसकी विरोधी लोकोक्ति है। स्पस्ट है कि प्रथम स्तम्भ की लोकोक्तियों में वैयक्तिक या ऋणात्मक तत्त्वों का समावेश है, तो दूसरे स्तम्भ की लोकोक्तियों मे सामाजिक या धनात्मक तत्त्व हैं। अतः समाज के इस द्वंद्वात्मक संघर्ष को लोकोक्तियों के माध्यम से भली-भाँति

1. देखें इडियन ऐक्सप्रेस, दिनांक 23–1–1979, पृ० 61।
2. सुम।
3. वात की धनी।
4. जिह्वा।

समझा जा सकता है।

दिलचस्प बात तो यह है कि कभी–कभी एक ही लोकोक्ति मे समाजिकता के ये दोनो तत्त्व विद्यमान रहते है। ऐसी लोकोक्तियों की एक लम्बी सूची दी जा सकती है जिनके अभिधार्थ मे एक पक्ष है तो व्यग्यार्थ या ध्वन्यार्थ मे दूसरा। इस प्रकार एक ही लोकोक्ति मे यह सामाजिक द्वद्व देखने को मिल जाता है। उदाहरणार्थ— "ज्हां देक्खे तवा परात्, व्हाँ बिताई सारी रात"– लोकोक्ति को ही ले तो इससे अभिधार्थ मे मनुष्य की मनोवृत्ति का यथार्थ है तो ध्वनि से यह लोकोक्ति इस प्रकार की मनोवृत्ति की निन्दा भी करती है । इसी प्रकार "जिसके गलुआ चीकणे उसका मलुआ यार"— में यही दो तत्त्व इसी रूप में देखे जा सकते है। इसके विपरीत, "दुस्मनी अर् रिस्तेदारी बरोबरी की भली लगे"— लोकोक्ति के अभिधार्थ मे शत्रुता और सम्बन्धो मे समान स्तर को आदर्श बताया गया है, किन्तु जो इस आदर्श का पालन नही करता, उस व्यक्ति पर व्यग्य यह भी है। इस प्रकार अपने व्यग्यार्थ मे यह असमानतापरक यथार्थ को भी सँजोये हैं। "नट्नी बाँस चढै तो कुल् की आँख् बचाक्के"— मे अभिधार्थ लोक-लाज पर बल देता है, तो ध्वन्यार्थ व्यक्ति विशेप की लाजहीनता की निन्दा करता है और भी अनेक उदाहरण लोकोक्ति के इस अद्भुत गुण के सम्बन्ध मे दिये जा सकते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि सामाजिकता का एक अग ऋणात्मक या असामाजिक तत्त्व है। इसका एक नाम वैयक्तिकता भी है। जिस प्रकार व्यक्ति समाज का अनिवार्य अग है, उसी प्रकार वैयक्तिकता सामाजिकता का और व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवन का एक अनिवार्य अग है। वैयक्तिकता और सामाजिकता का सम्बध विचित्र है। एक ओर इनमे अगागी सम्बध है, तो दूसरी ओर ये दोनो तत्त्व परस्पर विरोधी हैं। वास्तव मे समाज है ही दो विरोधी तत्त्वो का सगठन इसी से सामाजिक सघर्प होता है। सामाजिक सघर्प स्वय सामाजिक विकास का जन्मदाता है। इसीलिए वैयक्तिकता को सामाजिकता का पूरक भी कह दिया जाता है।

व्यक्ति के पास अपना "व्यक्तिगत" कहने के लिए दो चीजें होती हैं– एक, उसका अपना शरीर और उसकी क्षमता, उसकी भूख-प्यास आदि आवश्यकताएँ, तथा दूसरी उसकी मूल प्रवृत्तियाँ। शेप बातें वह समाज से सीखता है। भूख-प्यास आदि उसकी शारीरिक आवश्यकताएँ, स्वरूपतः उसकी निजी या व्यक्तिगत होती है। किंतु उनकी पूर्ति करने की शैली प्रायः सामाजिक होती है। एक पुरातन भारतीय सस्कृति में पला व्यक्ति यदि भूमि पर आसन मार कर भोजन करता है तो एक अग्रेज को भोजन करने के लिए मेज-कुर्सी, काटे-छुरी आदि की आवश्यकता होगी। अतः शारीरिक आवश्यकताओ पर भी समाज का प्रभाव स्पष्टत. देखा जा सकता है। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडूगल के अनुसार व्यक्ति हास्य, रुदन, युयुत्सा, पलायन, निवृत्ति, भोग आदि 12 मूल प्रवृत्तियो को साथ लेकर जन्म लेता है। इन प्रवृत्तियो के पीछे सवेग या इमोशन्स होते हैं। सुख, दुःख, प्रेम, भय, आदि

सवेग है। जन-जन के ये संवेग ही समाज के मवेग वनते हैं। जन-जन की मूल प्रवृत्तियो का सामूहिक रूप हा सामाजिक प्रवृत्ति होती है। कोई समाज सुखी है या दु खित, भयभीत है या भयमुक्त, इस वात का द्योतक है कि उसके सदस्य–व्यक्ति–मुखी हैं या दु खित, भयभीत हैं या भयमुक्त। इसी प्रकार किसी समाज की प्रवृत्ति युद्धप्रियता की है या शाति की, पलायनवादी है या साहमी– यह सव उसके व्यक्तियो की सामूहिक प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति, उसकी प्रवृत्तियो, सब मिल कर समाज का निर्माण करते हैं। दूसरी ओर, "व्यक्ति" में से "ममाज" को निकाल देने पर उसके पास उसके शरीर और शरीर की क्षमता–आवश्यकताओ के अतिरिक्त और कुछ नही रह जाता। उसकी प्रवृत्तियाँ भी उससे कुछ अशो मे छिन जाती है। यहाँ यह शका होना स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति मे व्यक्ति से व्यक्ति के वीच अन्तर क्या रहा और इस प्रकार मामाजिक संघर्प के लिए अवकाश ही कहाँ है। इसका ममाधान यह है कि व्यक्ति से व्यक्ति के वीच में अतर दो वातो में है:– एक तो उसकी शारीरिक आवश्यकता और शारीरिक क्षमता, जो प्रकृति प्रदत्त है दूसरे उसकी मनोवृत्तियों की तीव्रता मे अतर है। मनोवृत्तियाँ, प्रवृत्तियाँ नाम, स्वरूप और मात्रा मे समान होते हुए भी, उनकी तीव्रता मे अंतर होता है। किसी व्यक्ति की एक प्रवृत्ति मे अधिक तीव्रता है तो कोई दूसरी कम तीव्र है। किसी और व्यक्ति की कोई दूमरी प्रवृत्ति अधिक तीव्र हो सकती है। व्यक्ति से व्यक्ति के वीच का यह अतर ही टकराव की स्थिति पैदा करता है और यही टकराव सामाजिक संघर्प का क्षेत्र है।

मूल प्रवृत्ति और परिवेश के महयोग से व्यक्ति मे अनेक भावनाओ का विकास होता है। इनमे से एक भावना "स्व-पर" की भावना है। यही "स्व–पर" की भावना व्यक्तिगत अतर रूपी खेत मे वीज का काम करती है। परिणाम संघर्ष के रूप मे सब के सामने आता है। दूसरी ओर प्रेम, सहानुभूति, सहयोग, सामूहिकता की भावनाएँ आदि समन्वय का कार्य करती हैं। तव यह संघर्प विकास के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार वैयक्तिकता सामाजिकता के विकास मे महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। लोकोक्तियाँ इस सामाजिक संघर्प को वाछित दिशा देने की कोशिश करती हैं। "अपना रख पराया चख" लोकोक्ति व्यग्य से स्वार्थी व्यक्ति की स्वार्थ भावना पर चोट करती है और उसे परार्थ भावना की ओर इंगित करती है। "राम नाम जपना, पराया माल अपना", माल पराया है तो पेट तो पराया नही" "चखोरिया गादला ई पिव्वै", "डूंडा वैल खावै न खावण दे", "और का हगे, अपना छीछो करै", "घर की खांड किरकिरी लागै वाहर का गुड मिट्ठा", "नकटे की नाक कटी, सवा हाथ और वढी", "नेक रे नेक तू आप्पा तो देख", "खांय निवोली, वतायें टपका," "ओच्छी लडै उधारा मागै, मुक्का वेचे जोरू, अघाया कहै उधारी दे," आदि लोकोक्तियों मे क्रमशः व्यक्ति की पाखंड-प्रियता, लोभी वृत्ति, लालची

वृत्ति, दुष्टता, पक्षपात की भावना, परस्त्री-गमन की प्रवृत्ति, निरलज्जता, पर-दोप-दर्शन, झूठें प्रदर्शन की भावना, अनुदारता, क्रूरता अथवा निदयता आदि पर गहरी चोट की गयी है। साथ ही, इन अवगुणो के परित्याग करने की ध्वनि भी इनमें निहित है। अत: सामाजिकता का पोपण भी साथ-साथ होता है। किन्तु व्यक्ति की ऐसी प्रवृत्ति की निन्दा या भर्तसना लोकोक्तियो मे नही पायी जाती जो समाज के लिए हितकर न हो तो अहितकर भी न हो। व्यक्ति को जिस सीमा तक छूट मिलनी चाहिए वह लोकोक्तियो मे दी गयी है। स्वतन्त्रता और स्वावलम्वन की भावना ऐसी ही छूट हैं। "अपना घर, हग भर, "पराया घर, थूक का भी डर," "अपना हुक्का अपनी मरोड, जिव जी मे आवे तवी दे फोड," जैसी लोकोक्तियो मे ऐसी ही वैयक्तिक स्वतन्त्रता और स्वावलम्वन-प्रियता का समर्थन किया गया है। किन्तु जहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य समाज हितसे टकराया है, वहां व्यक्ति की अच्छी खबर ली गयी है। भला यह कैसे हो सकता है कि "रस्ता मे हगँ अर् आँख नटेरे।" इस प्रकार सभी व्यग्यात्मक लोकोक्तियाँ दुधारी तलवारे है जो दोनो ओर काम करती है।

लोकोक्तियो मे सामाजिक नियत्रण का दूसरा रूप है— व्यक्ति को उचित मार्ग दिखाना। नीति, उपदेश, सीख आदि से सम्बन्धित लोकोक्तियाँ ये काम करती हैं। "वधी वुहारी वधी ई हो" कहकर लोक मानस व्यक्ति को समाज से सम्पृक्त रहने को प्रेरित करता है तो, 'अती अताई तें डरो अती अन्य हो जाय्। अति का फूला स्हैजणा[1] जरा मूल तें जाय्।" कह कर उसे अति सर्वत्र वर्जयेत् की नीति सिखाता है। "भाल्ला उसके मारिए जिसके भाल समाय्, काहर[2] के मत मारिए जो लगते ई मर जाय्" मे नैतिकता मूलक उपदेश है तो "हाथ को हाथ धोवैं" मे परस्पर सहयोग पर वल दिया गया है। कमीण यार, टुट्टा हथ्यार,[3] कदी वख्त पै काम नी आत्तें" मे सत्सगति, "खेत खाया गधे ने, छित्या जुलाहा" मे न्याय, 'गू खाए के पेट भरे, नाज खाए भरें" मे सत्य, "चोर की मा घर मे मू देक्के रोवै "मे अचौर्य आदि व्यग्य के रूप मे व्यक्ति को जो घुट्टी पिलायी जाती है वह सामाजिक स्वास्थ्य के लिए परम लाभदायक है।

लोक मे प्रचलित लोकोक्तियो की एक विशेपता का उल्लेख न किया जाय तो उनका महत्त्व स्यात् अधूरा ही रह जायेगा। लोक मे शिष्ट साहित्य की तथाकथित 'श्लीलता' या शिष्टता के लिए कोई विशेप महत्त्व नही होता। यहाँ व्रीडा व्यजक याजुगुप्सा व्यजक शब्दो का प्रयोग खुले और अकुँठित रूप मे होता है। ध्यान देने की वात यह है कि इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग लोकोक्तियो मे मात्र व्यग्य लाने के लिए ही होता है। इनमे "अश्लीलता" का जितना घोर रूप होगा, लोकोक्ति की

1. सहजन— वृक्ष विशेष।
2. कायर।
3. हथियार।

मारक शक्ति उतनी ही अधिक होगी, उनका अंकुश उतना ही अधिक पैनी और तीखी धार वाला होगा। "अश्लील" शब्दों की मार से व्यक्ति एकदम तिलमिला उठता है। लोक के पास सामाजिक नियंत्रण का यह एक राम बाण है।

सारांश यह है कि सामाजिक विकास के अन्य उपकरणों के साथ लोकोक्तियाँ भी अपना पूर्ण सहयोग करती हैं। इनका केवल साहित्यिक, अभिव्यक्तिगत, ही महत्त्व नहीं है, अपितु सामाजिक दृष्टिकोण से भी ये अत्यंत महत्त्व की हैं। लोकोक्तियों के माध्यम से क्षेत्र विशेष के समाज की सामाजिक सांस्कृतिक समस्याओं का अध्ययन कर उनके समाधान का मार्ग ढूंढा जा सकता है। अतः समाज के विभिन्न पहलुओं को लेकर लोकोक्तियों के व्यापक एवं विस्तृत अध्ययन की बहुत सम्भावनाएँ हैं।

—हिन्दी-विभाग
कृषक डिग्री कालेज
मवाना (मेरठ)



एक पंजाबी लोकगीत का आशय —

हे कागा ! उड़ते जाना, बैठते जाना और उड़ते उड़ते मेरे
मायके जाना। पर एक तो मेरी माँ रानी को मेरा हाल
न कहना। बेचारी माँ मेरी गुड़िया निकाल कर रोती
फिरेगी। एक मेरे बाप राजा को न बताना,
बेचारा भरी कचहरी छोड़कर रोने लगेगा।
एक मेरी मीठी बहिन को न बताना।
हे कागा ! वह सखी समाज को छोड़कर
रोने लगेगी। हे कागा ! तुम मेरे
वीर भाई को ही कहना, वह
नीला घोड़ा तैयार करके
मुझे लेने आएगा।

संकलन कर्त्ता— डॉ० हरदेव बाहरी
जनपद 'नवम्बर, 53,' पृष्ठ 74 से

नौटंकी : इतिहास और वर्तमान स्थिति

रामनारायण अग्रवाल

उत्तर-भारत के लोक-रगमचो मे सर्वसाधारण को सर्वाधिक आकर्षित करने वाली नाट्य-विधा नौटंकी ही है, जो उत्तर भारत मे अनेक रूपो में विद्यमान है। उत्तर प्रदेश, हरियाणा और कुरु जनपद मे आज भी यह मच जीवित है। नौटकी ने देश मे ही नहीं, मध्य पूर्व एशिया तक अपना नक्कारा धूम से बजाया है। हाथरस के स्वर्गीय नथाराम गौड़ ने अपने गुरु चिरजी लाल के सहयोग से इस अव्यावसायिक नाट्य रूप को (जो पहले 'भगत' कहा जाता था) सबसे पहले व्यावसायिक आधार पर गठित किया था। इसीलिए उन्हे आज तक 'सागीत शिरोमणि' के नाम से स्मरण किया जाता है। नथाराम के बाद हाथरस के मुरलीधर जी ने भी व्यावसायिक मडली बनाई थी, और तभी से लगातार व्यावसायिक मडली गठित होती रही है। नथाराम के ही युग मे उनके प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरी मडली के सचालक थे गोवर्धन निवासी श्री दीपचन्द 'दीपा'। दीपा जी अपनी मडली में एक अग्रेज मैनेजर रखते थे और सर्व–श्रेष्ठ गायको को मुँहमाँगा वेतन देकर अपने यहाँ रखने का उन्हे चाव था। एक बार की बात है कि दीपा जी अपने युग के एक प्रसिद्ध कलाकार साँवलिया को अपनी मडली मे सम्मिलित करने के लिए उसके घर गए परन्तु वहाँ उस कलाकार को लेने के लिए पहले से ही दूसरी मडली वाले मौजूद थे। उस युग मे अच्छे कलाकार का वेतन पन्द्रह या बीस रु० मासिक से अधिक नही होता था परन्तु उस दिन दोनो मडली सचालको की वहसावहसी मे साँवलिया जी का वेतन दो सौ रु० मासिक तक पहुँच गया। फिर भी बात नहीं बनी तो तत्काल दीपा जी ने रोली व नारियल लाकर कलाकार का तिलक करके उसे अपना दामाद बनाने की घोषणा कर दी और मडली मे साथ ले आये। यही दीपा जी अपनी मडली को रगून तक ले गए थे और वहाँ पहले ही दिन उसके प्रदर्शन की ऐसी धूम मची कि रगून की जनता इस लोक-नाटक पर दीवानी हो गई। बर्मा की पुलिस के लिए व्यवस्था बनाये रखना कठिन हो गया और रगून के जिलाधीश ने सरकार को सूचना दी कि यदि यह मंडली थोडे दिन भी बर्मा मे रह गई तो इस देश की बहुत बड़ी धनराशि भारत चली जायेगी। फल यह हुआ कि दीपा जी को मंडली पर बर्मा मे प्रदर्शन करने के लिए पाबन्दी लगा दी गई और उन्हें वापस भारत लौट आना पड़ा। नौटकी के प्रदर्शनो मे दस–बारह हजार की भीड़ हो जाना तो एक साधारण बात रही है। नथारम जी या

दीपा जी के प्रदर्शनों में इतनी भीड़ तो साधारण रूप से हुआ ही करती थी। आज भी मथुरा, आगरा आदि में जब 'भगत' के विशेष आयोजन होते हैं तब दस-बारह हजार का जन-समुदाय जुड़ जाता है। इसलिए हम इस विधा को भारत की सर्वाधिक लोक-प्रिय नाट्य-विधा मानते है।

इस नाट्य-मच का नाम नौटकी क्यो पड़ा, इस सम्बन्ध मे विद्वानो ने बड़े-बड़े अनुमान लगाए हैं। स्वर्गीय जयशकर प्रसाद का मत है "नौटंकी शब्द नाटकी का अपभ्रंश है।" परन्तु इस मत के मानने में कठिनाई यह है कि किसी भी नाट्य-शास्त्र में नाटक के किसी भी रूप के लिए 'नाटकी' शब्द का प्रयोग कही देखने मे नही आता। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि संस्कृत की भांड या सट्टक परम्परा से नौटंकी का उदय हुआ, परन्तु इस विधा को भांड या सट्टक मे उत्पन्न होने पर भी नौटकी क्यों कहा गया ? इसका कोई स्पष्ट कारण आचार्य जी नही दे पाये हैं। लखनऊ के शाही और आवामी मंच पर शोध-कार्य करने वाले डॉ० रिजवी का कहना है कि नौटंकी की लोक-कथा इस मच पर सबसे पहले खेली गई जो बहुत लोक-प्रिय थी इस कारण इसका नाम नौटकी पड़ा। परन्तु शोध करने पर हमे ज्ञात होता है कि नौटंकी की कथा इस मच पर बाद में आई थी। प्रसिद्ध अग्रेज शोध-कर्त्ता श्री आर० सी० टैम्पिल ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ दि लीजैंड्स आफ दि पजाब मे बशीलाल स्वाँगिया से सुनकर जो स्वांग लिखे थे उनमे नौटकी की कथा नहीं है। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे लिखे गये कई पुराने स्वाग यत्र तत्र उपलब्ध है परन्तु उनमें 'नौटंकी' स्वाँग कहीं भी नहीं मिला। ऐसी दशा मे यह मत भी भ्रामक है। एक चौथा मत श्री अमृत लाल जी नागर का है। श्रीनागर जी का कहना है कि पुराने समय मे 'नौटंकी' का प्रदर्शन नौटक मे अर्थात् 18 पैसो मे होता होगा इसलिए इस विधा को नौटकी कहा जाता होगा। परन्तु नौटकी के प्रदर्शन इतने सस्ते कभी भी नही रहे। इन्दर सभा जैसे लोक नाट्य डॉ० रिजवी के अनुसार सन् १८८० ई० के आस पास पन्द्रह रु० मे होते थे। ऐसी दशा मे नौटकी नौटका या १८ पैसे मे हो सके, यह सभव नहीं लगता। फिर नौटकी कोई पुराना नाम भी नही है। न तो हिन्दी के किसी प्राचीन कवि ने लोक नाट्य के अर्थ मे नौटंकी शब्द का प्रयोग किया है और न यह शब्द हिन्दी शब्द सागर तथा हिन्दी विश्व कोश जैसे प्रामाणिक मे ही उपलब्ध है।

नौटकी जैसे लोकनाटक को कबीर और जायसी युग मे 'ख्याल' या खेल कहा जाता था और यह शब्द इसी अर्थ मे उनके साहित्य मे प्रयुक्त भी हुआ है। ख्याल, तमाशा और स्वाग नौटकी के पुराने नाम है। आगरा के आस पास इस विधा को 'भगत' और 'रहस' भी कहा जाता था किन्तु भगत या रहस का मंच पहले अव्यावसायिक था। लखनऊ में वाजिदअली शाह ने अपने गद्दी पर बैठने से पहले 'राधा कन्हैया का किस्सा' 'रहस' के नाम से ही खेला था जो ब्रज के रास तथा नौटंकी जैसी शैली का एक मिला-जुला रूप था। इसके बाद अपने नौ वर्ष के शासन काल मे भी वाजिदअली शाह ने जो तीन 'रहस' अपने कैसरबाग मे किए ; वे भी नौटकी के

ही ढंग के किस्से थे। वादशाह ने उन्हे रहस ही नाम दिया था और उसी के अनुकरण पर अमानत ने भी अपने लोक-नाटक इन्दर सभा को 'रहस' ही कहा। किन्तु धीरे-धीरे यह 'रहस' शब्द लुप्त हो गया और यह लोक-नाटक बाद में सभा ही कहे जाने लगे। ऐसी पचीसो सभाएँ उस समय लिखी गई और खेली गई। लाला सालिगराम की इन्दरसभा की तो अमानत की इन्दरसभा से भारी प्रतिद्वन्द्वता भी रही। इन सभाओं की अतिशय शृंगारप्रियता से ऊबकर इसका उपहास करने की भावना से बाद में भारतेन्दु जी ने 'बन्दर सभा' की भी रचना की थी।

सभा-परपरा के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद उसी की मिट्टी से वर्तमान नौटंकी का विकास हुआ; यह तथ्य हम अपने ग्रंथ 'सागीत: एक लोकनाट्य परंपरा' मे विस्तार से विवेचित कर चुके हैं। यहाँ इन सब तथ्यों को दुहराना सभव नहीं है। यहाँ तो केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि नौटकी नामकरण से पहले इस लोकनाट्य विधा का सर्वाधिक प्रचलित नाम सागीत, गीत या स्वाँग ही था। आज भी हाथरस वाले नौटकी शब्द को अपने स्वाँगो के लिए प्रयुक्त किया जाना उचित नही समझते। वे अपने खेलो को 'सागीत' या 'स्वाँग' ही कहते है। सागीत शब्द भी स्वाँग+गीत के सयोग से सधि होकर बना है। साँगीत शब्द ही वास्तव मे नौटकी का असली नाम है जिसका अर्थ इस लोकनाट्य विधा की सगीतात्मकता का प्रमाण है।

वास्तविकता तो यह है कि इस लोकनाटक को नौटकी नाम कानपुर मे दिया गया। स्वर्गीय श्री कृष्ण पहलवान ने हमारे साथ हुई अपनी भेट वार्ता मे यह रहस्य हमें वतलाया था। पहलवान का कहना था कि स्वर्गीय. नथाराम गौड़ हर वर्ष एक नया स्वाँग तैयार करके उसे श्रावण मास मे कानपुर आकर जगह-जगह खेलते थे और स्वाँग के अन्त मे फटकेबाजी करते थे। 'फटकेवाजी' भी लोकसाहित्य का विशेष शब्द है जिसका अर्थ है अपने प्रतिद्वन्द्वी को कविता के द्वारा ही फटकारना या उसकी मजाक उडाना। प० नथारामजी ने फटकेवाजी मे एक वार कानपुर वालो को चुनौती दी कि अगर कानपुर नगर के कवियो मे दम है तो वह भी उन जैसा स्वाँग करके जनता को दिखलाएं। यह बात कानपुरवालो को लग गई।

वदी खलीफा, मुल्लाराय और मेकु प्रसाद ने मिलकर कानपुर मे एक स्वाँग तैयार किया और वड़ी धूमधाम से खेला। इस स्वाँग की विशेषता यह थी कि इसमे एक-एक नक्कारे के साथ वारह झीलें एक साथ रखी गई। स्वाँग मे कुशल नक्कारा वादक वारह झीलो पर टकार देकर अन्त मे नक्कारे पर सम देता था। इन टकारो से खेल मे एक नया समाँ वँध गया। इस नवीन टकार के प्रदर्शन को कानपुर वालो ने नौटकी (नव-टकी) कहा और यही से स्वाँग के लिए नौटकी शब्द का प्रयोग सर्वत्र होने लगा। इस प्रकार स्वाँग या साँगीत के लिए नौटकी नाम मिले केवल साठ या सत्तर वर्ष का समय ही वीता है।

वर्तमान मे नौटंकी का जो व्यावसायिक मच आज जीवित है वह मूल रूप

से व्रज की भगत परम्परा की देन है। यह भगत का मंच मध्यकालीन है जो व्रज क्षेत्र में आज भी यथावत जीवित है। मोटे रूप से हम भगत को वर्तमान नौटकी का अव्यावसायिक पूर्वरूप कह सकते है।

भगत का सबसे प्राचीन उल्लेख 'आइनेअकवरी' मे मिलता है। यदुनाथ सरकार के अग्रेजी अनुवाद के अनुसार यह विवरण इस प्रकार है—

"भगतिया लोग भी ऊपर वर्णित कीर्तनियों जैसे ही गीत गाते है परन्तु वे वहुरूपिये ढग के वस्त्र पहनते हैं और असाधारण मसखरेपन (Mimicry) का प्रदर्शन करते है।

कीर्तनियाँ लोग ब्राह्मण हैं जिनके वस्त्र प्राचीनयुगीन जैसे है। वे चिकनी सूरत वाले बालको को ही स्त्रियाँ वनाकर कृष्ण की प्रशंसा और उसके कार्यो का गायन करते हैं।" (वाल्यूम 3, पृष्ठ 272)

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि अबुल फजल के युग मे भगत का यह मच धार्मिक था और उसके गीत कीर्तन जैसे ही थे। यहाँ यह ध्यान देने की वात है कि इसी कीर्तन परम्परा के आगे दो रूप हो गये। एक परम्परा ने व्रज के रास का रूप ग्रहण किया, परन्तु दूसरी परम्परा का लोकमच भक्ति से कटकर अपना रूप वदलता रहा। औरगजेव के शासन काल में गतीमत ने एक भगत के प्रदर्शन को स्वयं देखा था। उसने अपने ग्रथ 'नौरगे इश्क' मे उसका विस्तार से वर्णन किया है। इसका हिन्दी रूपान्तर सक्षेप मे यह है—

"आज शहर मे अजब किस्म के लोग आये हैं जो एक विशेप ढंग के साथ नक्लें करते हैं और सगीत के साथ आश्चर्यजनक खेल दिखलाते है। नाज और नकल के ये उस्ताद है, इनकी आवाज भी मीठी है। हमारी भापा मे उन्हे भगतवाज कहते हैं। वे कभी मर्द कभी औरत और कभी वच्चे की नकल करते हैं, कभी परेशान हाल सन्यासी वन जाते हैं कभी मुसलमान, कभी कश्मीरी वेष बना लेते है और कभी फिरगी (अग्रेज) वन जाते है। कभी दाढ़ी मुड़ाकर विप्र की सूरत मे नजर आते हैं, कभी मुगलो की शक्ल वना लेते है। कभी गुलाम वन जाते है, कभी जच्चा बन जाते हैं जिसका वच्चा दादा की गोद मे रोता होता है। कभी देव वन जाते है कभी परी। गरज हर कौम का जलवा दिखलाते है और हर तरह के रश्वा जमनि से काम लेते हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस युग मे भगत मसखरी व नक्लों का मच था, परन्तु धीरे-धीरे यह कथात्मकता से जुड गया। लोकनाट्य के कुछ विद्वानों का मत है कि भगत मे नाटकीयता का यह प्रभाव पजाव की देन है जहाँ कथा गायन की परम्परा लगभग ग्याहरवी शताब्दी से प्रचलित थी। इस संवंध में एक जनश्रुति यहाँ उद्धृत की जाती है—

कहा जाता है कि ११वीं शताब्दी में पजाव में मल्ल नामक एक जाट, रावत राजपूत और रगा नामक एक जुलाहे ने मिलकर कथागायन का कार्य प्रारम्भ किया।

ये लोग ढोलक पर झूम-झूम कर कुछ गाथाएँ गाते थे जो बहुत लोकप्रिय हुईं और धीरे-धीरे उन्होने लोकनाटक का रूप ले लिया। कुछ विद्वानो का मत है कि इन कथागीतों मे हीर-राँझा की कथा सर्वाधिक लोकप्रिय थी। यह कथा टैम्पिल के सग्रह मे भी उपलब्ध है। ध्रुव की कथा तथा गोपीचंद की कथा भी टैम्पिल को इन स्वाँगों मे मिली थी। यह सब कथानक उसने रोमन लिपि में अपने ग्रंथ में सगृहीत किये है। हमारा मत है कि कथा-गायन की यह परम्परा जब भगतबाजों के हाथ लगी तब उन्होने उसे अपनाकर भगत को नवीन रूप दिया। जैसाकि अबुल फजल ने लिखा है भगत मूलतः व्रजक्षेत्र, मथुरा, वृन्दावन और आगरा क्षेत्र मे जन्मी थी और बाद मे यह गाथागायन की परम्परा से जो पंजाब में स्वाँग के नाम से पनपी थी जुड गई। ये दोनो परम्पराएँ १९वी शताब्दी मे एक-दूसरे से जुड गईं थीं और वही से इस मच ने वर्तमान रूप ग्रहण किया जिसे हम आज स्वाँग और नौटंकी के नाम से जानते हैं।

पंजाब से यह परम्परा सबसे पहले उत्तर प्रदेश मे आई। इसे यहाँ लाने वाले भगतबाज ही थे। अमरोहा इस कथामच का एक मुख्य गढ था, जहाँ से यह परम्परा पूरे प्रदेश मे पहुँची। अमरोहा के स्वाँगो मे 'स्वाँग सपेडा' बहुत प्रसिद्ध था जिसका कथानक व गायकी का रूप अमरोहा में ही विकसित हुआ और वहाँ से यह पूरे उत्तर प्रदेश मे पहुँचा। लखनऊ, कानपुर, शाहजहाँपुर मे यह सपेडे बडे रस से खेले जाते थे। इस स्वाँग सपेड़े का नायक नागर नामक एक जादूगर है जो बगाले की एक जादूगरनी मोती पर आसक्त होकर उसे प्राप्त करने के लिए वहाँ जाता है, परन्तु मोती से जादू मे परास्त होकर मारा जाता है। बाद में नागर की पत्नी सुन्दर अपने पति की खोज मे निकलती है और मोती को जादू के युद्ध मे परास्त करके मार डालती है तथा अपने पति को जीवित कर लेती है। परन्तु नागर बिना मोती के घर लौटने को तैयार नही होता तब अपने पति के अनुरोध पर सुन्दर मोती को भी जीवित कर लेती है। नागर अपनी दोनो पत्नियों के साथ सानंद घर लौटता है। यह सपेड़े की कथा उस युग में इतनी लोकप्रिय हुई कि जगह-जगह यह कथानक विभिन्न व्यक्तियो ने अपने ढग से लिखा और खेला। स्वाँग सपेड़ा का यह कथानक बाद मे, जब लखनऊ में सभा परम्परा का जोर बढ़ा तो, 'नागरसभा' के नाम से भी विख्यात हो गया था। उस्ताद जाहरमल के भगत के अखाड़े में, वृन्दावन में भी इस कथानक पर एक भगत लिखकर खेली गई थी। यहाँ लखनऊ के गुरु गोविन्द सिह के सपेड़े की कुछ पक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं, जिससे उसकी भाषा तथा स्वरूप का थोड़ा परिचय पाठको को होगा। सुन्दर अपने पति को मोती के चक्कर में न पड़ने के लिए समझाती है—

कहती हूँ समझाय के कहना मेरा मान।
दाना है तू बावरे, क्यों बनता नादान॥
क्यो बनता नादान, मान ले इतनी बात हमारी।
हाथ नही मोती आयेगी, जाये जान तुम्हारी॥

२. कानपुरी नौटकी मे मंच पर पात्रों को एकत्र करके पहले कोरस गवाना भी उन्ही ने प्रारम्भ किया। वाद मे हाथरस वालो ने भी उनकी देखा देखी अपने स्वॉग के आरभ मे नक्कारे पर ध्रुपद गाना प्रारम्भ कर दिया।

३ पारसी रंगमच का पहलवान पर विशेप प्रभाव पड़ा। उन्होने अपने आलेखो पर भी पारसी रग चढाया और नौटंकी की मूल कथा के साथ कुछ स्वॉगो मे एक दूसरी हास्य कथा भी जोडी। इस हास्य कथा–नायक एक पिस्सू नाम का पात्र है जो श्रीकृष्ण के कई स्वाँगो में उपलब्ध हो जाता है।

४. मच पर नौटंकी के प्रदर्शन का रूप भी पहलवान ने वदला। हाथरसी स्वॉग सीधे सीधे खुले मच पर वीच चौराहों पर तख्त विछाकर होता था, परन्तु पहलवान ने उसे पारसी ढंग के पर्दों में वन्द कर दिया। रंगों का महत्त्व भी इन्होने कम कर दिया क्योकि दृश्य विधान की पर्दों द्वारा व्यवस्था करने के कारण उन्हे उसकी अधिक आवश्यकता नही रही।

५. मेले ठेलो मे टिकिट लगाकर नौटकी करने की प्रथा भी श्रीकृष्ण पहलवान ने ही डाली। एक वार तो वह न्यू एल्फ्रेड कम्पनी का भी मुकाबला करके उनके दाँत खट्टे कर आये थे।

इन परिवर्तनो के कारण हाथरस और कानपुर के दो नौटकी स्कूल अस्तित्व मे आए। यद्यपि मूल रूप से दोनो एक ही है। कानपुर के प्रभाव से पूर्वी उत्तर प्रदेश मे नौटंकी का व्यापक प्रचार हुआ। मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, कन्नौज आदि मे इस शैली के प्रमुख केन्द्र वन गये, परन्तु लखनऊ मे जो नौटकी की मंडली वनी, उन पर ब्रज का ही प्रभाव रहा। लखनऊ के रामनाथ ने जो नौटंकी वनाई, उसमे वरसाने गाव के गोकुल जी साझीदार थे जो जनता द्वारा ब्रज की उपाधि से विभूपित किए गये थे। उन जैसा सुरीला, मचीय गायक ब्रजक्षेत्र में दूसरा नही हुआ। रात्रि को तीन चार मील तक से उनकी सुरीली आवाज को सुनकर लोग विस्तर छोडकर उनके स्वॉग मे खिचे चले आते थे। एक–एक स्वर पर चार–पॉच मिनट तक जमे रह कर दमदारी से जनता को विस्मित करने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। लखनऊ मे दूसरे पुराने प्रसिद्ध कलाकार कक्कू जी गोस्वामी भी अपनी मडली मे ब्रज के कलाकारो को ही रखते थे। आज पिचासी वर्प की आयु में भी वह इस लोक-मंच के प्रति अटूट निप्ठा से समर्पित हैं और इस काम मे अभी तक रुचि लेते है। वे स्वयं कलाकार और लेखक है। अपने शिष्य आशिक हुसेन को मडली का कार्य सौंपकर वह वीच में निश्चिन्त हो गए थे परन्तु अनायास आशिक हुसेन जी का स्वर्गवास हो जाने के कारण कक्कू जी को वुढापे मे फिर से सक्रिय होना पडा है। आशिक हुसेन लखनऊ क्षेत्र के वहुत ही कुशल कलाकार थे। उनकी वाणी कोलम्विया कम्पनी के कुछ रेकार्डों मे सुरक्षित है, यह सन्तोप की वात है।

श्रीकृष्ण-पहलवान के वाद कानपुरी नौटंकी के वाद दूसरा सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम कन्नौज के त्रिमोहनलाल का है। त्रिमोहनलाल यद्यपि हाथरसी अखाड़े के

उस्ताद इन्दरमन के शिष्य थे, परन्तु उनका कार्यक्षेत्र कानपुरी नौटंकी मे ही रहा। यह श्रीकृष्ण पहलवान से भी अधिक पारसी रगमच के भक्त थे। उन्होने अपने स्वाँगों में पारसी ढग का दृश्य विधान भी किया है तथा नारी-पात्रो को नौटकी मच पर भी सर्वप्रथम यही लाये। नौटकी क्षेत्र की प्रसिद्ध कलाकार गुलावजान और कृष्णावाई सवमे पहले आपने ही मच पर उतारी थी, जिससे कानपुरी नौटकी मे नृत्यगायन व रसिकता की मात्रा इतनी वढी कि वह मर्यादा की भी सीमा का अतिक्रमण करने लगी है और उसी के कारण आज कानपुर के पूरे नौटकी क्षेत्र पर अश्लीलता और गायिकाओ का ही एकछत्र राज्य है, जिससे डर कर अन्त मे श्री कृष्ण पहलवान भी मडली चलाना भूल गये और पुस्तको का व्यवसाय करने लगे थे। नौटकियों मे नर्तकियो का यह प्रवेश हाथरसी स्वाँग को भी प्रभावित किये विना नही रहा। श्यामावाई, अन्नोवाई जैसी महिलाओ को स्वर्गीय नथाराम गौड ने भी जीवन के उत्तरार्द्ध मे अपनी मडली मे स्वीकार कर लिया था और यह परम्परा वहाँ भी इस मच के स्तर को गिराने का कारण वनी है। धीरे-धीरे सिनेमा के गीत और भौडे नृत्य नौटकी के समस्त कथात्मक आकर्षण को समाप्त करते जा रहे हैं। यह कानपुरी नौटकी के साथ हाथरसी स्वाँग को भी जर्जर कर चुके है। नौटंकी-दर्शक की इस वदलती मनोवृत्ति मे आगे यह विधा कैसे जीवित रहेगी, यह समस्या आज रंगकर्मियो के समक्ष एक प्रश्नचिह्न है।

नौटकी का मच एकमात्र ऐसा हिन्दी का गायन-प्रधान लोक रंगमंच है जिसका नाट्य रूप ऐसी अनेक विशेषताओ से युक्त है, जो अन्य मचो मे नही पायी जाती। जनता की बात जनता की भाषा में विना किसी आडम्वर के सीधे-सादे खुले मच पर जितने प्रभावशाली ढंग से कहने की सामर्थ्य इस मच मे है, उतनी हिन्दी क्षेत्र के किसी दूसरे मंच में नही है।

यह मच देशकाल और स्थल के वन्धन से सर्वथा मुक्त है। इसमें रंगा नाम का पात्र इतना सशक्त है जो घटना के सूत्रों को जोड़ने, अनावश्यक कथा प्रसंगो को छोडने किसी भी दृश्य की वर्णना करने तथा किसी भी स्थिति या जटिलता को स्पष्ट करने में कभी कोई कठिनाई उत्पन्न नही होने देता और कथा के कलात्मक सौन्दर्य को निरन्तर वनाए रखता है।

नौटकी एक संवाद प्रधान मंच है। इसकी विशेपता यह है कि यहाँ सवादो का चुटीलापन ही कथानक मे मार्मिकता की वृद्धि करता है और नाटक को चरम सीमा तक ले जाता है। जिस तुकान्त में पहला पात्र अपनी वात कहे उसी तुकान्त में उत्तर देने से सवादो की प्रभावशीलता वहुत वढ़ जाती है। एक उदाहरण देखे। "लैला मजनू" स्वॉग मे खुशवक्त से निकाह हो जाने पर भी जव लैला उसे अस्वीकार कर देती है तो वह कहता है—

ताज्जुव है मुझे लैला कहती है क्या
सोचती दिल मे जेरों जवर ही नही।

और के कहने पर भूले ही, मति तेरी बौरानी।
गुरु गोविन्द से मान, सपेरा कहता है नादानी ॥

सवाल नागर का –

क्यों भुलाती तू, मुझे बातो में हर बार।
जाने तू देती नही, करती है तकरार ॥
करती है तकरार, न मानूँ कहना तेरा।
मोती को देखूँगा जाकर, चाहता है जी मेरा ॥
देश बंगाले से मोती को अब ही लाऊँ।
गुरु गोविन्द को फेर न अपना मुंह तुझको दिखलाऊँ ॥

काव्य की दृष्टि से यह रचना साधारण है और छंद की दृष्टि से भी इसमे मात्राओ की एकरूपता नही है ? परन्तु अमरोहा की गायकी मे यह छद पूर्णतः लय-बद्ध होकर प्रभावशाली हो जाते है। सपेडे की इस रचना मे चौबोले का पूर्वरूप विशेप रूप से दर्शनीय है।

स्वाँग गायकी की यह परम्परा, जो अव नौटंकी के नाम से प्रसिद्ध है यद्यपि पजाबी क्षेत्र मे गाथागायन से अवश्य प्रारम्भ हुई किंतु इसका नाटकीय व कलात्मक विकास व्रजक्षेत्र मे ही हुआ जहाँ यह परम्परा 'भगत' के प्राचीन नाम पर फूली-फली। व्रज मे मथुरा, वृन्दावन मे स्वाँग की यह परम्परा सीधी पजाब से तथा आगरा मे अमरोहा से पहुँची जिसके कारण उसकी गायन शैली तथा छद विधान मे भी अन्तर आ गया क्योंकि अमरोहा की परम्परा पर वाजिदअली शाह के रहसखाने तथा सभा परम्परा का सीधा प्रभाव पड़ा था, जिससे उसके रूप मे कुछ भिन्नता आ गयी जो अभी तक यथावत् बनी हुई है।

इसी भिन्नता के आधार पर व्रज मे भगत के दो अव्यावसायिक स्कूलों का उदय हुआ जो आगरा स्कूल व मथुरा स्कूल कहे जा सकते हैं। आज भी यह दोनो अव्यावसायिक शौकिया स्कूल ख्याल गायकी के विभिन्न अखाडों के संरक्षण मे पूरे आगरा और मथुरा जिले मे विद्यमान हैं, जो लोक रुचि को आकर्पित करने की पूरी क्षमता रखते है। जिस मच को आज नौटकी कहा जाता है उसका उदय इसी मथुरा वृन्दावन वाले भगत मच से हुआ है और व्रज का हाथरस नगर जो वास्तव में स्वाँग परम्परा का जनक है उसे नौटंकी का पितामह कहा जा सकता है।

हाथरस मे स्वाँग की यह परम्परा वृन्दावन की भगत से पहुँची। वृन्दावन में सन् १८६६ ई० मे जाहरमल के तुर्रा अखाड़े द्वारा गोपीचंद का स्वाँग वड़ी भव्यता से खेला गया था जिसे देखने दूर-दूर की जनता आई थी। उसी भगत को देखकर हाथरस वाले इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने वृन्दावन से लौटकर हाथरस मे वासम जी के तुर्रा अखाड़े में उनका लिखा स्वाँग 'स्याहपोश' वड़ी धूम से खेला। परन्तु हाथरस वालो ने इस प्रदर्शन को 'भगत' नाम न देकर 'स्वाँग' कहा। कारण स्पष्ट है कि हाथरस का वातावरण मथुरा वृन्दावन के समान भक्ति-प्रधान न था। वहाँ रसिकता

का शृंगारिक वातावरण था और इसी प्रकार के स्वाग वहाँ लोकप्रिय हुए। अतः हाथरस मे यह मच 'भगत' नही 'स्वाग' कहलाया। हाथरस की जलवायु इस स्वाग परम्परा के लिए बड़ी अनुकूल सिद्ध हुई। वहाँ स्वाग के अनेक अखाडे स्थापित हो गये और विवाह जैसी धूमधाम मे पूरे नगर मे स्वाग अव्यावसायिक रूप मे बहुत धूमधाम से होने लगे। पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता ने वहाँ के पूरे वातावरण को लगभग पचास वर्ष तक स्वागमय बनाए रखा।

हाथरस बहुत शीघ्र ही स्वागो का गढ़ हो गया और आस-पास से इन स्वागो के प्रदर्शन की माँग आने लगी। तब हाथरस मे दो व्यावसायिक स्वाग मडलियो का गठन हो गया। एक मडली तो वासम जी के शिष्य राय मुरलीधर ने बनाई और दूसरी मडली उस्ताद इन्दरमन के शिष्य चिरजीलाल जी ने अपने शिष्य नथाराम गौड़ के साथ स्थापित की जो नत्था चिरजी की मडली के नाम से देशविख्यात हुई। इस मंडली की लोकप्रियता से प्रभावित होकर नथाराम जी के ही स्वागो को मच पर प्रदर्शित करने वाली इन व्यावसायिक मडलियो की यह शृखला सभी क्षेत्रो मे फैल गई। रायमुरलीधर जी के स्वांग भी आजकल एक-दो मडली कभी-कभी करती है, परन्तु हाथरसी शैली मे नथाराम के स्वाग ही सर्वमान्य हैं।

नत्था चिरंजी की मडली के कारण ही कानपुर मे नौटकी मडली का उदय हुआ, यह हम पहले ही लिख चुके है। कानपुरी नौटंकी के जन्मदाता यद्यपि दूसरे व्यक्ति थे परन्तु इस परम्परा को नवीन रूपरग देकर एक विशिष्ट रूप मे पल्लवित करने का काम श्री कृष्ण पहलवान ने किया। उन्हे ही हम कानपुर की नौटंकी का जनक मान सकते है जिन्होने कानपुर की नौटकी को प्रयत्नपूर्वक व्यावसायिक रूप देने के साथ उसे नया रंग भी दिया। श्रीकृष्ण पहलवान ने नथाराम गौड की मडली से पृथक् अपनी नौटकी रची और उनका प्रदर्शन करके कानपुर स्कूल को विकसित किया। ऐसे तीन सौ के लगभग सांगीत अब तक श्रीकृष्ण पहलवान के यहाँ से छप चुके हैं जो उनके तथा कानपुर के अन्य नौटकीकारो के लिखे हैं जिनमे यासीन खाँ, पन्नालाल, नाशाद, छेद्दी आदि प्रमुख हैं।

प्रदर्शन की दृष्टि से श्रीकृष्ण पहलवान ने कानपुरी नौटंकी मे निम्न परिवर्तन किए:—

१ हाथरस मे छंदो को गाढकर गाने की परम्परा है जिसमे बड़े दमखम की आवश्यकता होती है। कानपुर मे ऐसे दमखम के लम्बी आवाज वाले गायक प्राप्त नही हो पाते थे। पहलवान ने पहले यह चेष्टा की कि ब्रज क्षेत्र के गायको को कोई वह वैतनिक आधार पर अपनी मंडली मे लें, परन्तु वह सब ब्रज के परम्परागत अखाडो के शिष्य होने के कारण वेतन लेकर भी बेमन से काम करते थे। अतः श्री-कृष्ण पहलवान ने उन पर ही निर्भर न रह कर अपनी नौटकी की गायन पद्धति को सहज व साधकर के उसे सीधा बना दिया तथा गायन के साथ अभिनय को महत्त्व देकर सगीत को गाढकर गाने के बजाय पात्रो के कथन में नाटकीय बनाने का प्रयत्न किया। इस शैली के गायक धीरे-धीरे कानपुर के क्षेत्र मे शीघ्र तैयार हो गए।

२. कानपुरी नौटकी मे मंच पर पात्रों को एकत्र करके पहले कोरस गवाना भी उन्ही ने प्रारम्भ किया। बाद मे हाथरस वालों ने भी उनकी देखा देखी अपने स्वाँग के आरंभ में नक्कारे पर ध्रुपद गाना प्रारम्भ कर दिया।

३. पारसी रंगमच का पहलवान पर विशेष प्रभाव पड़ा। उन्होने अपने आलेखों पर भी पारसी रग चढाया और नौटंकी की मूल कथा के साथ कुछ स्वाँगों मे एक दूसरी हास्य कथा भी जोड़ी। इस हास्य कथा-नायक एक पिस्सू नाम का पात्र है जो श्रीकृष्ण के कई स्वाँगो में उपलब्ध हो जाता है।

४. मच पर नौटकी के प्रदर्शन का रूप भी पहलवान ने बदला। हाथरसी स्वाँग सीधे सीधे खुले मंच पर बीच चौराहों पर तख्त बिछाकर होता था, परन्तु पहलवान ने उसे पारसी ढंग के पर्दों में बन्द कर दिया। रगों का महत्त्व भी इन्होने कम कर दिया क्योकि दृश्य विधान की पर्दों द्वारा व्यवस्था करने के कारण उन्हे उसकी अधिक आवश्यकता नही रही।

५. मेले ठेलो मे टिकिट लगाकर नौटकी करने की प्रथा भी श्रीकृष्ण पहलवान ने ही डाली ! एक बार तो वह न्यू एल्फ्रेड कम्पनी का भी मुकाबला करके उनके दाँत खट्टे कर आये थे।

इन परिवर्तनो के कारण हाथरस और कानपुर के दो नौटकी स्कूल अस्तित्व मे आए। यद्यपि मूल रूप से दोनो एक ही है। कानपुर के प्रभाव से पूर्वी उत्तर प्रदेश मे नौटकी का व्यापक प्रचार हुआ। मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, कन्नौज आदि में इस शैली के प्रमुख केन्द्र बन गये, परन्तु लखनऊ मे जो नौटकी की मडली बनी, उन पर ब्रज का ही प्रभाव रहा। लखनऊ के रामनाथ ने जो नौटकी बनाई, उसमे बरसाने गाव के गोकुल जी साझीदार थे जो जनता द्वारा ब्रज की उपाधि से विभूषित किए गये थे। उन जैसा सुरीला, मचीय गायक ब्रजक्षेत्र मे दूसरा नही हुआ। रात्रि को तीन चार मील तक से उनकी सुरीली आवाज को सुनकर लोग बिस्तर छोड़कर उनके स्वाँग मे खिचे चले आते थे। एक-एक स्वर पर चार-पाँच मिनट तक जमे रह कर दमदारी से जनता को विस्मित करने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। लखनऊ मे दूसरे पुराने प्रसिद्ध कलाकार कक्कू जी गोस्वामी भी अपनी मडली मे ब्रज के कलाकारो को ही रखते थे। आज पिच्चासी वर्ष की आयु मे भी वह इस लोक-मच के प्रति अटूट निष्ठा से समर्पित है और इस काम मे अभी तक रुचि लेते है। वे स्वय कलाकार और लेखक है। अपने शिष्य आशिक हुसेन को मडली का कार्य सौपकर वह बीच में निश्चिन्त हो गए थे परन्तु अनायास आशिक हुसेन जी का स्वर्गवास हो जाने के कारण कक्कू जी को बुढापे मे फिर से सक्रिय होना पड़ा है। आशिक हुसेन लखनऊ क्षेत्र के बहुत ही कुशल कलाकार थे। उनकी वाणी कोलम्बिया कम्पनी के कुछ रेकार्डों मे सुरक्षित है, यह सन्तोष की बात है।

– श्रीकृष्ण पहलवान के बाद कानपुरी नौटकी के बाद दूसरा सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम कन्नौज के त्रिमोहनलाल का है। त्रिमोहनलाल यद्यपि हाथरसी अखाड़े के

उस्ताद इन्दरमन के शिष्य थे, परन्तु उनका कार्यक्षेत्र कानपुरी नौटंकी मे ही रहा। यह श्रीकृष्ण पहलवान से भी अधिक पारसी रगमच के भक्त थे। उन्होने अपने स्वाँगो में पारसी ढग का दृश्य विधान भी किया है तथा नारी-पात्रो को नौटकी मंच पर भी सर्वप्रथम यही लाये। नौटकी क्षेत्र की प्रसिद्ध कलाकार गुलाबजान और कृष्णाबाई सबमे पहले आपने ही मच पर उतारी थी, जिससे कानपुरी नौटकी मे नृत्यगायन व रसिकता की मात्रा इतनी बढी कि वह मर्यादा की भी सीमा का अतिक्रमण करने लगी है और उसी के कारण आज कानपुर के पूरे नौटकी क्षेत्र पर अश्लीलता और गायिकाओ का ही एकछत्र राज्य है, जिससे डर कर अन्त मे श्री कृष्ण पहलवान भी मडली चलाना भूल गये और पुस्तको का व्यवसाय करने लगे थे। नौटंकियों में नर्तकियो का यह प्रवेश हाथरसी स्वाँग को भी प्रभावित किये बिना नही रहा। श्यामाबाई, अन्नोबाई जैसी महिलाओ को स्वर्गीय नथाराम गौड ने भी जीवन के उत्तरार्द्ध मे अपनी मडली मे स्वीकार कर लिया था और यह परम्परा वहाँ भी इस मच के स्तर को गिराने का कारण बनी है। धीरे–धीरे सिनेमा के गीत और भौंडे नृत्य नौटकी के समस्त कथात्मक आकर्षण को समाप्त करते जा रहे हैं। यह कानपुरी नौटकी के साथ हाथरसी स्वाँग को भी जर्जर कर चुके हैं। नौटकी-दर्शक की इस बदलती मनोवृत्ति मे आगे यह विधा कैसे जीवित रहेगी, यह समस्या आज रंगकर्मियो के समक्ष एक प्रश्नचिह्न है।

नौटकी का मच एकमात्र ऐसा हिन्दी का गायन–प्रधान लोक रंगमंच है जिसका नाट्य रूप ऐसी अनेक विशेषताओ से युक्त है, जो अन्य मंचों मे नही पायी जाती। जनता की बात जनता की भाषा मे बिना किसी आडम्बर के सीधे-सादे खुले मंच पर जितने प्रभावशाली ढंग से कहने की सामर्थ्य इस मच मे है, उतनी हिन्दी क्षेत्र के किसी दूसरे मंच में नही है।

यह मंच देशकाल और स्थल के बन्धन से सर्वथा मुक्त है। इसमे रंगा नाम का पात्र इतना सशक्त है जो घटना के सूत्रों को जोड़ने, अनावश्यक कथा प्रसंगों को छोडने किसी भी दृश्य की वर्णना करने तथा किसी भी स्थिति या जटिलता को स्पष्ट करने मे कभी कोई कठिनाई उत्पन्न नही होने देता और कथा के कलात्मक सौन्दर्य को निरन्तर बनाए रखता है।

नौटकी एक सवाद प्रधान मंच है। इसकी विशेषता यह है कि यहाँ सवादो का चुटीलापन ही कथानक मे मार्मिकता की वृद्धि करता है और नाटक को चरम सीमा तक ले जाता है। जिस तुकान्त मे पहला पात्र अपनी बात कहे उसी तुकान्त मे उत्तर देने से सवादो की प्रभावशीलता बहुत बढ़ जाती है। एक उदाहरण देखें। "लैला मजनू" स्वाँग मे खुशवक्त से निकाह हो जाने पर भी जब लैला उसे अस्वीकार कर देती है तो वह कहता है—

ताज्जुब है मुझे लैला कहती है क्या
सोचती दिल में जेरो जबर ही नही।

तेरी शादी हुई है मेरे साथ मे,
क्या अभी तक तुझे ये खवर ही नही ॥

तव लैला उत्तर देती है—

क्यो वनाते हो वाते मेरे रोवरू,
आपका मेरे दिल पर असर ही नही ।
मै न औरत तिहारी लगू मेहरवाँ,
मुझे अच्छी लगे ये फिकर ही नही ॥

इधर लैला अपने पति का यों तिरस्कार कर रही है। उधर एक दूसरी नौटकी मे जब गेद खेलते हुए नायक की गेद नायिका के महल मे जा गिरती है और वह अपनी गेद लेने उसके पास जाता है तो नायिका उस पर दीवानी होकर कहती है—

जरा पास आओ सनम, मै तुम पर कुरवान ।
एक छोड दो गेद लो, मेहरवान दिलजान ॥

इस प्रकार नौटकी के सहज सवादो मे रसपरिपाक तथा वातावरण को वदलने की अपूर्व क्षमता है।

इस मंच पर हिन्दी के विभिन्न छदो, लोकधुनों तथा जनपदीय वोलियो का जैसा व्यापक प्रतिनिधित्व है तथा इसके सगीत मे जो सहज आकर्पण है, वह दूर-दूर से दर्शको और श्रोताओ को अपनी ओर खीचने मे समर्थ है।

नौटकी मच की सवसे वड़ी विशेषता उसकी अनौपचारिकता है। यहाँ पात्र केवल मूक दर्शक ही नही रहता वरन् वह भी अभिनय मे भागीदार रहता है। उदाहरण के लिए यदि मंच पर कोई विवाद सम्पन्न होता है तो इस विवाद को सम्पन्न कराने वाला पात्र उस खुशी मे दर्शको को भी भाग लेने के लिए अवश्य आमन्त्रित करेगा। वह कह सकता है—"अरे यार तुम वैठे-वैठे क्या देखते हो इस खुशी के अवसर परकुछ नही तो कम से कम तालियाँ ता वजादो।" यह कहते ही सव दर्शक अट्टहास करते हुए ताली वजाने लगेगे। दर्शको को इस मच पर यह भी अधिकार रहता है कि उन्हे यदि कोई सवाद अधिक पसन्द है तो वे उसे फिर से दुहराने का आग्रह कर दें या प्रसन्न होकर किसी अभिनेता को इनाम दे दें। नौटकी का अभिनय पूर्णरूप से लोकधर्मी है, यहाँ अभिनय मे वही हाव-भाव व चेष्टाएँ और मुद्राएँ सहज भाव से गृहीत हैं। हारमोनियम, सारंगी, ढोलक, नक्कारा जैसे लोक-वाद्यों पर मधुर लम्वी आवाज़ मे टीपदार गायक दर्शकों के हृदय को छूने की अपूर्व क्षमता रखते हैं। नक्कारा नौटंकी के सगीत को वहुत अधिक प्रभावपूर्ण वना देता है।

नाट्य क्षेत्र के विद्वानो का मत है कि नौटकी के सगीत में जितना दम, प्रभावोत्पादकता तथा आकर्पण है वह किसी दूसरे आपेरा मे नही। यह देश के राष्ट्रीय आपेरा का आधार वन सकता है परन्तु दुर्भाग्य से आज इसमे कुरुचि तथा सिनेमा

के प्रभाव ने जो अश्लीलता और भोडापन ला दिया है, उसने इसकी कलात्मकता को धूमिल कर दिया है । इसे उचित स्तर पर पुनः स्थापित करने की महत्त्वपूर्ण समस्या सामने है । भारत की संगीत नाटक अकादमी को यह कार्य हाथ मे लेना चाहिए था, परन्तु उसने एक बार श्रीकृष्ण पहलवान को सम्मानित करने के बाद फिर इस ओर रुख नही किया ।

ब्रज कला केन्द्र ने अवश्य इस ओर एक महत्त्वपूर्ण पग उठाया था । इस संस्था ने ब्रज लोक मंच की स्थापना करके उसमे हाथरस शैली के सर्वश्रेष्ठ गायकों को व्यावसायिक आधार पर सगठित करके इस मच के स्तर को उठाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पादित की थी । इसी मच पर शिकोहाबाद की श्रीमती कृष्णा कुमारी को नायिका के रूप मे ब्रज क्षेत्र मे उतारा गया था और उनकी ख्याति यहाँ सर्वाधिक है । खेद है कि कुछ अप्रत्याशित कारणों से यह लोक मच भी चिरंजीवी नही हो सका । कुछ वर्ष चलकर वह उस समय भग हो गया ? परन्तु फरवरी 75 से ब्रज क्षेत्र के सर्वमान्य और भारतीय ख्याति के विख्यात स्वाँग गायक श्री गिरिराज प्रसाद के सचालन मे यही लोकमच पुनः प्रारम्भ किया गया ।

राजधानी दिल्ली मे नाटको के क्षेत्र मे जो उल्लेखनीय आन्दोलन इधर प्रारम्भ हुआ है उसका भी ध्यान नौटकी की ओर आकर्षित होता रहा है । नौटकी शैली पर यहाँ कुछ नाटकीय प्रयोग हुए हैं, वहाँ परिष्कृत रूप मे नवीन आलेख लिखाकर परम्परागत कलाकारो के माध्यम से नौटकी को भी मच पर लाया गया । हमारे ही लिखे गये महाकवि हर्ष की नाटिका 'रत्नावली' का नौटकी रूपातर लिटिल थियेटर ग्रुप ने राजधानी मे एक बार मंच पर प्रस्तुत किया और दूसरी बार कवि आलम के "माधवानल कामकन्दला" की श्रृगार रस की मनोरम-गाथा को भारतीय नाट्य सघ ने फिरोजशाह ग्राउन्ड मे प्रदर्शित किया, परन्तु दोनो ही प्रदर्शन इतनी शीघ्रता में हुए कि उनके लिए जितनी तैयारी और पूर्वाभ्यास अपेक्षित थे, वह नही हो सके । अतः उनमे आशिक सफलता ही मिली, 'नटरग' के सम्पादक तथा प्रसिद्ध रंगकर्मी श्री नेमिचन्द जैन ने इन प्रदर्शनो के सम्बन्ध मे अपनी प्रतिक्रिया यो व्यक्त की थी जिससे हम पूरी तरह से सहमत है–

"दिल्ली मे 'रत्नावली' और माधवानल कामकन्दला' नामक दो नौटँकियाँ प्रस्तुत की जा चुकी है । । इनमे साधारण नौटकी प्रदर्शन की ग्राम्यता चाहे न हो, अपरिचित भावभूमि और कथानक के कारण उनमे अभिनेता गायक इतनी अस्वाभाविकता और पकड अनुभव करते है कि किसी भी उत्कृष्ट प्रदर्शन के लिए आवश्यक सहजता, स्वत. स्फूर्तिता और तन्मयता उनमें नही आ पाती । नई नौटंकी के लिए लम्बी तैयारी की आवश्यकता होती है । वास्तव मे नई नौटकियों की अच्छी तैयारी और प्रदर्शन तब तक ठीक नही हो सकते जब तक विशेष रूप से इसी कार्य के लिए पेशेवर मंडलियाँ न बनवाई जायँ और उनके नियमित प्रदर्शनो की पर्याप्त व्यवस्था न हो ।"



लावनी

द्वारिका प्रसाद सक्सेना

लोक-गीत तीन प्रकार के मिलते है, परम्परा-प्रवाही, लिखित और प्रकीर्ण। लावनी का सम्बन्ध लिखित लोक-गीतों से है। यह लावनी-साहित्य किसी एक देश, एक भाषा, एक जाति एव एक वर्ग से सम्बन्धित नही रहा है, अपितु इसका संबंध अनेक स्थानो, अनेक भाषाओं, अनेक-जातियों एव अनेक वर्गों से रहा है। इसीलिए लावनी लोक-साहित्य की सबसे अधिक प्रभावशाली एवं लोकप्रिय विधा के रूप में प्रसिद्ध है।

आरम्भ मे लावनी का सम्बन्ध सन्तो, एवं फकीरो से अधिक रहा है, क्योंकि पहले सन्त या फकीर ही लावनी गाया करते थे और लावनी के लिए सभाओं दगलों एवं अखाडो का आयोजन नहीं किया जाता था। सन्त या फकीर अपने भक्तों या शिष्यों के सम्मुख अत्यंत भाव-विभार होकर लावनी गाते थे और उन लावनियों में भक्ति-भावना अथवा आध्यात्मिक भावों का ही प्राधान्य रहता था। इसी कारण लावनी के आदि प्रवर्त्तकों में सन्त तुकनगिरि और फकीर शाहअली के नाम प्रसिद्ध हैं। धीरे-धीरे यह गायन-पद्धति इतनी मनोरंजक एवं आकर्षक हो गयी कि सन्तों और फकीरों के यहाँ से जन साधारण के मैदान मे उतर आयी और लोक-गीत के रूप मे प्रचलित हो गयी। पहले लावनियों की दो मंच पद्धतियाँ प्रचलित थी-महाराष्ट्री और उत्तर भारतीय। महाराष्ट्र मे इसके अखाड़े या मंच को सभा महफिल अथवा तमाशा नाम दिया जाता था। इसमे गायक अभिनय के साथ मंच पर बैठे-बैठे लावनी गाया करते थे। सत्रहवीं शताब्दी में लावनी इतनी अधिक लोकप्रिय हो गयी थी कि महाराष्ट्र के 'तमाशो' के अन्तर्गत जो सक्षिप्त अभिनय किया जाता था उसमें लावनी के गायन की पद्धति ही प्रमुख रूप से अपनायी जाती थी और तमाशे में भाग लेने वाले नर्तक तथा नर्तकियाँ एव अन्य अभिनेता इन लावनियों को विविध ढंग से गा-गाकर दर्शको का मनोरंजन किया करते थे। यहाँ पहले लावनी के मंच पर नाटक की भाँति रंग-पूजन के रूप मे देव-स्तुति का प्रचार था। देव-स्तुति के लिए कभी सरस्वती, कभी श्रीकृष्ण अथवा कभी गणेश आदि किसी अन्य इष्टदेव की स्तुति का गायन किया जाता था। तदुपरान्त कुछ हास्य एवं मनोरजन से परिपूर्ण सवाद प्रस्तुत किये जाते थे। ये सवाद किसी विदूषक या 'सौगाड्या' द्वारा मनोविनोद के लिए मंच पर प्रस्तुत किए जाते थे। इन सवादों के उपरान्त तीन कुमारियाँ नृत्य

करती हुई रंगमंच पर उपस्थित होती थी और नृत्य के साथ-साथ लावनियाँ भी गाती थी। वे नर्तकियाँ दर्शकों के समीप जाकर उनकी फरमाइशें भी सुनती थी और धन का संग्रह भी करती थी। तदुपरान्त दर्शकों एव श्रोताओं के अनुरोध पर लावनियाँ गायी जाती थी। लावनी के मंच पर उक्त प्रथा महाराष्ट्र मे दीर्घ अवधि तक प्रचलित रही।

उत्तरी भारत मे लावनी के मंच की प्रथा दक्षिण की महाराष्ट्रीय पद्धति से पूर्णतया भिन्न रही है। यहाँ दंगल का आरम्भ अवश्य किसी देव-स्तुति से होता है, परन्तु यहाँ मच पर न तो विदूषक या 'सोंगाड्या' उपस्थित होता है, और न यहाँ तीन कुमारियाँ नृत्य के साथ लावनियाँ प्रस्तुत करती है। यहाँ तो स्पष्ट रूप से मच पर दो दल आमने-सामने बैठकर लावनी गाते हैं एक दूसरे की चुनौतियो का उत्तर देते है और रात भर लावनियो का गायन चलता रहता है। उत्तरी भारत की मच - पद्धति यह है कि यहाँ सर्वप्रथम मंगलाचरण के रूप मे किसी देवी-देवता की स्तुति की जाती है, जिसे सखी दौड' या 'दौड़–साखी' के नाम से अभिहित किया जाता है। यह शब्द वास्तव मे 'दौरे साकी' है जिसका अपभ्रंश रूप 'सखी दौड़' या 'दौड़ साखी' प्रचलित हो गया है। कहीं–कही पर मगलाचरण के पूर्ण 'चग' नामक वाद्य पर निशान चढाने की प्रथा भी प्रचलित है। मंगलाचरण के उपरान्त एक दल का कलाकार अपनी लावनी प्रस्तुत करता है, उसका उत्तर दूसरे पक्ष का कलाकार देता है। इस तरह दोनों दलो के लावनी कलावन्त परस्पर चुनौतियाँ देते हुए लावनियाँ प्रस्तुत करते है और रातभर लावनियाँ गायी जाती है। जो पक्ष अपने विरोधी पक्ष की लावनी का उत्तर नही दे पाता है अथवा उसी के वजन पर लावनी नही सुना-पाता है, वह पराजित माना जाता है। लावनी के गायन हेतु पहले हुड़क्का ढफ आदि वाद्यो का प्रयोग होता था, परन्तु आजकल तो 'चंग' नामक वाद्य का ही प्रयोग होता है। दगल मे लावनी के गाने का अधिकार केवल उन्ही कलाकारो का होता है, जो किसी अखाडे से सम्बद्ध होते है तथा जो विधिवत् किसी गुरू के शिष्य होते है। लावनी का आरम्भ होते ही मच पर जो प्रश्नोत्तरात्मक लावनियाँ प्रस्तुत की जाती हैं, उनको 'दाखला' के नाम से अभिहित किया जाता है। एक पक्ष का लावनीकार जिस रंगत, छन्द और तुक मे अपनी पहली लावनी प्रस्तुत करता है, दूसरे पक्ष के लावनीकार को उसके उत्तर मे उसी रंगत, उसी छन्द और उसी तुक मे 'दाखला' (प्रारम्भिक लावनी) प्रस्तुत करना पड़ता है। इसके लिए गुरू या उस्ताद लोग भी दंगल मे बैठे रहते हैं, जो शीघ्र ही उसी प्रकार की लावनी तैयार कर देते है और कभी–कभी स्वयं ही मच पर गाकर अपनी लावनी प्रस्तुत किया करते है।

लावनी के दो प्रसिद्ध पक्ष माने गए है जो 'तुर्रा' और 'कलगी' के नाम से प्रसिद्ध है। वैसे इनके अतिरिक्त दत्त, टुण्डा, मुकुट, सेहरा,' मौड, चिडियाँ, अनगढ़, छत्तर, लशकरी, टकसाली, चेतना वन्दी आदि को अनेक भेदोपभेद सुने जाते है। परन्तु प्रमुख दो ही पक्ष हैं तुर्रा और कलगी। इनमे से 'तुर्रा' को कुछ पक्षधरतो

ब्रह्म या शिव के रूप मे मानते है और उनका मत है कि ब्रह्म ही संसार का आदि तत्त्व है। जीव उसी का एक अश है। माया उसकी उद्भाविका शक्ति है, जो अज्ञान रूपा है और जिससे यह समस्त जड़चेतन दृष्टिगोचर होता है। कुछ 'तुर्रा' को निरंजन रूप मानते हैं। साथ ही 'कलगी' को 'माया' बताते है जो दुर्गा, पार्वती, देवी आदि के रूप में मानी जाती है। इस प्रकार उनके मत से यदि 'तुर्रा' पुरुष है तो 'कलगी' नारी है। 'तुर्रा' यदि ब्रह्म है, तो 'कलगी' माया है। 'तुर्रा' जगन्नियता शिव है तो 'कलगी' उन्ही के सकेत पर चलने वाली अथवा उनकी अंकशायिनी दुर्गा है। इस तुर्रा पक्ष के प्रवर्त्तक तुकनगिरि माने जाते हैं और कलगी पक्ष के प्रवर्त्तक शाह-अली प्रसिद्ध है। तुकनगिरि अद्वैतवादी या ब्रह्मवादी थे तथा शाहअली सूफी सन्त थे। इसी कारण तुकनगिरि ने अपने तुर्रा को ब्रह्म या पुरुष रूप मे माना है, जबकि सूफियो ने ईश्वर या ब्रह्म को नारी रूप में स्वीकार किया है। इसीलिए शाहअली ने 'कलगी' को नारी माया या देवी के रूप मे माना है। पीछे चलकर लोगो को सूफी मत की इस मान्यता का तो ध्यान नही रहा कि वहाँ ईश्वर की ही नारी रूप मे कल्पना की गयी है। इसीकारण तुर्रा पक्ष को ब्रह्म या पुरुषवाचक तथा कलगी पक्ष को माया या नारीवाचक मान लिया गया। उधर कलगी पक्ष वाले अब 'कलगी' की सर्वोपरिता सिद्ध करने के लिए उसे आदि-शक्ति या माता मानते हैं और शिव एवं ब्रह्म को उसका पुत्र कहते हैं। जो भी हो, इन दोनो पक्षों का कोई लिखित प्रमाण तो मिलता नही। केवल किम्वदन्तियो के रूप में कुछ बातें अवश्य मिल जाती है, जो इन दोनो पक्षो पर प्रकाश डालती है।

कहा जाता है कि तुकनगिरि और शाहअली दोनो सन्त एक बार घूमते-घूमते महाराष्ट्र प्रदेश मे पहुँचे। वहाँ इनकी लावनियो की प्रसिद्धि सुनकर तत्कालीन मराठा-शासक ने इन दोनो सन्तो को अपने दरबार मे लावनी गाने के लिए आमन्त्रित किया। दोनो सन्तो ने बड़ी तन्मयता के साथ अपनी-अपनी लावनियाँ सुनाईं, जो आध्यात्मिकता के रंग में रँगी हुई थी और जिनको सुनकर मराठा शासक अत्यत प्रसन्न हुआ था। अन्त मे उन दोनों का सम्मान करते हुए उस मराठा-शासक ने अपनी पगड़ी मे से निकालकर 'तुर्रा' तो तुकनगिरि को दे दिया और 'कलगी' शाह-अली को भेट कर दी। कुछ विद्वानो का मत है कि उक्त घटना सम्राट अकबर के दरबार से सम्बन्धित है और सम्राट अकबर ने ही अपनी पगड़ी से 'तुर्रा' निकालकर तुकनगिरि महाराज को अर्पित किया था और 'कलगी' निकालकर फकीर शाहअली को भेंट की थी। एक विद्वान् का विचार यह भी है कि सूफी सन्त शाहअली के दो पुत्र अरब से भारत में आए थे। उनमें से एक तो सन्त तुकनगिरि का शिष्य होकर एकेश्वरवाद या ब्रह्मवाद की लावनियाँ गाने लगा था और दूसरा अपने पिता शाह-अली की तरह सूफी मत का अनुयायी होने के कारण सूफी धर्म सम्बन्धी लावनियाँ गाता था। दोनो ही गायक एक बार सम्राट अकबर के निमंत्रण पर उनके दरबार मे फतेहपुर सीकरी पहुँचे और दोनों ने अपनी-अपनी लावनियाँ सुनायी, जिन्हे सुनकर

सम्राट् अकबर बहुत प्रसन्न हुए और दोनो के सम्मानार्थ एक को 'तुर्रा' और दूसरे को 'कलगी' भेंट की गयी, जो आगे चलकर 'लावनी' के दो पक्षो के निशान बन गए। इस प्रकार उक्त मान्यताओ के आधार पर इतना ही स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि लावनीकारो के दो पक्षो का विभाजन 'तुर्रा' और 'कलगी' के नाम से लगभग सोलहवीं शताब्दी के आस-पास अवश्य हो गया था तथा इससे पूर्व लावनी के स्पष्ट रूप से कोई दो अखाडे या दो पक्ष नही थे तथा यह कला केवल सन्तो या सूफी फकीरों तक ही सीमित थी।

आज लावनी के दगलो एवं अखाड़ो पर दृष्टिपात करने के उपरान्त पता चलता है कि लावनी के दगलों मे जब एक पक्ष का लावनीकार अपनी लावनी से कोई प्रश्न उपस्थित करता है, तब दूसरे पक्ष के लावनीकारो को वह चुनौती देता है और दूसरे पक्ष वाले उसकी चुनौती को स्वीकार करके उसके प्रश्न का उत्तर देते हैं। ये प्रश्नोत्तर पूर्ण लावनियाँ बडी मनोरंजक एव शिक्षाप्रद होती है तथा इनमे वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान के अतिरिक्त व्यावहारिक ज्ञान भी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान रहता है। इसी करण लावनियों के गुरुओ को विविध विपयो का ज्ञान होता है, वे नाना प्रकार की पौराणिक गाथाओं से परिचित होते हैं और उन्हे विविध प्रकार के धर्म-ग्रन्थों की यथेप्ट जानकारी होती है। जैसे, एक लावनी के दंगल मे मगलाचरण के उपरान्त एक पक्ष ने प्रश्न उपस्थित किया—

देकर प्रमाण यह बतलाना, मन मे करना कुछ शक नही।
क्या कारण है स्पष्ट कहो, क्यो व्याल चढै पर्यंक नही॥

इस प्रश्न को सुनकर दूसरे पक्ष के लावनी कलाविज्ञ गुरु ने शीघ्र ही एक लावनी तैयार करके इस प्रकार उत्तर दिया, जिसमे अपने पौराणिक ज्ञान के साथ-साथ पूर्व पक्ष का उत्तर कितनी कलात्मकता से युक्ति पूर्वक दिया गया है:—

तक्षक-भय से अभिमन्यु तनय, सो पाता था निशक नही।
रानी दिवला ने आन दई, यो चढै सर्प पर्यंक नही।

ऐसे ही जब पूर्वपक्ष अपने विपक्षी के वजन पर उसी के ख्याल पर दूसरी लावनी पढता है, तब विपक्षी को भी उसी टेक पर, उसी वजन वाली लावनी पढनी पढती है और इस प्रकार दगल मे एक पर एक लावनी गायी जाती है। लावनियो की नोक-झोक एवं प्रतियोगिता को देखकर एक बात स्पष्ट है कि इनमे गुरुओ को बराबर यह ध्यान रखना पडता है कि एक पक्ष ने किस विषय पर किस टेक को लेकर, किस रगत मे, किस छन्द में और किस भापा मे कैसी लावनी गायी है। दूसरे पक्ष को भी उसी तरह की लावनी सुननी पडती है। इन लावनियो मे गर्वोक्तियो, समस्याओ, प्रश्नोत्तरो आध्यात्मिक वाद-विवादो आदि के अतिरिक्त 'फटके' का प्रयोग भी दाखला के रूप मे होता है इस 'फटके' के अन्तर्गत प्रश्नकर्त्ता और उत्तरदाता दोनो को एक ही रगत मे, एक ही तृक मे और एक ही छन्द में अपनी-अपनी तान सुनानी पड़ती है। इस प्रकार टेक पर टेक और दाखला पर दाखला द्वारा लावनियाँ व

गायन बराबर होता रहता है।

लावनियो के विषय की विविधता इनकी प्रमुख विशेषता है, क्योंकि लावनी का निर्माण कभी एक ही विषय पर नही होता। कभी तो श्रृंगार–रस प्रधान लावनी गायी जाती है, तो कभी वीर–रस प्रधान, कभी राष्ट्र प्रेम से परिपूर्ण लावनी गायी जाती है, तो कभी दार्शनिक विषय पर, कभी पौराणिक गाथाओं का आधार बनाकर लावनी गायी जाती है, तो कभी राजनीतिक विषयों पर और कभी 'इश्क हकीकी' पर लावनी गायी जाती है तो कभी 'इश्क मजाजी' पर। कहने का तात्पर्य यह है कि लावनी मे विविध विषयों का समावेश होता है। कभी-कभी समसामयिक विषयों को लेकर ऐसी मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद लावनी गायी जाती है, जिसे सुनकर श्रोता न केवल गद्‌गद् हो जाते है, अपितु उस रचना की सराहना करते हुए नही थकते! जैसे, राष्ट्र प्रेम से परिपूर्ण यह लावनी देखिए, जिसमे लावनीकार ने भारत के सभी नेताओ को लेकर किस प्रकार सुन्दर लावनी की रचना की है.–

खद्‌दर की चुन्दरी कर ऐसी तैयार रे रँगरेजवा।
जिससे इस भारत का होवे उपकार रे रँगरेजवा॥
एक ओर कौने पर बाबा गांधी चरखा धारी हो।
विजय लक्ष्मी एक ओर भारत की राजदुलारी हो॥
मौलाना आजाद कांग्रेसी प्रधान अधिकारी हो।
एक ओर गोविंद पत भारत के प्रेम पुजारी हो॥
हो वीर भगतसिंह बलिदानी सरदार रे रँगरेजवा॥ आदि

उक्त लावनी को सुनकर दूसरे पक्ष के लावनी कार ने भी तुरन्त इसी वजन पर उसी समय इसका उत्तर देने के लिए लावनी तैयार की जो इसी टेक, इसी छन्द, इसी वजन एव इसी विषय पर इस प्रकार गायी गयी थी—

जिसमे हो चरखा संघ प्रामाणिक तार रे रँगरेजवा।
मैं उस खद्‌दर की चादर पर बलिहार रे रँगरेजवा॥
सच्चे स्वदेश के भाव भरे सत्याग्रह की गति जानी हो।
पक्के स्वराज्य के तीन रंग असि प्रणधारा का पानी हो॥
दादाभाई नौरोजी के फूलो की वेल सुहानी हो।
गंगाधर तिलक चढाते हों गंगाधर का वरदानी हो॥ आदि

इस प्रकार उत्तर-प्रत्युत्तर देते हुए लावनी के दंगल सारी रात चलते रहते हैं। कभी-कभी दो-दो या तीन-तीन रातोंतक भी लावनी के दगल जमते है और जब तक जय-पराजय नही होती, तब तक कोई पक्ष किसी दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा मे पीछे नही हटता।

लावनी के बारे मे एक भ्रान्त धारणा है कि लावनी एक छन्द विशेष होता है और उसी छन्द मे जो गायकी प्रस्तुत की जाती है, उसे लावनी कहते हैं। परन्तु आज तक किसी भी विद्वान् ने 'लावनी' की कोई सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत नहीं

की है। कारण यह है कि लावनी किसी छन्द-विशेष मे गायी जाने वाली रचना का नाम ही नही है, अपितु यह गायन की शैली-विशेष है, जिसमे विविध प्रकार के राग एवं रागनियो का समावेश रहता है इसे ख्यालगोई भी कहते है। इसका मुख्यतया सम्वन्ध उन लोक छन्दों से होता है जो नौटंकी स्वाँग भगत आदि में भी प्रयुक्त होते है और जिनका प्रचार एवं प्रसार उर्दू शायरी मे भी है। मुख्यतया 'लावनी' कई रंगतों मे रची एवं गायी जाती है। इनमे से वहरतवील, छोटी लावनी रगत शिकिस्ता, रंगत खड़ी, रंगत महाराज, रंगत लँगड़ी, रंगत जिकडी, रगतवची, दौड और 'सखी' अथवा सखी दौड़ (दौरे शाकी) रंगत गजली, खमसा-या खमचा, तवील मुखफ्फा, रंगत सोहनी, शैर आदि विविध रगतों एवं रचना-पद्धतियो का प्रयोग अधिक होता है। इसका अभिप्राय यह है कि पहले भले ही लवनियाँ सुप्रसिद्ध 'लावनी' छन्दो में रची और गायी जाती होंगी, किन्तु लावनी का सम्बन्ध जैसे-जैसे दगलो, अखाड़ों आदि मे आकर उर्दू-फारसी की वहरो, गजलो, शिकिस्ता आदि छन्दो से हुआ, वैसे-वैसे इसमे विविध प्रकार के छन्दों का समावेश होने लगा। पहले ये छन्द हिन्दी एव उर्दू के छन्द-शास्त्र से ही लिए जाते थे, परन्तु जनसाधारण की रुचि के अनुकूल लावनियों की रचना होने के कारण इनमे वहरतवील झूलना, चौवोला, दोहा, सोरठा आदि का भी समावेश होने लगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र आदि के द्वारा रचित लावनियों में प्राय २२ मात्राओ के राधा, सुमेरू, भृंगावर्तनी, परमावर्तनी आदि छन्दो का ही प्रयोग हुआ है, और पहले हिन्दी मे इन्ही छन्दो के अन्तर्गत लावनी-साहित्य रचा जाता था, परन्तु धीरे-धीरे जैसे-जैसे उर्दू-फारसी के साथ-साथ हिन्दी-लावनी का सम्बन्ध वढने लगा, वैसे-वैसे उर्दू-फारसी भाषा के साथ-साथ लावनी मे उर्दू-फारसी की वहरें शेर आदि भी पर्याप्त मात्रा मे प्रयुक्त होने लगी। इस तरह आज लावनी-साहित्य की रचना-पद्धति का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि उनमे विविध प्रकार के छन्दो वहरों, रगतो आदि के प्रयोगों के कारण छन्दगत विविधता आ गयी है। कही-कही अव लावनियाँ आधुनिक चित्रपट-सगीत को आधार वनाकर भी रची जाने लगी है क्योंकि लावनी का मुख्य लक्ष्य जनसाधारण है और जनसाधारण को जो लोकधुने शास्त्रीय या अशास्त्रीय धुनें, अरबी-फारमी की धुनें, चित्रपट संगीत की धुनें पसन्द है, लावनीकार उन्ही धुनो मे लावनियो की रचना करके श्रोताओ का मनोरजन किया करते है।

लावनी-साहित्य का मुख्य रस तो शृंगार है और शृंगार में भी सयोग शृंगार सम्बन्धी लावनियाँ अधिक रची जाती है। कारण यह है कि शृंगार रस-राज है और जनसाधरण के मानस को आन्दोलित करने अथवा उसके चित्त को प्रसन्न वनाने मे शृंगार रस का योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। प्राय सभी लावनीकार अस्सी प्रतिशत लावनियाँ सयोग शृंगार मे अवश्य रचा करते है। इसके अतिरिक्त कुछ लावनियाँ वियोग शृंगार में भी मिलती है। शृंगार के सयोग एवं वियोग पक्ष को लेकर प्रायः राधा-कृष्ण या गोरी-कृष्ण सम्वन्धी लावनियाँ अधिक रची गई हैं। जिन लावनियो

में उर्दू–फारसी का प्राधान्य मिलता है उनमे 'इश्क मजाजी' सम्बन्धी लावनियाँ अधिक रची गयी हैं, जहाँ आशिक, माशूक, साकी, शराव, मयखाना आदि का वर्णन अधिक मात्रा मे मिलता है। हिन्दी भाषा मे रचित लावनियों के अन्तर्गत कृष्ण और गोपियों की छेडछाड अथवा कृष्ण के वियोग मे व्यथित गोपियों की कातर स्थिति का वर्णन अधिक मिलता है। शृगार के अन्तर्गत लावनीकारों ने प्राय: रूप–वर्णन को अधिक महत्त्व दिया है। नायिका के रूप–सौदर्य की झाँकी अकित करने मे इन लावनीकारो ने कमाल कर दिखाया है। इसके साथ ही हिन्दी के रीतिकालीन कवियों की भाँति लावनीकारो ने भी कामुकता, विलासिता एव शृंगारिकता से परिपूर्ण कामोत्तेजक भावो का चित्रण लावनियो मे अधिक मात्रा मे किया है। इसके साथ ही अनेक लावनियाँ नखशिख-वर्णन ऋतु-वर्णन, वारहमासा आदि के अतिरिक्त नायिका-भेद पर भी लिखी गई हैं, जिनमे नारी के विविध भेदो, रूपो, स्वभावो, क्रियाओं, चेष्टाओ, काम-व्यापारो आदि के वर्णन अत्यत रोचकता एवं मार्मिकता के साथ किए गए है।

लावनियो मे प्रमुखता तो शृगार-रस की ही रहती है, किन्तु शृंगार के अतिरिक्त कुछ लावनीकारो ने वीर रस की लावनियाँ भी अत्यत प्रभावोत्पादक शैली में लिखी हैं, जिनमे इतिहासप्रसिद्ध वीरो एव वीरागनाओ, त्यागी एव वलिदानी महापुरुषो, उत्साह एवं उमग से परिपूर्ण सपूतो निष्काम कर्मयोगी, समाज-सेवको, स्वदेश प्रेम मे मतवाले योद्धाओ, रणागण मे मारकाट मचाने वाले शूरवीरो आदि के वर्णन अत्यत ओजपूर्ण भाषा मे मिलते है। वीर रस के अतिरिक्त देश-भक्ति से परिपूर्ण लावनियाँ भी पर्याप्त मात्रा मे मिलती हैं, जिनमे समसामयिक आन्दोलनकारी वीरो, सत्याग्रहियों फाँसी पर चढने वाले वलिदानियो स्वतन्त्रता संग्राम मे आहुति देते वाले हुतात्माओ, देश-प्रेम मे मतवाले देशभक्तो, आजादी के परवानो आदि के अतिरिक्त महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, मोतीलाल नेहरू, विजयलक्ष्मी पडित, वालगगाधर तिलक, वीर सावरकर, झाँसी वाली रानी, महाराणा प्रताप, वीरवर शिवाजी, दादाभाई नौरोजी, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, लालवहादुर शास्त्री, इन्दिरा गाधी आदि पर भी अत्यंत उत्कृष्ट भावनाएँ व्यक्त हुई है। इसके साथ ही कुछ लावनीकारो ने ऐसी लावनियाँ रची है, जिनमे दीन-हीन किसानो के शोषण, मजदूरो की दयनीय स्थिति, जनसाधारण की दूषित मनोवृत्ति, अंग्रेजो की दमन-नीति, शासको के पक्षपातपूर्ण व्यवहार आदि का चित्रण मिलता है।

कुछ लावनीकारो ने ऐसी भी लावनियाँ लिखी हैं, जिनमे रौद्र, वीभत्स, भयानक, करुण एवं वात्सल्य रसो के दर्शन होते हैं। युद्ध-वर्णनो, मे प्राय: रौद्र एवं वीभत्स रस के दर्शन हो जाते है। देश की दयनीय दशा के चित्र अकित करते हुए कही-कहीं लावनीकारो ने शोक की ऐसी नदी प्रवाहित की है, जिसमे करुण रस विद्यमान है। ऐसे ही भूचाल आदि के विवरण प्रस्तुत करते हुए लावनीकारो ने भय नामक स्थायी भाव से परिपूर्ण भयानक रस का भी निरूपण किया है। इसी भाँति

बालकों के प्रति ममता, स्नेह एवं प्रेम की धारा बहाते हुए कुछ लावनीकारों ने वात्सल्य रस का भी चित्रण किया है। परन्तु उक्त सभी रसो मे शान्त रस का वर्णन लावनियो में पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। कारण यह है कि भारत दार्शनिको का देश है और लावनी के प्रवर्तक भी दार्शनिक व्यक्ति थे। अत: संसार की असारता, जीवन की क्षणभगुरता, आत्मा की अमरता, विषय-भोगों की निस्सारता, शरीर की नश्वरता आदि के साथ-साथ लावनीकारो ने जहाँ जीव और ब्रह्म एव ब्रह्म और जगत् की अद्वैतता का वर्णन किया है, माया के प्रपंच का निरूपण किया है, विविध विकारो से निवृत्ति का चित्रण किया है, उस अद्वैत, अगोचर एवं विराट् सत्ता के प्रति गहन आस्था एवं विश्वास का निरूपण किया है अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिए अपने भावों की अभिव्यक्ति की है, वहाँ सर्वत्र शान्तरस की अभिव्यञ्जना हुई है।

लावनी की रचना पर हिन्दी और संस्कृत की रचना-शैली का उतना प्रभाव नही, जितना कि अरबी–फारसी की रचना शैली का है। अरबी–फारसी की इस रचना शैली को 'सनअत' कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ है—नक्काशी, कारीगरी, चित्रकारी आदि। अतः लावनी की रचना या साज–सज्जा मे 'सनअत' का सर्वाधिक प्रभाव रहता है। किसी भी दगल या अखाड़े मे दो पक्ष लावनियाँ गाने के लिए बैठते है, तब लावनी को कलात्मक बनाने के लिए इसी 'सनअत' का प्रयोग किया जाता है और एक की 'सनअत' को लेकर दूसरा, तीसरा और चौथा उत्तर-प्रत्युत्तर चलता रहता है। इस 'सनअत' में हिन्दी, उर्दू, अरबी, फारसी आदि सभी भाषाओ के अलकरणो का समावेश रहता है। अतः किसी एक भाषा के शास्त्रीय आधार पर इसका विवेचन नही किया जा सकता। जैसे 'सनअत' का एक रूप 'तलाजमा' या 'जिलाजवानी' होता है। इसे न तो विशुद्ध श्लेपालकार कहा जा सकता है और न मुद्रालंकार। इसमे कई अलकारो, प्रतीकों एव अर्थान्तिरो का समावेश रहता है। जैसे—इन अलकारों मे ऐसे शब्दो को चुन-चुनकर रखा जाता है, जो एक ओर तो तरकारी व्यञ्जन, पाकवस्त्र, आभूपण, मेवा, मिष्ठान आदि से सम्बन्धित होते है और दूसरी ओर वे किसी अन्य साकेतिक अर्थ के भी द्योतक होते है। 'जिला जवानी' या 'तलाजमा' का यह नमूना देखिए—

क्या मालपुआ खुल गए गुड की भेली के।
तगड़ी नितम्ब पर बँधी है खुल खेली के॥
खोले किसमिस अदरक है समभेली के।
बाँधी है घाँघरी कटि पर अलबेली के॥

उक्त पद में पकवान, जेवर, मेवा, तरकारी और वस्त्र–पाँच जिले एक साथ वर्णित है। ऐसे ही कुछ लावनियो की रचना 'तिसहर्फी' या 'ककहरे' के आधार पर की जाती है, जिसमे पूरी लावनी 'क' से 'ह' तक वर्णों पर निर्मित होती है। यह 'ककहरा' भी कभी सीधा और कभी उल्टा प्रयोग किया जाता है, जिसमे कभी 'क' से 'ह' तक कभी 'ह' से 'क' तक वर्णों पर पंक्तियाँ लिखी जाती है। कभी-कभी कुछ

लावनियो की रचना संख्यावाचक शब्दो को लेकर की जाती है, जिसमें संख्याओं के आधार पर गूढ एवं गम्भीर बातें कही जाती हैं। जैसे—पंचतत्त्व, दस अवतारें, पच्चीस प्रकृतियाँ आदि। कभी-कभी कुछ लावनियाँ मात्राहीन अक्षरो पर लिखी जाती है जिनमे केवल व्यजनो का ही प्रयोग होता है और जिन्हे 'अमात्र सनअत' के नाम से पुकारा जाता है। जैसे – 'लटत लट हट लट हट लक टल, लरत नटखट नटखट नत रल' आदि। ऐसे ही कुछ लावनियों की रचना 'वेनुकता सनअत' अथवा कुछ लावनियाँ 'नुकताचीन सनअत' मे लिखी जाती है। इनमे से 'वेनुकता सनअत' के अन्तर्गत ऐसे शब्द रखे जाते है, जिनके नीचे नुकते नही लगते और 'नुकताचीन सनअत' मे सभी शब्द नुकते वाले प्रयोग किए जाते हैं। कुछ लावनियाँ ऐसी 'सनअत' में भी लिखी जाती है, जिनमे एक शब्द दूसरे शब्द से शृखला या जंजीर के रूप में पिरोया हुआ होता है, ऐसी 'सनअत' को 'जजीर वन्द सनअत' के नाम से पुकारा जाता है। जैसे 'काया मे है जीव, जीव में रूप, रूप में छवि वृन्द, छवि मे ज्योति, ज्योति में आप रूप सच्चिदानन्द' आदि। कुछ लावनियाँ 'गतागत सनअत' में भी लिखी जाती है जिनमे एक ही पंक्ति उल्टी या सीधी किसी भी प्रकार पढी जाएं, वह ज्यो की त्यों रहती है। जैसे 'रक्षअ, कारक जाने का निज कर का अक्षर' आदि कुछ लावनियो की रचना 'हफ्त-जवान' अर्थात् सात भाषाओ मे भी की जाती है, जिसमे सात के अलावा अधिक भाषाओ के शब्द भी आ सकते हैं। ऐसे ही कतिपय लावनियाँ चित्र-काव्य-शैली मे भी रची जाती हैं।

इस प्रकार लावनी साहित्य का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि लावनी लोक-साहित्य की एक ऐसी विधा है, जिसमे सभी प्रकार के भावो, रसो एव विचारों का समावेश वडी गहनता एव गम्भीरता से होता है, जो लोकानुरजन की एक अत्यत प्रभावोत्पादक शैली है, जिसकी रचना के लिए उर्वर प्रतिभा एव नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना की आवश्यकता होती है जो किसी एक भाषा तक सीमित न रहकर विविध भाषाओं के सम्मिश्रण से रची जाती है, जिसमे ऐतिहासिक, पौराणिक, सास्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि घटनाओ एव विवरणो के साथ-साथ दार्शनिक विचारो एव समसामयिक घटनाओं का भी समावेश होता है, जो लोक-काव्य-शैली मे रची जाती है जिसके लिए पर्याप्त ज्ञान एवं योग्यता की आवश्यकता होती है, जो वडे-वडे गुरुओं एवं उस्तादो के द्वारा अत्यत मार्मिक ढग से रची जाती हैं तथा जिसमें जनसाधारण को प्रभावित करने एव उनका मनोरंजन करने की विलक्षण शक्ति होती है।

475, नई बस्ती
खुरजा (उ० प्र०)



√ राजस्थानी लोक–महाभारत

सुशीला गुप्त

राजस्थानी लोक-महाभारत गीत–परम्परा की एक सुदृढ कडी है : यह काव्य राजस्थान का एक गौरवशाली, महत्त्वपूर्ण गाथा–काव्य है। यह गद्य और पद्य की संयुक्त विधा मे गाया जाता है। इसको गाने वाले रामदेव जी के भक्त 'कामड़' तथा जसनाथ जी की शिष्य परम्परा के सिद्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये लोग रात्रि जागरण के अवसर पर अपने ढोल, नगारे, हारमोनियम, तन्दुरा आदि वाद्यो के साथ इसको बड़े ही मनोहर ढंग से गाते हैं। इनका प्रमुख उद्देश्य अपने आराध्य की अर्चना, वन्दना ही होता है। सर्वप्रथम प्रधान गायक समस्त वाद्यो के साथ 'कडी' गाना प्रारम्भ करता है। साथ ही दूसरे गायक भी स्वर मे स्वर मिलाकर गाना प्रारम्भ कर देते है। 'कड़ी' के गायन के पश्चात् गद्य भाग प्रारम्भ किया जाता है जिसे लोक-भाषा मे 'अरथाना' कहा जाता है। ,अरथाने' की प्रक्रिया प्रधान गायक ही करता है 'कडी' की समाप्ति पर हुकारिया हुंकारा देता है "भलो कैयो" "कैयां जाणीजै" प्रत्युत्तर मे प्रधान गायक कहता है– "भलो नाव महाराज रा, भलो है गोगो अर गुसांई हुंकारो देवै जिकै रो कैवणो हीज काई," "भली है आपणी राम छवा, थे जुगोजुग जीया" आदि।

यह इतना विशाल गाथा–काव्य है कि कौरवो और पाण्डवो के समग्र जीवन को चित्रवत् उपस्थित कर देता है। पाण्डवो का किस प्रकार कौरवो से झगडा हुआ और इस कठिन समय में उन्हे कहाँ-कहाँ से सहायता मिली, इसका विभिन्न रंगो के साथ लोक-कलाकारो ने अतीव सरस चित्र उपस्थित किया है।

महाभारत की भाँति लोक–गाथाकारो ने इस के 'डिवाड़ो' (पर्वो) की संख्या भी 18 रखी है। ये 'डिवाड' निम्नलिखित शीर्षको मे विभाजित किये गये हैं:—

1–	धरमधारणा—	(कौरव-पाण्डवो की वंशोत्पत्ति)
2–	भीया भारत—	(भीम का पराक्रम तथा पाण्डवों का वाल्यकाल)
3–	द्रौपदी पुराण—	(द्रौपदी का शक्ति रूप)
4–	सेत गेंडो—	(पाण्डवो का राजसूय यज्ञ)
5–	ऐलापत -	(अर्जुन–उलूपी विवाह प्रसंग)
6–	अहमनो—	(अभिमन्यु जन्म, विवाह, मृत्यु)

7– देसूटो— (पाण्डवो की वनवास कथा)
8– सरपंजर— (अर्जुन गर्व भजन)
9– कुमेर कथा— (सृष्टि की उत्पत्ति)
10– आवारस (दुर्वासा द्वारा पाण्डवो की धर्म–परीक्षा)
11– पाण्डवा रो परमारथ– (दुर्वासा द्वारा पाण्डवो से प्रश्नोत्तर)
12– पाण्डवा री गोठ— (वनवास कथा, पाण्डवों का श्रीकृष्ण से मिलन)
13– अहमने रो व्यावलो— (अभिमन्यु-निवाह प्रसंग)
14– कर्ण कथा— (कर्ण चरित्र)
15– विकट रूप – (कर्ण का देह–दान)
16– स्याव कर्ण घोड़ो— (अर्जुन का सूर्यलोक मे जाना तथा दानवो का वध करना)
17– धरमारो मायरो— (पाण्डवों का धर्म-वहिन के यहाँ भात भरना)
18– हर कथा— (श्रीकृष्ण महिमा)

उपर्युक्त 18 डिवाडो मे निवद्ध इस लोक-महाभारत का आख्यान सुदीर्घकाय है। शिष्ट प्रवन्ध-काव्यों की भाँति यह गाथा काव्य भी अपने कलेवर मे एक आदर्श को आवेष्टित किये हुए आगे बढता है। उस आदर्श की पूर्ति हेतु गाथा–काव्य के नायक को अनेक कष्टो का सामना करना पड़ता है और वह समस्त कष्टों व संकटो को पग-पग पर पार करता हुआ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। इस लोक–काव्य मे जीवन के प्रति बड़ी उदात्त दृष्टि रही है। इस के विभिन्न पात्र अपनी–अपनी प्रवृत्तियो के प्रतिनिधि माने जा सकते है।

भारतीय जीवन पद्धति एक विशिष्ट जीवन-पद्धति है, जिसका ताना–बाना ही धर्म से बुना हुआ है। धर्मानुमोदित विचार हमे सहज ग्राह्य होते हैं। धर्मपरक कार्यो को ही हमने पुण्य और धर्म–विरोधी कार्य-कलापो को पाप माना है। किसी प्राणी की हत्या, तपस्वी ऋषियो को दी जाने वाली यातना और दूसरो के प्रति अशिष्ट व्यवहार करने कों हमने सदैव घृणित माना है इन त्याज्य कार्यों को करने वाले व्यक्ति लोक-साहित्य मे अनेक स्थानो पर शापित देखे गये हैं। यह काव्य भी ऐसे प्रसगो से भरा पडा है।

आलोच्य काव्य का निर्माण एव गायन–क्षेत्र राजस्थान है अत राजस्थान के निवासियो का जीवन के प्रति कैसा दृष्टिकोण और आदर्श रहा है, इस का सुन्दर, सरस विवेचन इस मे हुआ है। वीर भोग्या राजस्थान की वसुन्धरा पर लोकमहाभारत का गायन इस की प्रकृति के सहज अनुकूल है। जिस तरह यहाँ का योद्धा युद्ध को मगल पर्व और मरण को मगल त्यौहार मानता है, उसी प्रकार लोकमहाभारत का 'अहमनो' (अभिमन्यु) ऐसे अवसरो की प्रतीक्षा करता हुआ प्रतीत होता है। वह विवाह मण्डप से उठकर कहता है, "जावा भारत के माय, दूध उजाला म्हाकी मांय को" और "बरछ्या खुलैला सोवन मोड़, सैला की अणियो सू टूटैला काकण डोरडा" तो

समस्त राजस्थान का गौरव मुखरित हो उठता है। इसीलिए तो सम्भवत राजस्थान का कवि माता के माध्यम से पुत्र को पालने मे ही यह गीत सुनाता है—

इला न देणी आपणी, हालरिया हुलराय।
पूत सिखावै पालणै, मरण बडाई माय ॥[1]

राजस्थान की नारी पति के खेत रह जाने पर सती होना ही नही चाहती अपितु अपने कुल गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिए समर-भूमि मे अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो रिपुदल का दुर्गा की भाँति सहार भी करती है।[2] ऐसी वीरांगनाओ के चरित-आख्यानों से समलकृत राजस्थान सदा-सर्वदा से सम्पूजित और गौरव-गरिमा-मय रहा है। जब हम अभिमन्यु की पत्नी के बोल सुनते है तो राजस्थान की वीर क्षत्राणी हमे उसके पीछे स्पष्ट बोलती हुई दिखाई देती है—

'अबे सायबा जाओ भारत के माय, भला ही दूध उजालो
थाकी माय को। भलां ही मरज्यो भारत के माय, दे डको
सती हुयस्यू दुनिया मे, सती हुयज्याऊ थाकै लार,
सरगा सू पालकी आवै दोन्यां नै। सायबा भाग र पाछो
मनी आय। सहेल्या हसैली म्हारा सायबा ॥

जीवन के प्रति इन आदर्शों को उद्घाटित करने वाला यह गाथा काव्य हमारी प्राचीन सांस्कृतिक मान्यताओ की अनुपम धरोहर प्रतीत होता है। सकट मे प्रत्येक का साथ देना, सभी बन्धुओ का मिलकर रहना, माता-पिता और ऋषि–मुनियो की आज्ञा का पालन करना, आतिथ्य-सत्कार, परोपकारादि के उल्लेखो से यह लोक–काव्य आपूरित है। अक्षर-ज्ञान की दृष्टि से शून्य लोक-मानस को लोक-जीवन में प्रयुक्त इन तत्वो ने बहुत कुछ शिक्षित किया है। यह शिक्षा उसने हृदय से ग्रहण की है अतः उसकी छाप गहरी और अमिट है। जीवन मे दानवीरता, करुणा भाव आदि का भी कम महत्त्व नही है। इस दृष्टि से कर्ण, अर्जुन और कृष्ण का चरित्र विशेष रूप से अनुकरणीय है। दानवीर कर्ण स्वर्णदान ही नही करता अपितु देहदान करने से भी पीछे नही हटता। उसकी पत्नी भी धर्मपरायणता और दानवीरता की साक्षात् प्रतिमा है—

"तन मन सकल जीव नै प्यारो
जे कोई जीव हमारो मागै, उण नै सौप दू सारो।"

मरणासन्न कर्ण समरभूमि मे पड़ा है। भगवान एक दीन-हीन ब्राह्मण के भेष मे अवतरित होकर उससे स्वर्ण हेतु याचना करते हैं। ऐसी दशा में कर्ण के पास रहा ही क्या था? सहसा उसे अपने स्वर्ण–जडित दाँत का स्मरण हो आता है और स्वय हाथ में पास पड़े पत्थर को उठाकर दाँत तोड़ने लगता है। धन्य हैं ऐसे दानवीर

---

1. वीर सतसई, सूर्यमल मिश्रण, दोहा सख्या 234
2. "देद्यो म्हनै धनसकबाण, भालो तो देद्यो बीजल सारको।"
अहमनो रो ब्यावलो, कड़ी सख्या 75

जिन्होने अन्तिम क्षण तक टेक को निभाया।

जीवन में आशा-निराशा, सुख-दुःख सभी आते हैं। ये संकट मनुष्य को परखने की कसौटियाँ हैं। इन पर खरा उतरने वाला मनुष्य अमर हो जाता है। तभी तो लोक कलाकारों ने अभिमन्यु के लिए कहा है.—

"राज वालुड़ा कर दो नी धरती मे अमर नांव,
फूल कुम्हलावै रेवै वासना"

सकट के समय नारी पुरुष का सबल होती है। वह हर सकट मे छाया की भाँति पुरुष के साथ रहना चाहती है। लोक-महाभारत में माता कुन्ती, द्रौपदी, अभिमन्यु की पत्नी इसी प्रकार के चरित्र हैं, जो अपने-अपने धर्म का निर्वाह करते हुए अनेक आपदाओ को सहज रूप से पार करते हैं। अभिमन्यु की पत्नी युद्ध में पति के साथ जाने हेतु कितने मार्मिक शब्दो मे अनुनय करती है—

"सायवा म्हारा चाल्या भारत कै माय, सागै वनड़ी नै वनड़ा थे
ले चलो। पर्डैली तावडैली धूप, ऊँची असमाना हू वंगूला वादली।
सुणज्यो म्हारा समचार, ओडी वेल्या में घोड़ो डावस्यू। पौरो
देवूली माझल रात, आप भारत मे भलांई जूझज्यो।"

मनुष्य तो क्या नागकन्या ऐलापत (उलूपी) भी पतिव्रत धर्म का पूर्ण पालन करती है। जव पद्मा नागिन (ऐलापत की माँ) अर्जुन को मारने पर उद्यत हो जाती है तो ऐलापत कह उठती है—

'कैवै ऐलापत सुणलै नागवन्ती मांय, सुण लै अरज हमारी म्हारै पति पर था वुरी विचारी (तो तू) वुढियै डैण नै ही क्यू नही खायाई।"

सुफल की कामना जीवन का सहज स्वभाव है। पुण्यार्जन के विना जीवन सार्थक नही वन सकता। इसलिए जीवन मे गगा स्नान, धर्म, दान, यज्ञ, श्राद्ध, दया, क्षमा आदि का महत्त्व विस्तृत रूप से वर्णित किया गया है।

लोक-महाभारत मे जीवन के प्रति वडी उदात्त भावना रही हे। लोक गाथा-कारो ने जीवन मे देखा, परखा और निरखा है, उसे निम्नलिखित विन्दुओ के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है —

जन्म व मृत्युः— ससार की घटनाओ मे मृत्यु सर्वापेक्षा सत्य है। जो जन्म लेगा, उसकी मृत्यु भी अवश्य होगी। प्राणियो का जीवन अनित्य है। लोक-महाभारत मे ऐसे अनेक दृष्टान्त भरे पडे है, जिनमे प्राणो का मोह किसी भी चरित्र को अपने पथ से विचलित नही करता। वाल योद्धा अभिमन्यु युद्ध के नगाड़े वजते ही नवपरि-णीता पत्नी को मण्डप मे छोडकर युद्ध क्षेत्र की ओर प्रयाण करता है। उस समय उसे एक क्षण का विलम्व भी सह्य नहीं। वह नवोढा पत्नी के रोकने के आग्रह पर कह उठता है —

"वाप की वनड़ी म्हारी सुण लै समचार
थांकी फौजां सै वनड़ै का कारज तहीं सरै।"

अर्जुन माता कुन्ती तथा द्रौपदी के मना करने पर भी वैरियो के मध्य उस घोडे पर सवार होकर जाने का सकल्प करता है, जो चढने वाले को जीवित लौटाकर नही लाता—

"अर्जुन कैवै माता वंध्योडी कमरया म्हारी नही खुलै,
धरती नही झेलै भार । बिना घोड़ै आया विना तो छतर्‌या
का अै ही नेम है कै चावै मरो चावै जीयो ।"

जीवन की क्षणभंगुरता:— जीवन की नश्वरता की ओर भी लोकगाथा-कारो का ध्यान आकृष्ट हुआ है । यह शरीर कच्चे मिट्टी के वर्तन सदृश है । चाहे जव टूट सकता है । तभी तो कर्ण की पत्नी कह उठती है — "कै आ देह तो माटी रो काचो भाडो है, अंतै—पतै तो फूटसी" इन्ही भावों से प्रेरित होकर कर्ण कोढ़ी ब्राह्मण को आठ दिन के लिए अपनी देह उधार दे देता है ।

परम्परानुगत भाग्यवादी दृष्टिकोण: मनुष्य का भाग्य विधाता के अधीन है । विधाता के लिखे लेख को कोई नही मिटा सकता । उसने मानव के भाग्य मे जो लिख दिया वह होकर रहेगा । कर्मों का फल तो भोगना ही पडेगा । लोकसाहित्य मे कर्म और भाग्य एक ही अर्थ के द्योतक है । आलोच्य काव्य मे एक ब्राह्मण का धोवी की कन्या से विवाह होना "बेमाता" द्वारा उसके भाग्य में लिख दिया है । वह ब्राह्मण उस धोवी की कन्या को मारकर गगा मे प्रवाहित कर देता है परन्तु फिर भी वह मरती नही है और उसका विवाह उसी ब्राह्मण से होता है । ब्राह्मण क्रोधित स्वर मे कहता है— "अट वालण रो काम अैहड़ो राड नै भोलायो है जिका विना सोच्चा विचार्‌या ऊधं सूवै लीकट्‌यां काढ़ देव अर उवै लीकट्‌या रो फल मानवी नै भोगणो पड़ै ।"

करनी सम्बन्धी दृष्टिकोण— मनुष्य को अपनी करनी का फल भोगना पड़ता है । कोई किसी को न मारता है और न स्वर्ग—नरक ही देता है । मानव जैसी करनी करता है उसे उसी के अनुरूप स्वर्ग—नरक गामी होना पड़ता है । तभी तो पाडु मृगी-वध के उपरान्त नरक की भीषण यातना सहन करता है । दुर्योधन के मर्मवेधी शब्द पांण्डवो और माता कुन्ती को तीर के समान लगे, जव उसने कहा— तुम लोग चाहे दरवार जोड़ो या ऐरावत दरवाजे पर वधावो, तुम्हारा वाप तो नरक की यातना भोग रहा है । कुन्ती ने रोते-रोते भगवान कृष्ण से सव स्थिति वता दी । भगवान कृष्ण ने कहा

"कुता दोष किणा ही नै दीजै, कुण वेटो कुण वाप
किरमाल रिखेसर नै मार्‌यो, उण रो लागो सराप ।।

देह नश्वर, आत्मा अनश्वर: - इस शाश्वत सत्य को लोकगाथाकारो ने भी स्वीकारा है । इस देह से जितना परोपकार और दान-पुण्य हो सके, करना चाहिये । मनुष्य को चाहे कितना कष्ट उठाना पड़े, परन्तु यदि इस देह से किसी का काम सरता हो तो करना चाहिये ।

नारी जीवन के प्रति दृष्टिकोण:— नारी के लिए माता, पिता, भाई, बन्धुओ आदि से पति का स्थान सर्वोपरि है। वह जिसे एक बार वरण कर लेती है वही उसका प्राणाधार और प्राणेश्वर है। अर्जुन की "पीवणै सर्प" द्वारा मृत्यु हो जाती हे। ऐलापत (अर्जुन की पत्नी) उसे जीवित करने मे अपनी पूरी शक्ति लगा देती है और अन्त मे सफल भी हो जाती है। दूसरा उदाहरण हुरमा (हिडिम्वा) का है जो भीम के लिए अपने भाई "कमीरा" तक का वध करा देती है।

नीति तत्त्वों का जीवन में महत्त्व:— आलोच्य काव्य मे नीति तत्त्व का प्रवल समर्थन है। ऐसा प्रतिभासित होता है कि मानो इसका उद्भव ही समाज में नैतिक, धार्मिक आचार-विचारों की दृष्टि मे रखकर किया गया है। यह काव्य समय की सुदीर्घ परिधि को पार करता हुआ आज भी जनमानस मे सद्वृत्तियो का प्रचार-प्रसार कर रहा है। इस का आदर्श कर्त्तव्य--पथ से भटक जाने वाले मानव का पथ-प्रदर्शन करना है। सद्वृत्तियो से आवेष्टित और असद्वृत्तियों से ग्रसित शुभाशुभ परिणाम यहाँ स्पष्ट है। पाडु अपनी असद्वृत्ति के फलस्वरूप असमय में ही मृत्यु को वरण करता है। इसी प्रकार दुर्योधन और धृतराष्ट्र अनैतिक कार्यों के द्वारा सपरिवार नष्ट हो जाते है। दुर्वासा मुनि दुर्योधन को समझाते हुए कहते हैं:—

"केवै दुर्वासा सुण दुरजोधन, चौरी कुबुध हररी वरजन
मात-पिता गुरु वधु रा डोही, ज्यारा काज सरे ना कोई
कैरवा मन मे अणथ वरोला, भीम करण कई भगत मरैला
कूडा कैरवां थे डूब मरोला, सत रा पाडु हर रै साथ तिरैला।"

लोक—महाभारत असत्य पर सत्य, अधर्म पर धर्म, भाग्यवाद पर पुरुषार्थ के विजय की कहानी है। भले ही यह ऐतिहासिकता की कसौटी पर खरा न उतरता हो परन्तु भावात्मक सत्य मे विश्वास करने वाली सामान्य जनता का हृदय लोक-महाभारत मे सदा से रसमग्न होता रहा है और भविष्य मे भी होता रहेगा। युग-युग की असख्य जनता की हृदय की भावुकता, करुणा, विश्वासों की अक्षय शक्ति ही लोक-महाभारत की जीवनी-शक्ति है। जब तक यह प्राणवत्ता बनी रहेगी, तब तक यह लोक—गाथा अमर रहेगी।

—भारतीय विद्या मन्दिर
शोध प्रतिष्ठान
वीकानेर, 334001



———

कुमाऊँनी लोकगाथा के पारम्परिक गायक

प्रयाग जोशी

लोकगाथाओं के पारम्परिक गायकों को समझे बिना लोकगाथा की समझ अधूरी रहती है। लोकगाथा एक रचना नहीं है अपितु प्रस्तुति है। इसके प्रस्तोताओं की अपनी खानदानी परंपराएँ है जिन्हें उनके वशज विरासत के बतौर प्राप्त करते जाते हैं। कुमाऊँ गढवाल मे उसकी रक्षक जातियाँ ये है:—

1. वाजित्री:— ये वाजगी या ढोली नाम से भी जानी जाती हैं। ये लोक वाद्यों-ढोल, नगाड़ा, दमामा, तुरी, रणसिंगा बजाने वाली जातियाँ हैं। राजस्थानी ढोलियो और कुमाऊँनी ढोलियो मे जाति का ही नही, व्यवसाय का भी साम्य है। रवाँई व जौंनसार के अंचलो मे इन्हे 'झुमर्या' कहा जाता है। यह अछूत जाति है। असवर्णों में भी ऊँच-नीच का जो जातीय विभाजन है उसमे ये सबसे नीची जाति मे आते है। सबसे नीचा माने जाने पर भी यह समस्त वर्णों व जातियो का प्रिय व्यक्ति होता है।

मनुष्य के पैदा होने की शुभ घड़ियो से लेकर मृत्यु के शोकसंतप्त क्षणों तक हर छोटे–बडे काम मे यह सदा समूह के साथ रहता है। किसी घर मे पुत्रोत्सव होने पर वाजित्री बढाई (बधाई) का बाजा बजाने उसके द्वार पर पहुँच जाता है। दमामे की ध्वनि मे वह अपनी प्रसन्नता का इजहार करता है।

वाजगी प्रतिदिन सन्ध्या के समय सोने से पूर्व 'नौमति' बजाकर समूचे गाँव को सोने के समय की सूचना देता है। प्रात. काल ब्राह्म मुहूर्त मे 'परभात' ध्वनि बजाकर जागरण के समय की सूचना देता है। अमावस, सक्रान्ति, एकादशी आदि पर्वों–उत्सवो की सूचना वह नगाड़ा बजाकर देता है।

धानों की रोपाई के दिनो मे प्रात: से सन्ध्या तक गले मे ढोल लटका कर वाजगी खेतों की परिक्रमा करते है। धानो की विनौड़ो (रोपाई के लिए तैयार किए गए पौधो से भरी क्यारी) में जाकर सिर नमन करता है। अन्न के पौधो की यह परिक्रमा वाजित्रो के लिए उतना ही भावुक कर्त्तव्य है जितना कि हलवाहो का विनौड़ी के खेत मे मेहल की टहनी रोपने का जो कि भादो की संक्रान्ति को सम्पन्न होता है।

वाजगी लोग चैत के महीने मे घर-घर घूम कर ऋतुटण या चैतीगाथाओ का गायन करते है। इनकी स्त्रियाँ नाचती है। बसन्त के आगमन की मुबारकवाद लोगों

तक पहुंचाने के वदले इन्हे इनका हिस्सा दिया जाता हे जिसे 'चैंती पसारा' कहने है। दीपावली के दिनों कूटे जाने वाले च्यूडो पर बाजगी का हिस्सा माना जाता है। इसे प्राप्त करने के लिए वह प्रत्येक घर की देहरी पर उपस्थित होता हे।

ब्याह-बारातो मे ये अगुवानी करते है। नवरात्रियो मे देव-यात्राओ का भी नेतृत्व करते है और रात्रियो मे 'झोड़ा गाथाएँ' गाते हे। गावो मे प्राय बाजिगी दरजियो का काम भी करते है। इसी कारण इन्हे 'औजी' कहा जाता हे और विवाह के गीतो मे ब्राह्मण–पुरोहितो, दीपक–आरती, अतिथि–सम्बन्धियों के साथ याद किया जाता है। ढ़ाई की मण्डेई में इसके ढोल को स्थापना दी जाती है और अक्षत–रोली–फूलों से उसकी पूजा होती है।[1] रवाँई के झुमर्या, किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर रणसिंगे और ढोल-दमामे के साथ अन्त्येष्टि मे उपस्थित होते है। जनाजे के आगे-आगे बाजा बजाते हुए वे श्मशान तक पहुँचते है और चिता के पास खडे होकर मृत-व्यक्ति के लिए शोकपूर्ण गीत रचते है। स्वर्ग जाने वाले प्राणी! अपने प्रिय खेतों की सीमाओ की ओर फिर कभी लौटकर आना और हमारे द्वारा चौराहो पर छोड़े गए आटे के पिण्डों को खाते जाना[2]।

2. **कोलटा:—** इस जाति को कोली या डोम नामो से भी जाना जाता है। जैसा कि कोल शब्द ही उसके पुरातनपन की ओर सकेत करता है, ये हिमालय की आदिम जातियो मे सम्मिलित है। अछूतो मे भी यह जाति इतनी हीन मानी जाती हे कि दूसरे अछूत इनके हाथ का पानी नही पीते।

ये लोग व्याह की डाँडियाँ बोकते है। गाँव के मृत पशुओ को वस्ती से दूर पहुँचाते है। खेतो की रखवाली करते है। रिंगाले की टोकरियाँ बुनते है। गिल्ले, कंडी चटाइयो की बुनाई करते है।

इनकी स्त्रियाँ परम्परा से ग्रामीण धाय का काम करती है और 'सुएटी' कहलाती है। जन्मोत्सव सम्वन्धी लोक-गीतो मे औजी के पुत्र के साथ 'सुएरी' का स्मरण भी किया जाता है। कोलटा स्त्रियाँ ही मगल्यारिन स्त्रियाँ है जो कर्म–काण्डो मे 'मंगल-गीत' गाती है। शास्त्रीय संस्कार विधानो के साथ 'कर्मकाण्ड' के गीत चलते हैं परन्तु लोक-जीवन की जो धडकन कोलटा स्त्री के मांगल-गीतो मे है,

---

1. न्यूँतेण लेगी ले वामीण की पोथी
न्यूँनेण लेगी ले दिय न दियाऊी
न्यूँतेण लेगी ले पोन–पाऊँण
न्यूँतेण लेगी ले आवजी कु वेटा
न्यूँतेण लेगी ले दाईं की मण्डेई
न्यूँतेण लेगी ले चोह न मण्डेई
मानधा वाजो ले आनन्द वधाई॥

'न्यूँतेण लेई ले' शीर्षक विवाह गीत।

2. उरखी पुंगडी चे जा मियाँ
सत्तू डिंडी धैं जा मियाँ॥

वह कर्मकाण्ड के गीतों मे नही।

यातायात और सचार साधनों से रहित युगो मे कोलटा पुरुषो को एक स्थान से दूसरे स्थान तक सदेश भेजने के लिए नियुक्त किया जाता था। पर्व-उत्सवो और संस्कारो के अवसरो पर इनकी बडी पूछ होती थी।

3. दास:— यह भी अछूत जाति है। इस जाति के लोग अपने को निर्गुण सन्तो की परम्परा से जोडते है और 'रैदास' को अपना पुरखा बताते है। इनका कुल देवता 'निरकार' है। रवाँई के दास–हरिजनो मे निरकार की पूजा के दिन अपने छप्पर मे आग लगा देने की अनौखी परम्परा है। यह रिवाज निर्गुणियो के घर बार फूंक कर निराकार के पथ पर अग्रसर होने की शुरुआत को प्रकट करता है। ऐसा भी माना जाता है कि यह परम्परा कवीरपथियो से इनको मिली है। अपनी झोपड़ी मे आग लगाने के कृत्य के पीछे 'जो घर फूंके आपना चले हमारे साथ' को चरितार्थ ही नही कार्यान्वित भी किया जाता है।

निरकार की पूजा मे कवीरदास का जागर गाया जाता है। इस जागर गाथा मे सृष्टि की पुराकथा वर्णित है जिसमे सृष्टि की उत्पत्ति मे भगवान शिव के योगदान की चर्चा है। इसी गाथा में गरुड–गरुड़ी द्वारा सृष्टि के निर्माण की कथा भी है। इसी मे रैदास का प्रसग आया है।

द्वाराहाट और पाली पछाऊँ के दास अपने को कत्यूरी राजवश की चारण परम्परा से जोड़ते है। अपने पुरखों को वे कत्यूरी राजाओ का गुरु भी मानते है लेकिन यह 'गुरुडम' किस ढग का था, स्पष्ट नही है। कत्यूरी वशावली मे अजयदास, विजयदास, कालूदास, करमणीदास, विणदास, रैदास, खैरीदास और धरमदास के नामो के उल्लेख है। कत्यूरी वशावली वस्तुत: दास लोगो की अपनी वशावली भी है। इसके लिखित रूप नही मिलते। जो कुछ कहा गया है गाथा की तरह ही और गाथावत् हैं।

मानव पिडं पर देवत्व का स्फुरण इसी जाति के लोग कराते हैं। ढोल वजाना, रणभूमि मे भेरी का शंखनाद करना और दैवत्व स्फुरण कराना इनके प्रसिद्ध व्यवसाय थे। आज भी तत्र-मत्र-टोना-टोटको के लिए लोग दासो की शरण में जाते है। धरमियांदास तो इस जाति का प्रसिद्ध व्यक्ति रहा। उसके नाम से गायको-वादको की एक गद्दी हो गई। जिस प्रकार 'पुराण वाचक' पडित की गद्दी को 'व्यास गद्दी' कहा जाता है उसी प्रकार देव कार्य के लिए 'देवरौटी'[1] पर आसीन गाथा गायक को चाहे वह दास जाति का न भी हो तो धरमियाँ ही कहा जाता है। जिस समय मानव शरीर मे देवत्त्व अवतरित होता है ; गाथा गायक 'दास' के शरीर मे धरमियाँ अवतरण लेता है, यह मान्यता है।

4. हुड़कियाः— यह जाति अलग–अलग अञ्चलो मे वेड़ा, वाद्दी, मिरासी आदि नामो से जानी जाती है। हुडका नामक वाद्य मे इतिहास गाथाएँ (पँवाडे)

1. देव मदिर का चहार दीवारी क भीतर का क्षेत्र।

गाने के कारण ये हुड़किए नाम से प्रसिद्ध हो गए। यह भी अछूत जाति है और विशुद्ध रूप से गांधर्व-जीवी है। गाना-बजाना करके ही ये पेट भरते है।

हुड़किया पुरुष कुछ राग-रागनियो का जानकार तो होता ही है। हारमोनियम, तबला, ढोलक और सारंगी जैसे वाद्यो को बजा सकता है। ये हुड़के मे पँवाडे गाते है। इनकी स्त्रियाँ पुरुष द्वारा बोले गए टेक छन्दो पर स्वर मिलाती है और नाचती है। एक किस्म से ये गीतों के भावो को आगिक अभिनय प्रदान करती है।

हुड़किया स्त्रियो का यह आंगिक अभिनय एव नृत्य हल्की महफिलो का रूप धारण कर लेता है। शादी-व्याह, होली-दीपावली और पर्वो–कौतिको मे ये महफिले जुटती है। हुड़किए नाच–गाना करके घर–घर भीख भी माँगते है।

ग्रीष्म ऋतु मे हिमालय के घने जगलो मे जब ठेके पर कटान शुरू होते है और ठेकेदारो के साथ वन–श्रमिक जगलो मे मरने शुरू होते हैं तो हुड़किए भी वनों की ओर चल पड़ते है। टोंस-यमुना और पिंडर के वन प्रभागो मे गूजर पशुचारको का चलना फिरना भी आरम्भ हो जाता है। उनके बीच भी गाना बजाना चलता है। इस जाति की घुमन्तू प्रवृत्ति और नाच-गान की आदतो ने इन्हे अस्थिर जीवन से जोड़ दिया है। युगो से अपने ही ढग से निर्मित वातावरण मे पले होने और दूसरो को ही खुश करने के लिए अपनी बुद्धि और कला का प्रयोग करने की प्रवृत्ति ने इनमे सस्ती मनोरजनवृत्ति पैदा कर दी है। व्यावसायिकता का यह रूप विशेषकर यदि खूबसूरत औरतों के ऊपर निर्भर हो जाय तो उसकी चरम परिणति स्वत समझी जा सकती है।

5. **भाट:**— यह जाति सवर्ण भी है असवर्ण भी, परन्तु अछूत भाट ही पेशेवर गायक है इन्हे राईभाट या रैभाट भी कहा जाता है। जैसा कि नाम से ही प्रकट है ये कभी राई भाट (राजा के चारण) रहे होंगे। इसीलिए इनमे बहुतो को पुराने सामन्तो की वशावलियाँ याद है। ये राग रागनियो के जानकार तो शायद ही होते हैं परन्तुढोलकी–खजड़ी बजा लेते है। अन्यथा खड़–खड़ी भाषा मे सार्थक–निरर्थक तुक जोड़कर बक-बक करते जाते हैं और घर-घर भीख माँगते हैं।

बद्री-केदारनाथ की स्तुतियाँ कहकर भी ये अपना हल कर लेते है। इनकी भाषा और बोलने का लहजा पहेली-बुझौवल के ढर्रे का होता है। भाषा आधी हिन्दुस्तानी आधी पहाड़ी होती है। भाटो की वंशावलियों की भाषा और अवदान गाथाओ या पवाड़ों की भाषाओं के पार्थक्य को समझना कठिन नहीं है। बद्रीकेदारनाथ की स्तुति मे भाटों द्वारा प्रयुक्त भाषा रूप के नमूने यो है—

परथम बदरी परथम शिव केदार
जो ध्यावै उतरै पार
चारो तरफ हिमाला सोहै
जय बदरी कि जय केदार
देश–देश के जात्री आवें

लौंग सुपारी भेट चढावे
रावल दक्खिनी महापुजारी
हाथे घण्टी गल मे कण्ठी
सिर माथे मुकुट माला सौहै
माथा तो झलमल करै
केस मलमल करै
घांनून की करैं घनकार
निरगुन की करे निरंकार
जैं जैं जैं की जयकेदार ।।

आज राज-दरबारो से इस जाति के सम्बन्ध की बातें आईं-गईं हो गईं हैं। फिर भी सभावना बनी हुई है कि भाटो के घरो में चारण परम्परा का कुछ न कुछ लिखित-अलिखित साहित्य जरूर होगा।

6. **नायकः**— यह सवर्णों मे सम्मिलित की जाने वाली उस पुरातन जाति की एक उपशाखा है जिसे नृवंश मे खसिया खश नाम से जाना जाता रहा है। इस जाति के वंशधर गढवाल मे "खडवाल्" नाम से भी जाने जाते है।

यह जाति मुख्यतः खिलिपिती (चम्पावत), कटारमल तथा गरुड़ वैजनाथ (कत्यूर), रामगढ (नैनीताल) तथा चौपरका (पिठौरागढ) मे निवास करती है। मध्यकाल से लेकर वर्तमान सदी के पूर्वार्द्ध तक इस जाति ने कुमाऊँ को रूपाजीवाओं के लिए विख्यात कर दिया। उनको इस व्यवसाय से स्व० गोविन्द बल्लभ पत के मुख्य मंत्रित्व काल में पारित हुए "नायक बालिका संरक्षण एक्ट" ने मुक्ति दी।

इस जाति में प्रचलित रिवाजों के अनुसार घर में उत्पन्न प्रथम कन्या देव-मंदिर मे अर्पित की जाती थी। इस देवदासी को कुमाऊँ मे "देवचेली" कहा जाता था। भगवान के प्रति समर्पण से शुरू हुई यह रस्म देह के व्यापार का स्वरूप ग्रहण करती; यह स्वाभाविक था। इस प्रथा को कन्या विक्रय का मच बनने मे देर नही लगी। एक ऐसे युग के अवशेष भी कुमाऊँ मे उपलब्ध हैं जबकि कुछ स्थान कन्या-विक्रय-स्थल के रूप मे ऐतिहासिक ख्याति के हकदार बने। "राणीहट" के ऐसे ही एक मेले की याद अभी भी बुजुर्गों की जुबानों से सुनी जाती है। इस प्रकार की विक्री से प्राप्त रकम मे पिता से लेकर मामा तक अपना हिस्सा पाते थे। मामा को दिया जाने वाला भाग "मामा झोली" या "मामा दान" के नाम से जाना जाता रहा।

रजवाड़ो के युगो तक आते-आते रूप-सौन्दर्य और कलाकारिता के मोल से इनकी ऊँची कीमते मिलने लगी। बड़े-बडे सामन्तों के दरबारो मे पहुँची ये युवतियाँ "खवासिनें" कही जाती थी जहाँ इनकी पहली "घूंघट उठाई" या "नथ उतराई" की कीमत सहस्रो रुपये होती थी। कोठो और दरबारो मे जाकर इनमे बहुतो ने नृत्य-गीत और दूसरी कलाकारिताओं मे ऊँची महारते भी हासिल की।

इन राष्ट्रीय प्रसिद्धियो के अलावा कुमाऊँ के जनपदो मे नायक लोक-जागर-

गाथाओं के गायक भी रहे है। नायको की स्त्रियां नाचने का काम करतीं थीं। आज इनके नाचने का काम समाप्त हो गया है। देह के धन्धे भी बंद हो गए है परन्तु लोक-गाथाओ का गायन इनके द्वारा अभी भी होता है।

उपर्युक्त जातियों के अलावा 'ओली' जाति का सम्बन्ध भी गाथा-परंपराओं से जुड़ा हुआ है। यह सवर्ण जाति है। 'ओली' टोटको की मदद से ओलावृष्टि को रोकते हैं। अवर्षण के समय ये मेघ की पूजा करते है। इस जाति के द्वारा अपनाए जाने वाले टोटके-अनुष्ठानो पर तान्त्रिक परम्पराओ के प्रभाव स्पष्ट है। ओली के अतिरिक्त गारुडी-गन्तुओ और झाड़-फूंक एव रखवाली करने वाले ओझाओ का भी भी लोक गाथाओ की परिपाटियो के सरक्षण मे योगदान रहा है। गारुडी विशेषज्ञ किसी विशिष्ट जाति से सम्बन्धित नही हैं। ये काम ज्योतिषी-ब्राह्मण, जगरिये-दास और ओलियो द्वारा सम्पादित होते हैं और जानपद वैद्यको द्वारा भी।

—हिन्दी-विभाग
फीरोज गांधी कालेज,
रायबरेली (उ० प्र०)



निषाद बाँसुरी से— भोजपुरी लोकगीत

गगा मैंया

कोई जे सोवेला रन वन, कोई जे वेइलिया वनें हो।
कोई जे सोवेला बलुआ क रतवा, त तोहरे सरन धइले हो।

गगा मैंया,

कोई अरण्य वन में सोता है। कोई सोता है वेला वन में
कोई सोता है बालू रेत मे तुम्हारी शरण मे आकर।

गगा मैंया,

राजा जे सोवेला रन वन, रानी वेइलिया बने हो।
मलहा त सोवेला बालू क रेतवा त तोहरे सरन धइले हो।

ओ माँ,

राजा तो रणभूमि मे शिविर में सोता है, रानी महँमहँ सुवासित बेला वन मे सोती है, पर मै दीन निषाद तुम्हारे तट की बालुकामयी रेती पर सोता हूँ, और तुम्हारे बल पर निर्भर रहता हूँ।

हिमाचली जन्म-गीत

गौतम शर्मा 'व्यथित'

हिमाचली लोकगीतों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(क) संस्कार गीत (ख) व्रत, त्यौहार-पूजा गीत,

(ग) सामाजिक गीत (घ) स्वांग अथवा लोकनाट्यों के गीत

(ङ) जीवन-दर्शन सम्बन्धी गीत, (च) प्राकृतिक सौंदर्य सम्बन्धी गीत,

(छ) प्रेम गीत, (ज) श्रम गीत,

(झ) हास्य तथा खेल गीत, (ञ) लोरियाँ।

शैली की दृष्टि से इन्हे सूहढ़ियाँ, बधाइयाँ (सोहर) सोयलडे, सुहाग, सेहरे, बधावे, पक्खड़ू, अल्हेणिया, छिंझोटियाँ, छिंजे, फाटेहड़ियाँ, सुकरात, लोका, लायण, भाखां, गंगी, झूरी, मोहणा आदि नामो से लोकप्रियता मिली है। हिमाचली लोक-मानस के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में इनका अध्ययन महत्त्वपूर्ण ठहरता है।

सस्कार गीतो के अन्तर्गत जन्म, नामकरण, अन्नप्राशन, मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह, मृत्यु आदि से सम्बधित गीत आते है। हिमाचल के समतलीय क्षेत्रो अथवा सुजातीय वर्गों मे षोडश सस्कारो का न्यूनाधिक स्वरूप विधमान है। कुछेक सस्कार आनुष्ठानिक रूप मे ही प्रचलित हैं। अधिकांश संस्कार लोकगीतो की मधुर व्याख्या मे भी परंपरित हैं। इनमे वैदिक, लौकिक परम्परा प्रभाव के अतिरिक्त वैष्णव-परंपरा का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। यहाँ केवल जन्मगीतो की विवेचना प्रस्तुत है।

जन्मगीतो को यहाँ सूहढियाँ, बधाइयाँ, काले महीने, सोयलडे नामो से जाना जाता है। अर्थात्. —

1— सूहढियाँ— गर्भाधान से प्रसव तक के गीत।

2— भिहाइयाँ—पुत्र जन्म पर गाए जाने वाले गीत।

3— काले महीने।

4— फुलझड़ियाँ या बधाइयाँ— बधाई गीत।

5— लोरिया।

सूहढियो (गर्भाधान के गीत) मे स्त्री की गर्भावस्था की मनस्थितियो, खान पान की रुचियो, उसकी शारीरिक स्थितियो, चित्तवृत्ति आदि मे अनायासिक परिवर्तन सम्बन्धी भाव मनोवैज्ञानिक एव शालीन ढग से व्यञ्जित हुए मिलते है। एक गीत का हिन्दी रूपातर देखिए —

पहली सूहड़ी (मास) मे ओठ सूखने लगे, मुख पीला पड़ गया,
दूसरी सूहड़ी में चरूए (चावल विशेप) का भात नही भाता,
तीसरी सूहड़ी में एड़ियो में रंगत आने लगी,
चौथी सूहड़ी मे स्तनो पर विशेष रगत छाने लगी,
पाँचवी सूहडी मे खट्टा खाने को मन करने लगा ।[1]

लोकनारी स्वभाव से लज्जाशीला तथा संकोची रही है । वह अपनी इच्छा, वृत्ति, दु ख–दर्द, आवश्यकता तथा हर्ष-विषाद को प्रतीक रूप मे व्यक्त करती है। एक अन्यगीत में स्त्री-प्रसवकाल से पूर्व अपनी माता को बालक जन्मने का शुभ-संदेश देती है, सप्रेषण का ढग कितना मनोवैज्ञानिक है, जरा देखिये:—

हमारे आंगन मे पीपलड़ी का वृक्ष है, उस पर काले कौए आ बैठे है। हे काग ! तू प्रात: होते ही उड़ना, मेरा संदेश ले जाना तू मेरी ममतामयी माँ के यहाँ जाना और कहना, तेरी पुत्री को स्वप्न हुआ है ।

स्वप्न में सास सुहागन नारियल भेंट करने आई है ।

हे मेरी सर्वसुहागन पुत्री ! चुप, धीरे बोल ! तेरे पर सतति देवी प्रसन्न है। तू पुत्र को जन्म देगी । आदि ।[2]

इसी गीत की अगली कड़ियो मे जेठानी का स्वप्न में हरी–हरी दाख और ननद का पूर्वादल लेकर आना व्यजित मिलता है । लोक विश्वास एवं धारणाओ के अनुरूप ये सभी मेवे पुत्र-जन्म के प्रतीक है । पुत्र जन्म को यहाँ बडा शुभ माना जाता है । समूचा घर हरे गोबर से लीपा जाता है । दीपक जलाए जाते है । बधाई बजती है । सारा वातावरण मोहर गीतो और बधाइयों से महक उठता है । दो गीतों का हिन्दी रूपातर देखिए:—

1 काले मास (भादों) की अंधेरी रात मे कृष्ण मुरारि ने जन्म लिया है मेरी सखियो ! तुम गाली मत देना, यह गरीबिन का जाया है औरों के घर पाँच-सात पुत्र है, मेरा तो केवल मात्र एक गिरधारी है इसके जन्मते ही सर्वत्र प्रकाश हो गया

---

1 ऐ जिमा पहलीया सूहडिया, ओठ सुके मुख पीलाऐ ।
ऐ जिमा दूजिया सूहड़िया, चरूऐ दा भत नि भौऐ ।
ऐं जिसा तीजिया सूहडिया, खुरिया च रगणी चढ़ुआ ओऐ ।
ऐ जिसा चौथिया सूहडिया, छातिया च रगणी आई ऐ । इ० ।।
विस्तार हेतु–कागडी लोकगीत भाग–1, डॉ० गौतम व्यथित, सन 1973

2 अगणे स्हाडे पीपल्डी जित आई बैठे काले काग ऐ ।
उडीआ नि कागा बडिया भ्यागा, उड़ी के करया सुनेहड़ा ऐ ।
जाई बोहूयां मेरिया अम्मा नरवेदणिया, धीया सुपणा होया ऐ ।
सुपणे च सस सुहागण, नेरला लई आई ऐ ।
चुप करया धीऐ सरब सुहागणी, तुठडी वेदमिआईऐ ।
विस्तार हेतु दे० कागडी लोकगीत1–, डा० गौतम व्यथित, 1973 पृ० 18

है। कही गाली मत देना। मैं सोने की कटोरी में गुड–शक्कर बाटूँगी।

चंदन काटकर पंघूड़ा बनाऊँगी, रेशम की डोरें लगेंगी। मैं अपने बालक को दूध की कटोरी तथा चूर-चूर कर रोटी दूँगी ॥[1]

2 वसुदेव के घर पुत्र जन्मा है, यशोदा पलग पर सजी–धजी बैठी है, नंद गौओं का दान कर रहे हैं, उन के सीग सोने-मढे हैं

भाट ब्राह्मण आते जाते आशीप दे रहे है, हमारा कृष्ण युग-युग जिये,

व्रज बालाएं सोलह शृगार कर आ रही हैं

नन्द मोतियों के थाल भर-भर कर दान कर रहे है।'[2]

उपर्युक्त गीतो मे स्थानीय 'लोक' मे वैष्णव परम्परा प्रभाव के दर्शन होते हैं। इनमें नवजात शिशु को राम, कृष्ण, मारकंडा आदि की संज्ञा दी जाती है। माता-पिता भले ही निर्धन हों, अथवा धनी दशरथ, नद, वसुदेव तथा कौसल्या, यशोदा, देवकी आदि के समान सबोधित होते है। जन्म गीतों मे कृष्णलीला के अनेक चित्र 'सूरसागर' सदृश इस क्षेत्र मे परपरित मिलते हैं। पुत्र जन्म पर हरे गोवर से गृह आँगन लीपना, स्वच्छ मडप डलवाना, तुलसी धाय का रामचन्द्र को स्नान कराना, नाईन का सारे गाँव को वधाई गाने का शुभ सदेश देना, कुन्ता बुआ का बालक को चोलू–टोपी सिलाना सुभद्रा बहिन का प्यार से भाई के साथ खेलना, नन्द यशोदा का चन्दन–पघूडे मे कृष्ण को झुलाना, गुड–शक्कर, वताशे, भिगोये चने आदि वधाई बाँटना, नन्द को बधाई मे गौओ का दान करना आदि वर्णित हैं। वास्तव मे यह प्रत्येक अमीर-गरीव गृहस्थी का सच्चा चित्र है। सामर्थ्य एवं सुविधानुसार इन भावो का छोटा-वडा रूप सर्वत्र देखने मे आता है। वधाई में अमूल्य आभूषण पाने का आग्रह तथा ननद भावज, देवरानी-जेठानी के गिले-शिकवे भी इन गीतो का विपय वने हैं।

गर्भाधान प्रक्रिया को निम्नलिखित हस्सणू–खेलण (वधाईगीत) में कितने मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक ढग से कहा गया है:—

'हस्सणू–खेलणू (शिशु) घर आया है, माँ का मन अति प्रसन्न है,

वधाई मे 'कसिया' घुंघरू वज रहे है।

किस वस्तु का हल वना है, किस वस्तु के वैल,

---

1 काले महीने दिया न्हेरिया राती, जनमेया कृष्ण मुरारी
मत दिदियो सईयो गाली, गरीवणी दा जाया
जो जमेया ता दीवक वलेया, चाई चक लोई होईय नी, गरिवणी दा जाया।
घोल वतासा गुड सक्कर दिनिया, स्यूने दी कटोरी/ मत दिदिया सईयो गाली।
दे० वही०। पृ० 4

2 घर वसुदेवे दें जमेया पुत्र, जसोदा पलग चढी।
नद करदा ऐ गौआ दे दान, सोयने दे सिग मढ़ी।
दे० वही० पृ० 16

सोने की हल, चाँदी के बैल बने हैं ।
कुँगू-केसर से क्यारियाँ बनाई गयी, मोतियों के बीज बोए ।
घोड़ियो को अस्तबल, भैसो को घुराल बनाई,
वह 'ओवरी' (भीतरी कमरे मे) जा बैठी,
वह बिस्तर पर रेलने लगी,
जैसा कटोरी कुगू–केसर का रग, वैसा ही प्रसूता ने पुत्र जन्मा' ।[1]

इमी प्रसग मे एक गीत सहसा स्मरण आया । गर्भवती विदेश गए प्रियतम को लिखे जा रहे पत्र मे अपनी स्थिति किस प्रकार बताती है, कितनी शिष्ट कितनी रहस्यमयी एव मनोवैज्ञानिक । जरा देखिए: –

'मैं पत्र लिखकर कत को भेज रही हूँ,
हे कत ! तुम साहब से छुट्टी की मजूरी लेना ।
पहली पंक्ति मे अपना सुख–दु:ख लिख रही हूं,
दूसरी मे गिले-शिकवे ।
मेरी टाँगें शिथिल हो गयी हैं । पीठ मे गहरा दर्द लसकता है ।[2]

और दूसरा गीत कुछ यूँ कहता है:—

'हे लट बाँकरे कत ! तेरी पत्नी को दर्द हो रहा है,
हे बालक लोरी ले ।
हम तो चौगान मे गेंद खेलेंगे, तू जाकर अपनी सास से कह ।
हे सास सुहागन ! तेरी बहू को आज दर्द हो रहा है ।
हे नटखट बहू ! आज तेरे पेट मे क्या हो गया ?
जिस दिन बालक ने जन्म लिया, नगारे पर चोट पड़ी,
ऊखल–मूसल से बतासे घोले गए, दराँती से हरी दूर्वा काटी गयी ।

---

1 हनगू खेलणू घरे आया, रण झुंझणा माए ।
काहे दी हलोटडी, काहे दे बैल बुहाए । असा खेलणा माए ।
स्यूने दी हलोटडी, रूपे दे बैल बुहाए ।
कु गूऐ ता केमरे, कितीयाँ क्यारियाँ/ मोतिया बज बुहाए ।
जे रग कु गुरे कटोरिया, सैह रग पुत्र जमंदिया होया ।
दे० वही० पृ० 30

2 लिखी–लिखी चिठिआं मैं कन्ते जी भेज दी,
छुट्टिया दी लैणी मन्जूरी ऐ ।
पहलिया चिठिआ कता दु ख–सुख लिखेआ, दूजिया चिठिआ मन्दे बोल ऐ ।
जघाँ ताँ होईयाँ कन्ता सेहल पराल
पिट्ठी ताँ होया लमकारा ऐ ।
दे० वही. पृ० 3

आज तेरे माता-पिता के सिर दूर्वा सजी है, तेरे मन में 'मान' बढा है।[1]

एक और लोकप्रिय गीत देवकी-वसुदेव की समस्या से जुड़ा पौराणिक प्रसंग के अनुरूप यशोदा से समाधान ढूंढता पनघट पहुँचाता है। कृष्ण जन्म का वह प्रसग सुनिए:—

एक ओर से बहन देवकी उतरी, दूसरी ओर से यशोदा।
वहिन देवकी! तू क्यो रोती है? तेरे मन में क्या सशय है?
वहिन! मैं आठ जन्मे, सभी भाई कंस ने मार दिए, नमें ने जन्म लेना है।
बहिन देवकी! यदि तेरे यहाँ पुत्र होगा, तो मैं अपनी पुत्री से बदला कर लूंगी।
भादो मास, अष्टमी, बुधवार को कृष्ण ने जन्म लिया।[2]

इसी भाव के समानांतर एक गीत का अनुवाद यूँ है:—

वासुदेव ने पुत्र देकर पुत्री ली, उसे यमुना के पार जाना है।
सोए प्रहरी जाग पड़े, धर्म द्वार बन्द हो गए।
राजा कस को खबर हुई, कन्या का जन्म हुआ है।
चूसड धोवे को खबर हुई, उसे (कन्या को) वज्र शिला पर पटक दो।
हाथ से फिसल कर वह (कन्या) आकाश की ओर जाती बिजली सी लसकी।

एक आवाज आई, हे राजा कंस! तू किसे मार रहा है। तुझे मारने वाला तो यमुना के उस पार जा पहुँचा है।[3]

---

1 कता जी लट वांवरया/ अज तेरी नाजो जी उठी सूल
कि वालेया लोरी लै।
अस्सा वो वहलें खिन्नू खेलणा, अपणिया कने जाई वोल।
जिस दिन गीगे जन्म लेआ। पई नगारें चोट, कि वालेया लोरी लै।
उखलें पतासा फोलया, ब्राह्टिया लुणी हरी द्रुव
कि अज तेरे वौए दें सरे द्रुव, कि अज तेरिया माईया दे मने हुब्ब। दे० वही० पृ०5

2 भैंणे ते उतरी भैंण देवकी ओ महाराज जी,
उआरो ते उतरी यशोदा, रामयो राम जी।
तू कजो रानी भैंणे देवकिए, क्या तेरे मने च क्रोध।
अठ जम्मे राजे कसें मारे, नौएँ नैंणा औतार।
जे तेरे जन्मेगा पुत्रजी भैंणे देवकिए। कन्या लेआं वदलाई।
भाद्रू महीने जन्म अष्टमी बुधवार जी॥ दे० वही० पृ० 2–3

3 पुत्र दित्ता वसुऐ धी लेईये ओ महाराज
जाणा ऐं जमना दे पार, रामयो रामजी:
सुतयो पहरी जागे पैए, चढी गै धर्म द्वार जी
खवरां होईया जिस राजे कसे, वालक कन्या जाई ऐ।
खवरा होईया जिस चूसड़ धोवे, वज्र सिला परछाड़ जी।
तू कुजो मारना पापिया, मारणे आला चमना पार। रामयो राम जी॥
दे० वही० पृ० 1–2

एक अन्य सोहर मे लोकचिंतन की गहराई तथा पौराणिक कथ्यो को गीत-बद्ध करने की क्षमता यूँ मिलती है:—

हे माँ ! गोकुल मे छिंजे (कुश्तियाँ) हो रही है, मै भी जाऊँगा।
मेरे पुत्र ! तू वहाँ मत जाना, वहाँ तेरे शत्रु आएँगे।
हे भैस, दूध दो, अपने श्याम को खीर खिलानी है।
पहले तो तू मन भर दूध देती, आज दो मन कैसे दिया।
कृष्ण ने क्रमशः चूसड़ धोवा, चैनू चमार आदि मार गिराये।
तत्पश्चात् मामा-भानजे का युद्ध शुरू हुआ।
तू मुझे मत मार ! मै तो तेरा मामा लगता हूँ।
तुझे क्यों न मारूं। तू तो मेरा जानी दुश्मन है।
जब कृष्ण विजयी होकर घर लौटे तो माँ ने उनकी पीठ थपथपाई।[1]

कृष्णलीला के अनेक प्रसग लोकवाणी मे बड़ी सजीवता से मुखर हुए है। गोप-गोपी हास–परिहास लोकजीवन की सहजता पाकर बड़ी खूबसूरती से परंगरित है। कृष्ण–गोपी सवाद का एक सदर्भ और प्रसंग में आई व्यग्य भावो की सरलता एवं गहनता देखिए:-

भादो मास मे जन्मे, वासुदेव के नदन
तेरी बहन भी गोरी, माँ भी गोरी,
तू काले रग का कहाँ से आ गया ?
तेरी माँ, बहन सभी भोजन करते हैं
मुझे तो तुझे खाते समय देखने का चाव है।

तू कुएे पर मत जाना कही लोग तुम्हे झीवर न समझ बैठे।[2]

कृष्णलीला मे से ही बालक कृष्ण के बालपन का एक दृश्य गतिबिम्बों के माध्यम से कितना सजीव हो उठा है। भावाभिव्यक्ति का सादापन कितना आकर्षक है जरा देखिए तो —

'हम सच–मच बताते हैं, कृष्ण वासुदेव के ही पुत्र है।

---

1 गोकुल माए छिंजा पईयाँ, मैं वि छिंजा जो जाणा।
छिंजा नी जाणा पुतरा, तित तेरयाँ वैरियाँ ओणा।
तिजो कैंह नी मारां, तू मेरा दुश्मण वैरी।
दे० वही० पृ० 3

2 भादो महीने देआ जरमेया/ वसुदेवे देआ नन्दा।
तेरी भैणा गोरी, तेरी माँ गोरी/ वीरा तू किजा सावले रग वे।
तेरी माँ खाए, तेरी भैण खाए, तेरआं मुखां दा चा ओ।
दे० वही० पृ० 9

वह हाथ घुमा–घुमाकर नाचता है। पैर घुमा–घुमाकर नाचता है।
आंखे घुमा–घुमाकर नाचता है। दाँत दिखा–दिखाकर नाचता है।
दूध कटोरा लिए भागता–नाचता है।[1]

हासपरिहास का एक और दृश्य प्रस्तुत है। कृष्ण-गोपी प्रणय प्रसगो मे छीना–झपटी, ताने, व्यग्यमिश्रित भावो को लोक-जीवन के परिप्रेक्ष्य मे उसी स्तर पर कहने के प्रयास हुए है। एक गीत का रूपातर प्रस्तुत है.–

हे श्याम ! मेरे सिर का दुपट्टा छोड दे।
तू मेरा भाई मै तेरी वहन होती हूँ।
हे श्याम ! मेरी कमर का चीर छोड दे।
तू मेरी कवकी वहन, मै तेरा कब का हीर।
तू जाति की गूजरी, मै जाति का अहीर ॥[2]

स्त्री का पुत्र को जन्म देना बड़ा सौभाग्य समझा जाता है। पुत्र जनने वाली स्त्री को समूचा परिवार वड़े आदर एवं स्नेह से देखता है। पति का तो कहना ही क्या ? वह चिकनी चुपड़ी वाते करता उसे सराहता है। वह कब मानने वाली। वह तो मानगर्विता है। पति उपहार देना चाहता है। परन्तु उसकी तो माँग ही विचित्र है.—

'हे राधिके ! मैने सुना, तू ने पुत्र को जन्म दिया है।
तू जो माँगना चाहती है, माँग ले।
मेरे राम ! मुझे सोने के महल डलवा दो। ··· ·······
सापों की पीहग (झूला) डलवा दो
उसमे विच्छू की तख्ती लगवा दो

---

1 जी सच दसिये, वालक वसुऐ दा जाया जी,
हत्थडू फेरी–फेरी नचदा जी,
पैरडूआ फेरी–फेरी नचदा जी,
अक्खड़आ फेरी–फेरी नचदा जी,
ददडूआ कढी–कढी हसदा जी,
दुधे दे कटोरे लई नूसदा जी,
दे. वही पृ 11

2 छोड श्यामा मेरे सरे केहरी चुन्नी। तू मेरा भाई मैं वहनड़ी हुन्नी,
ओ रलमिल गोपिया मगल गाए,
छोड़ महरी लक्के केहरा चीर, कदकी तू भैणा मैं कदका हीर,
तू गूजरी मैं जाति दा हीर, ओ रलमिल गोपियाँ मगल गाए,
दे. वही. पृ. 14

मेरी राधिके, उल्टी वातें मत कर, मैने ऐसा कही नही देखा ।[1]

प्रस्तुत विवेचना से हिमाचली लोकगीतो (जन्मगीतों) का भाव-सौदर्य सहज स्पष्ट होता है । इनकी भाव-विविधता कृष्णकाव्य परम्परा के विभिन्न पक्षों का स्पर्श करती है । विशेपकर सूरकाव्य के अनेक प्रसग इनकी भाव-गरिमा का सौदर्य वने है । लोकसत्ता सनातन है, लोक विन्तन के भी निजी आयाम है । अतः वैष्णव-कथानको को भी लोक ने अपनी चिन्तन परम्परा, परिवेश, प्रभाव आदि के अनुरूप स्वतत्र एव अलग सा रग देने का प्रयास किया है । इन गीतो का भावलोक भारत के विभिन्न जनपदीय लोकगीतो (जन्मगीतो) के समानातर परम्परित है । फलतः लोक–चिन्तन अथवा लोक मानसिकता के धरातल की समानता, एकरूपता आदि के लक्षण सहज दृष्टिगोचर होते है ।

लोकशैली मे व्यजित ये मुक्तक गीत श्रोता को वृ दावन, गोकुल तथा मथुरा के वातावरण मे सतरित करने लगते है, कृष्ण गोप–गोपियो की लीलास्थली अपने विविध रंग-रूप लेकर हमारे सम्मुख उभरने लगती है । ऊँच–नीच का भेद मिटाकर प्रेम भावना की चन्दनमयी अगरु गध फैलाते ये गीत मानस को सदैव उल्लसित करते रहे है, करते रहेगे ।

—हिन्दी विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
धर्मशाला, कांगडा (हि० प्र०)



1 वालक जन्मेया मैं सुणेया राधके
जे किछ मगणा मग लैं,
सोयने दे महल पुआ मेरे रामाजी, वराडा पुआई दे ददू दी ।
सर्पां दी पींहग पुआ मेरे रामाजी, फट्टी लुआई दे विछूए दी,
पुठियाँ अडियाँ न पा मेरा राधके,
फट्टी नि दिखी विछुऐ दी ।
दे. वही. पृ. 17

बीजो जावा बीजो जावा, खोली का गणेश

शुकदेव श्रोत्रिय

भागीरथी और भिलगना का संगम, अत्यन्त सँकरी पहाड़ी घाटी, नीचे गहराई में हर-हर घोषवती वेगमय आवर्त बनाती घूमती घहराती दौड़ती भागीरथी। घूमकर अर्द्धचन्द्राकार आती सडक और पुल पार कर सामने स्थित टिहरी नगर। राजसी ठाठ बाट की याद दिलाती पुराने दरबार की ऊँची लम्बी दीवारें और बुर्जियां। कौन जानता था कि भगीरथ के तप से धरा को धन्य करने स्वर्ग से उतरी गगा को आधुनिक इजीनियर बाँधेगे और आने वाले समय मे सारा टिहरी नगर विशाल जलाशय मे समा जाएगा।

किन्तु यह टिहरी नाम अधूरा है। इसके साथ जुडा है गढवाल, नाग जातियो का प्रदेश। आज भी पाडुकेश्वर मे नाग, रतगाँव मे मेतल नाग, तलोर मे सागल नाग, भार गाँव में वामपुर नाग, जेलम मे लोहन देव नाग और नागनाथ मे पुष्कर नाथ नाग पूजित है—

"तव तेई सेम मुखेम, तेरा वजदा घाँड।"
दस घड़ी सेजा होन्दी बीस घड़ी की पूजा॥

बावन गढो के ठकुरी राजाओं के प्रदेश मे चाँदपुर के सूर्यवशी राजा भानु प्रताप (आठवी शताब्दी) ने गढ़वाल यात्रा पर आए पँवार वशज मालवा के राजकुमार कनकपाल को अपनी पुत्री ब्याह कर अपना राज्य दहेज मे दे दिया। इसी वश के सैंतीसवें राजा अजयपाल ने सारे गढो को मिलाकर एक किया और राज्य बन गया टिहरी गढ़वाल। १८०१–१८०३ में ललित शाह के पुत्र प्रद्युम्न शाह नैपाल क गोरखो से हार गये और गढवाल ही नही कुमायूँ से काँगडा तक गोरखो का आधिपत्य हो गया। उनका बारह वर्ष का समय 'गोर्खाणी'[1] आज भी लोगो का दिल दहला देता है। सुदर्शन शाह ने रणजीत सिंह का साथ लेकर गोरखो को खदेड़ा तथा १८१५ ई० मे बसाया टिहरी नगर।

फतेहशाह के समय इस दरबार को कवि भूषण, मतिराम, सुखदेव मिश्र आदि ने अलकृत किया—

"सुयश ते भलो मुख भूषण भनैगो बाढ़ि,
गढवार राज्य पर राज तो बखानैगो"

---

1. अत्याचार का समय

दाता एक जैसो शिवराज भयो तैसो अव
फतेह साहि सी नगर साहिवी समाज है" ।

पुराना दरवार, भारी भरकम छते, लकड़ी की चौखटें, दरवाजे, वन्द पड़े अनेक कमरे, मुख्य द्वार के ऊपर मध्य मे स्थापित गणेश, खुले सहन मे वड़ी मेज पर किताबो के ढेर के वीच खोए वयोवृद्ध कैप्टेन शूरवीर सिंह[1] दोनो हाथ आकाश की ओर उठाकर वोल उठते हैं—

"वीजी जावा वीजी जावा खोली का गणेश"[2] वह वोलते जाते है और मेरे सामने साकार होने लगते है महाभारत के पात्र, कानो में गूँजने लगती है उनके नामों की प्रतिध्वनियाँ जो टिहरी प्रदेश मे फैले हुए है । ढुंड-उडयार (लाखा मडल), चकरौता (चक्रानगरी), वाराहाट (विराट नगरी), उत्तर काशी (उत्तरा नगरी), कीच का टाँडा (कीचक देश), टौस का उदगम स्थल (कर्मनाशा), उषीमठ (उपा के नाम पर) वास्सुग्राम मे वाणासुर के गढ़ के अवशेप । द्रौपदी की परम्परा मे बहुपति विवाह का प्रदेश जौनसार सीमान्त क्षेत्र मे पूजित दुर्योधन की एक टाँग विहीन पीतल की मूर्ति । सरस्वती और अलकनन्दा के पावन सगम पर समाधिस्थ वेदव्यास के मुख से निस्रत होता हुआ महाकाव्य महाभारत ।

एक ओर वहुपति प्रथा और दूसरी ओर लोक जीवन में बहुपत्नी प्रथा मे असल (मुख्य पत्नी) के साथ अन्य निम्न जाति की कामासल भी । और जो विना विवाह के रह गया उसकी व्यथा का पार क्या? गांव मे किसी का सजधज कर विवाह होता है उसकी आँख मे जलन होती है ।

'गॉव ना व्याऊ मेरा आँख मांडाऊ"

एक सकरी पथरीली गली की खिड़की मे से कोई वाला गा उठती है ' हे मामा तेरी चहल पहल वाली रमणीक तिवारी (तीन दरवाजो का लम्वा कमरा) युगो तक वनीरहे— "जै जुग रैंने ममा तेरी रोत्याली डिंडाली"

चौराहे पर छोटे-छोटे पत्थरो के ढेर पर लकड़ी, ककड़ तथा पत्थर चढाए जाते हैं और मत्र वोलते है—

"साकल्य स्थापिता देवी याज्ञवल्केन पूजिता,
काष्ठ पाषाण भक्षन्ति मम रक्षण करो तुमे"

यह है पातन्या देवी या कथ पट्टिया जिसकी पूजा प्रथा याज्ञवल्क ऋषि ने प्रारम्भ की थी ।

लकड़ी, पत्थर अथवा तांवे पर वना सूर्य चक्र, नवग्रह चक्र, मंगल यत्र तथा भगवती भुवनेश्वरी का यत्र पूजा मे स्थापित किया जाता है । पिसे चावल से धुले चौक पर सोलह मूर्तियाँ मातृकाओ की वनती है । अव देव के गीतों मे देवपूजन, मातृपूजन, पितृपूजन के गीत गाए जाते हैं—

1. राजघराने के वयोवृद्ध विद्वान कैप्टेन शूरवीर सिंह, इतिहास, कला एव साहित्य के मर्मज्ञ ।
2. जाग जाओ, जाग जाओ, खोली मे स्थापित 'गणेश'

"जाना जाना भंवरीला माथ
लोक माथ लोक पितर न्यूतो ए....ए...."

देव स्थान मे जौ व अक्षत मिलाकर विश्वेदेवा, मातृ, पितृ एव मातामह के चार आसन बनाए जाते है। मागलिक अवसरो पर गणेश की स्थापना मात्र गोबर से की जाती है।

"पुत्र धन दायक यज्ञन रच शुभ
जय गणपति लगन की वेर... ए ... ए ... "

लोकगीतो से भरा-पूरा प्रदेश नीचे गहरी घाटी में अथाह प्रवाहमान गंगा और घरो में पानी का अभाव, पत्थरो के वीच पत्थर सी ही कठोर जीवन साधना और समस्त प्राकृतिक अभिशापो और सघर्पमय जीवन के बीच प्रतिध्वनित होते विशेष स्वर लहरी के गीतो के साथ अनगढ़ खुरदरे हाथो द्वारा भित्ति तथा चौक मे खीची गई आड़ी तिरछी लकीरो मे प्राणवन्त लोक चित्र परम्पराएँ।

प्राय. मकानो की बाहरी भित्ति पर द्वार के दोनो ओर रेखाएँ एव टुपके[1] तथा चौक चित्रित किये जाते है। अभाव भरे जीवन के बीच सीमित रगो का प्रयोग स्वाभाविक ही है। कमेढ़े का घोल[2] खोड़ी[3] अथवा चावल का पीठा द्वार, अलमारी अथवा आलो के तीन अथवा चारो ओर तीन चार रेखाओं में टुपके लगाए जाते है। मकान के बाहर चावल के पीठे से मातृकाओ और नवग्रहो के चिह्न के कमेढ़े अथवा पीठे के घोल की विन्दियाँ टुपके अवश्य लगी मिलती है।

इन लोक चित्रो का उद्देश्य सज्जा, धार्मिक एवं पारिवारिक रीतियो एव विशेष अनुष्ठान रहता है जो एक दूसरे के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ परम्पराओ मे पोपित होता जाता है।

विवाह का मागलिक अवसर लोकजीवन का सबसे अधिक रंग भरा महोत्सव। भित्तियों पर लगे थापगे और चित्रित स्वास्तिक, जल से भरा लोटा लिए कन्या, द्वार पर वन्दनवार। पीले पवित्र कपडे मे सुपारी हल्दी अक्षत। पिठाई लगा ढोल, जौ की हरियाली और वेदी पर आनुष्ठानिक चित्र। थापगे के हाथ के पाँच छापे लगते हैं तथा पीठे की आठ रेखाएँ वनती है तथा घी की आठ धाराएँ वहाई जाती है। इनके चारो ओर कलश की आकृति वनाई जाती है। दाईं बाईं ओर सूत की रग विरगी नालियाँ चिपकाई जाती है (हाथ के छापे लगाने की प्रथा गजाले[4] पर भी पाई जाती है) मंगलमय कलश, जौ तथा झगोरे (चना) भरा हुआ पाथा (वर्तन) प्रदीप्त दीपक। पूरा कक्ष सुवासित धूम और पावन भावनाओं से ओतप्रोत। एपण, लाल मिट्टी से लिपी पुती भूमि पर खोडी से वने स्वास्तिक चिह्न और नववधू गृह द्वार पर अपने हाथ का छापा लगाती है मानो घर पर अपने अधिकार के हस्ताक्षर करती है।

---

1. अगुलियों के पोरो को किसी रग में डुवाकर लगाए गए चिह्न
2. चूना 3. रोली 4. धान कूटने के लिए प्रयुक्त मूसम

वर तथा वधू के मुख पर वौरी वारने की प्रथा प्रचलित है। वर तथा वधू के मुख पर दो समानान्तर रेखाएँ कनपटी तक दाएँ से वाएँ तक पुन नीचे ठोढी तक चली जाती है।

वालक जन्म, छठीं मे प्रसूतिका गृह द्वार पर मातृकाओं का पूजन होता है छठी का चौक बनाया जाता है, जिसमे षष्ठी माता एव स्कन्द[1] प्रद्युम्न की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त मांगलिक एव आनुष्ठानिक अवसरो पर अनेक यत्रो एवं चित्र रूपो की रचना पंडितो द्वारा की जाती है।

अपने शरीर को विविध रँगो से रजित करने की परम्परा आदिम युग से आज तक चली आ रही है। स्त्रियाँ पैरो मे रोली, हथेलियो पर मेहन्दी लगाती हैं। गुदने गुदवाने की प्रथा का स्त्री तथा पुरुषो सभी मे प्रचार है। पुरुष हाथो पर नाम लिखवाते है अथवा देवता का चित्र बनवाते है। स्त्रियाँ हाथों पर तथा ठोढ़ी पर तीन टुपके अथवा पाँच टुपकों के वीच एक वड़ा टुपका गुदवाती है।

टिहरी के लोक चित्रो मे अधिकाशतः हाथ के थापे, अगुलियो के पोरो की छाप तथा सीधी रेखाओ से वने अलकरणो का वाहुल्य है। वास्तव मे आर्थिक एवं प्राकृतिक कठिनाइयों से जूझते हुए भी जो परम्पराएँ टिहरी गढ़वाल अपने आँचल में छिपाए हुए है वे अत्यत मूल्यवान हैं। वे चित्रण की सरलतम प्रक्रिया के उदाहरण है, जिनमें समस्त तकनीकी प्रक्रियाओं का लोप हो जाता है और सृजन-क्रिया में रंगो को सीधे हाथ द्वारा रूप प्रदान किया जाता है। ऐसे चित्र रूप अनगढ़ अवश्य होते है किन्तु उनमे रचनाकार का आवेग होता है, गतिमयता होती है, ओज होता है। लोक-चित्रो मे रेखाओ के गुणों का सर्वाधिक वर्चस्व रहता है। टिहरी के चित्रों में वही रेखा का शक्तिवान रूप देखने को मिलता है।

—अध्यक्ष, चित्रकला विभाग
सनातनधर्म कालेज
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)



1. स्कन्द—कार्तिकेय, शिवपुत्र देवताओं के सेनापति स्कन्द पुराण मे सप्त मातृकाओं के साथ कार्तिकेय को वीराष्टक के रूप में संबोधित किया गया है।

भोजपुरी लोक-गीतों में लोक-जीवन

कुलदीप नारायण राय 'झड़प'

जिन गीतो में लोक की संवेदना प्रस्फुटित होती है, उन्हे लोकगीत कहते है। लोकगीतो में लोक की भावना, लोक का दुःख-सुख, हर्ष-विषाद और अन्तर्द्वन्द्व उद्वेलित होता है। इसलिए समाज के अध्ययन हेतु सामान्य गीतों की अपेक्षा लोक-गीतो का अधिक महत्त्व है। वे किसी भी समाज की सांस्कृतिक निधि है। उन्हें लोक सस्कृति का दर्पण कहा जा सकता है।

लोकगीतो को सात भागो मे बाँट सकते है—

कथागीत, द्वन्द्वगीत, सस्कारगीत, देवस्तुति और पूजा सम्बन्धी, प्रेमाह्लाद और ऋतु-सम्बन्धी, प्रश्नोत्तर गीत और शोकगीत।

समष्टिगत-सवेदना-परक होने के कारण लोकगीतो का क्षेत्र व्यापक है। समाज-शास्त्र के अध्ययन के लिये लोकगीतो की विशेष उपयोगिता है। ऊपर कहा गया है कि लोक-साहित्य जन-जीवन का दर्पण है। उसमे जन-समुदाय के जीवन की अनुभूति, अन्तर्द्वंद्व, हृदयोद्गार, उमंग-उल्लास, मनोरंजन, आशा-आकाक्षा का उठता हुआ ज्वार तरगायित हो रहा है। लोक-मानस उसमे उमडता हुआ दिखाई देता है, इसलिए उसमे लोक-जीवन के मार्मिक चित्र मिलते है। पति-पत्नी के विविध रूप, विरह-मिलन, पातिव्रत्य, भाई-बहन का आदर्श प्रेम, सास-बहू, ननद-भौजाई, की नोक-झोक और आदर्श-व्यवहार, बाल-वृद्ध विवाह और तिलक-दहेज का अभिशाप, पुत्राकाक्षा और पुत्र-जन्म, सतीत्व-रक्षा, हास-परिहास, तथा धार्मिक-भावना के सुन्दर-चित्र लोकगीतो मे मिलते है। लोकगीतो मे मात्रा और तुक का कोई बधन नही होता। उनके सभी चरण न तो समान होते है और न उनकी गणना समान होती है। उनमें लयात्मक प्रवाह अवश्य होता है।

मानव जीवन मे विवाह-सस्कार का जो महत्त्व है, वह अन्य किसी का नही। इसकी उपयोगिता, आकर्षकता तथा व्यापकता स्वाभाविक है। इसे जीवन काल का वसंत कह सकते हैं। वस्तुत गृहस्थ-जीवन का प्रारम्भ यही से होता है। विवाहित होने के पश्चात् मनुष्य एक से दो होता तथा द्वित्व मे एकत्व का अनुभव करता है। यह एकत्व ही जगत-जीवन का आधार है। उद्भव, पालन और सवर्द्धन की कहानी यही से प्रारम्भ होती है। सामाजिक-चेतना, प्रेम, सहानुभूति तथा सहयोग की भावना को क्रियात्मक-बल मिलता है। व्यक्ति और समाज के सबंध को सुदृढ बनाने एवं

उत्तरदायित्व का पालन कराने मे विवाह का सर्वाधिक हाथ है। यही कारण है कि विवाह के गीतों में लौकिक-जीवन की मार्मिक उद्‌भावनाएँ मिलती है।

वर-रक्षा होने पर बहुधा विवाह का होना निश्चित माना जाता है तथा भावी वर-वधू के हृदय मे पारस्परिक आकर्षण की भावना रंग जमाने लगती है। ऐसे ही एक वर की आकांक्षा देखिए—

"कब हम देखब बाग-बगइचा, कब हम देखब ससुरार।
कब हम देखब सुभवा[1] कवनदेई, जेहि देखि नयन जुड़ाइ॥"

वह लोक मर्यादा और अवस्था-सुलभ सकोच के कारण उक्त प्रश्न का समाधान भी मन ही मन कर लेता है—

"गोयडे[2] देखव हम बाग-बगइचा नगर देखब ससुरार।
मँड़वे देखब हम सुभवा कवनदेई, जिनि देखि नैन जुड़ाइ॥"

गृहस्थी के व्यवहार से अनभिज्ञ एक वर अपने विवाह के आकस्मिक निश्चय से घबरा उठा है। वह सोचता है इस उत्तरदायित्व का वहन वह कैसे कर सकेगा? द्वार पर लगे नीम की छाया मे बैठ कर वह रो रहा है। आनन्दोत्सव के अवसर पर रोते हुए, पिता के पूछने पर वह कहता है— "मैं असी कोस दूर विवाह करने के लिए अकेले कैसे जाऊँगा? पिता उसकी घबराहट दूर करते हुए कह रहा है—

पाँचहि भइया पाँचो सँग जइहे, अवरू लोकनिया[3] जइहे।
चँवर डोलावत बहनोइया जइहे, काहे बाबू अकसर?[4]

दहेज-प्रथा समाज के लिए कितना बड़ा अभिशाप है, इसकी अभिव्यक्ति विवाह के गीतो मे बहुधा की गई है। इस कुप्रथा के कारण ही पुत्री का जन्म परिवार के लिए सुखद होने के स्थान पर दु:खद हो जाता है किन्तु माता की ममता तो पुत्र और पुत्री सबके लिए समान है। पुत्री की उपेक्षा का उसे दु:ख है, इसलिए पति को पुत्री के विवाह-काल में उत्साहित देख वह व्यंग्य करती है—

"जाहि[5] दिने ए बेटी तोहरो जनम भइले, भइली भदउआ निसुराति[6]।
सासु-ननद घर दियो[7] ना बारे, आयु प्रभु[8] बइठे कोहनाइ॥
ए प्रभु मन पारी[9] ताहि दिन के बतिया, आजु काहे चन्दन चढ़ाई।

---

1. शुभ दर्शना।
2. गाँव के निकट।
3. लोग।
4. अकेला।
5. जिस दिन:
6. भादों की निशीथ रात।
7. दीपक।
8. स्वामी, पति।
9. याद कीजिए।

इस का उत्तर पति इस प्रकार देता है—

"आजु त ए धनी अइली सजनिया नजरि पइठि गइली लाज।

धनहीनता के कारण पुत्री परिवार की चिन्ता का विषय वन गई है। वह सयानी हो गई है। उसके लिए कही घर-वर देखना चाहिए— इस समस्या को उसकी माता अपने पति के सम्मुख प्रस्तुत करती है। वह यद्यपि जानता है कि पुत्री की सगाई करना अनिवार्य है, फिर भी वह अपनी असमर्थता और कठिनाइयो के कारण पलायनवादी वन गया है, इसलिए झुंझला उठता है और कहता है—

"ना हम खोजब, ना हम ढूढ़ब, ना हम हेरन जाव[1]।
जिन्हि वर कामिनिधिया[2] जनमवली, तिन्ह बर खोजन जासु।।

पति के इस उत्तर से पत्नी रो पड़ती है, कहती है—

"हाय-हाय दइवा[3] रे, हाय रे विधाता, हाय-हाय रे करतार।
निर्धन पुरुष घरें धिया जनि दीह, जिन्हि नित उघटन देसु।।

एक लड़की ने देखा कि उसका निर्धन पिता दहेज आदि की कठिनाइयों के कारण उसका विवाह-सम्बन्ध करने मे अप्रत्याशित विलम्ब कर रहा है, अतः वह पिता से निवेदन करती है—

"नीर[4] चुवत बाबा नीर चुवत है, नीर चुवेला अधिराति।
माता-पिता कइसे नीद परतु है, जेहि घरें कन्या कुँवारि।।

इसमें क्या सन्देह, विवाह योग्य हो जाने पर पुत्री पिता की नीद हराम कर ही देती है—

"दिनवाँ हरेलू ए बेटी भुखिया-पियसिया।
रतियाँ हरेलू ए बेटी बावा रे सुख निंदिया।।

एक पिता बारात की विशालता (नौ सौ हाथी, दस सौ घोड़ा) का पता पाकर घवरा उठा है और अपने कमरे मे किवाड़ बन्द कर पड़ रहा है। बारात का स्वागत न होता देख पुत्री पिता को जगा रही है—

पइठि जगावेली बेटी रे कवनदेई, बाबा कसरे सुतीले निरभेद[5]
सजन लोग घेरि अइले बावा, ससुर दुआरें भइले ठाढ त नौवत[6] बाजेले।।

विशाल वारात को सँभालने मे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए वह कहता है—

---

1. न ढूंढने जाऊँगा।
2. पुत्री।
3. दैव।
4. आँसू।
5. निश्चित होकर क्यो सो रहे हैं।
6. शहनाई।

'बेटी कुछ रे सुतीले कुछ जागीले,
कुछ रे दहेजवा के सोच सजन लोग घेरि अइले।

इस पर पुत्री उसे आश्वस्त करती हुई कहती है—

"एतना बारात मोरे भइया सँभरिहे, रउराँ देईं कन्यादान।

एक लड़की अपने पिता को दहेज देने में असमर्थ होने के कारण चिन्तित होता हुआ देखकर समझा रही है—

"पान पत्र बाबा तिलक चढाइब तुलसी के पत्र दहेज।
हाथ जोरि बाबा विनती करब, समधी जोग हम नाहि॥

किन्तु उस भोली को क्या पता कि पिता की चिन्ता सकारण है इस अर्थ पिशाच युग मे प्रेम, सहानुभूति और सदाचार के लिए स्थान कहाँ?

यदि बारात का स्वागत-सत्कार नही हुआ, समधी के दहेज में कमी पड़ी अथवा दूल्हे की माँगें पूरी नही की गई तो इन सब बातो का दुष्परिणाम लड़की को ही भोगना पड़ता है। ससुराल में उसकी उपेक्षा होती और उपालम्भ सुनना पड़ता है, इसलिए वह बारात के स्वागत-सत्कार के लिए पिता को सचेत कर रही है—

"बाबा, ना देखो बाग-बगइचा
ना देखो घनी फुलवारी कहाँ दल उतरी[1]।

कोई-कोई वर विचारशील होने से सास-ससुर की स्थिति को समझते हैं और उनके प्रति सहानुभूति रखते हैं। ऐसा ही एक उदार वर अपनी सास से कह रहा है—

"बाबा जे हउएँ दहेजवा के भूखल, राउर पति[2] राखे श्रीराम।

विवाह मे वर की दृष्टि वधू की ओर और बारातियों की दृष्टि भोजन-सामग्री पर रहती है, किन्तु लडके का पिता दहेज चाहता है। दहेज की कमी होने पर वह अप्रसन्न हो जाता और कभी-कभी वधू को बिना विदा कराये ही चल देता है। पुत्र वधू की अभिलाषिणी वर की माँ को यह बात अच्छी नही लगती। कौसल्या पुत्रवधू को छोडकर आए हुए राजा दशरथ से पूछती है -

"पुतवा न देखी ले पतोहिया नाही देखी ले, मोरे कुँइयाँ धँधके ले आगि।[3]
किया सीता आन्हर किया सीता भेंभर[4], किया सीता कुलवा के हानि?

इसका उत्तर देते हुए राजा दशरथ कहते हैं—

नाही सीता आन्हर नाही सीता भेंभर नाही सीता कुलवा के हानि
सीता के बाप दहेजवा नाही दिहले ओही[5] राम आवेले अकेला॥

---

1. बारात कहाँ ठहरेगी?
2. इज्जत।
3. मेरे हृदय मे आग जल रही है।
4 चपटी नाक वाली कुरूप।
5 उसी से।

उनका यह उत्तर सुनकर कौसल्या जी फटकारती हुई कहने लगती हैं—

दाइज–दाइज जनि करी राजाहे,दाइज नेटुवा के नाच ।

पुतवे-पतोह्यि राजा घर भरि जइहे, धनि रे कोसिला रानी के भाग

कौसल्या की फटकार सुनकर राजा दशरथ को भी अपनी भूल समझ में आ जाती है। वे तुरन्त सीता की विदाई के लिए राजा जनक के यहाँ दूत भेजते हैं—

"धाउ तु हूँ नउ ओर धाउतु हूँ बरिया, रिखे आगे खबरि जनाउ

हाली बेमें ए रिखे, सीता विदा करी, मोरे कोसिला भइली बैराग ।[1]

इस सूचना से राजर्षि जनक के यहाँ प्रसन्नता उमड़ पड़ी और जब सीता विदा होकर कौसल्या के घर आई तो वहाँ भी सीता को देखकर लोग कौशल्या रानी के भाग्य की सराहना करने लगे—

"रामजी से तीन विस्वा सीता सुन्दरिया

धनि रे कोसिला रानी के भागि ।

यदि सभी पुत्रवती स्त्रियाँ कौसल्या का अनुकरण करने लगें तो समाज से तिलक–दहेज का अभिशाप निश्चित रूप से मिट जाय ।

कभी कोई वर ऐसा भी मिल जाता है, जो ससुर की स्थिति पर विचार किए बिना, मन मे जो आए उसी की माँग कर उठता है। एक दूल्हे ने ससुर के प्रिय परेवना (सुग्गा, तोता) की ही माँग कर दी है। यद्यपि लड़की का पिता अपने प्रिय परेवना को अपने से अलग नहीं करना चाहता, फिर भी 'सदा वक्री सदा क्रूर कन्या राशि स्थित दामाद के हठ पर उसे झुकना ही पड़ता है—

"पान पत्र अइसन गौरी समर्पीले, परेवना कवन बुनियाद ।[2]

यह तो हुआ तिलक–दहेज, अब बाल–विवाह और अनमेल विवाह की झाँकी देखी जा सकती है। एक अबोध बालिका अपनी सहेलियो के साथ खेल रही थी। अचानक बाजा बजते हुए देख कर वह अपनी माँ से पूछती है—

"केकरा दुआरे माई बाजन बाजेला, केकर होला बियाह ।

जब उसकी माँ बतलाती हैं कि तुम्हारा ही विवाह होने जा रहा है तो वह घबरा कर कहने लगती है—

"सिख ही ना पवलो माई घर-घरुवरवा[3] अउर रसोई मनलाइ

सासु-ननद मोरे भइया गरिअइहे, मोरा लेखे[4] सहलो ना जाइ ॥

उसकी घबराहट दूर करते हुए उसको माँ समझाती है—

"सीखि लिह बेटी घर-वरु अरवा अउर रसोइया मन लाइ ।

सासु-ननद जो भइया गरिअइहे तू लिह अँचरा पसारि ॥

---

1. विरक्त, उदासीन, दुःखी ।
2. मूल स्थान, पुश्तैनी मिल्कियत, परपरागत सपत्ति ।
3. गृह कार्य, गृहस्थी का कार्य ।
4. मुझसे ।

माँ ने सास–ननद की गाली को सह लेने में ही अपनी पुत्री का कल्याण वताया। यदि इस सीख को सभी वहुएँ स्वीकार कर लें तो वहुत अंश में वे सास–ननद के प्रताड़न से वच सकती हैं और गृह-कलह दूर हो सकता है।

पतिगृह में लड़की की क्या स्थिति है, यह जानने के लिए प्राय: माता–पिता विवाह के थोड़े ही दिनों वाद लड़की को घर वुला लेते हैं। एक पिता अपनी पुत्री से उसके श्वसुर-गृह का समाचार पूछ रहा है—

"वावा जै वेटी दुलारी वोलवले, जाँघे लिहले वइठाइ।
कवन-कवन सुख कइलू ए वेटी, से हमे द वतलाइ॥

पुत्री श्वसुर-गृह का अवलोकन करते हुए कहती है—

दूध-भात खोरवाँ[1] वावा मोरी भोजनियाँ, करुये तेंल असनान।
लहहा-न्हटोर[2] वावा मोर पहिरनवाँ[3], वालक रउरे दामाद।
सात सुपेती[4] के डासन[5] वावा से जिया पर रही ले अकेल।

पुत्री की वात सुनकर पिता मर्माहत होकर व्याह ठीक कराने वाले नाऊ-वारी और ब्राह्मण को कोसने लगता है—

"जरहु नउआ रे जरहु मे वरिया, जरहु वभनवाँ के वेद।
हमरा धिया जोगे अस वर खोजल, सेजि भीरी[6] रहेली अकेल॥

और अपनी विवशता वताकर पुत्री को धैर्य धारण करने के लिए शिक्षा देता है—

पुतवा जो रहितू वेटी फिर से वियहितीं, धियवा वियहलो न जाय।
वालक से वड़ होइहें ए वेटी, जो पति रखवू हमार॥

इसी प्रकार एक पुत्री ने अपने पति के साँवले होने की शिकायत की। उसका पिता चमड़े का रंग नहीं, सद्‌गुण का महत्त्व वतलाते हुए कह रहा है—

"साँवर–साँवर जनि कर वेटी, साँवर हउएँ श्रीराम।
जेकरा माथें तिलक वर सोभे, मोहि रहे सँवसार।

माता सदा चाहती है कि पुत्री को उसके अनुरूप सुयोग्य वर मिले। यदि किसी कारण उसके मन के अनुरूप वर नहीं मिला तो वह कदापि उसे अपनी कन्या देने को तैयार नहीं होती। कभी-कभी ऐसी स्थिति में वारात लौटा दी जाती है गौरी (पार्वती) की माता का कहना सुनिए—

"गउरा ले ऊड़व, गउरा ले वूड़व, गउरा ले खिलवों पताल।[7]

---

1. कटोरे में।
2. रेशमी वस्त्र।
3. पहिनावा।
4. चादर।
5. विस्तर, विछौना।
6. शय्या पर।
7. पाताल में चली जाऊँगी.

अइसना वउरहवा से गउरा ना वियहव, वरुउरा रहिहे कुँवारि।

विवाह के पश्चात् कोहवर (केलि गृह) मे प्रथम बार वर-वधू का परस्पर परिचय होता है। एक वधू ने हँसी मे पति से कहा—

"दुधवा पियत भइया आल्हुर[1] करतु है, मांगिला बहिना तोहार।

हास-परिहास से रुष्ट होकर वह वहाँ से चल देता है किन्तु वधू का भाई यह कहते हुए उसे मना लेता है—

"वाउर[2] बहिन कहई नाही जाने, नाही लेबो बहिन तोहार।

विवाह में सबसे अधिक करुण दृश्य कन्या के विदा का होता है। शकुन्तला को विदा करते समय ऋषि कण्व ने कहा था—

मो से वन वासीन को, इतै सतावत मोह।
तो गिरिही कैसे सहैं, दुहिता प्रथम विछोह॥

जनक जी जैसे ज्ञानी भी सीता को विदा करते समय रोने लगे थे—

सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम विरागी॥

तो फिर ममताग्रस्त साधारण लोगो के विषय मे क्या कहा जाए माता विदा होती हुई पुत्री से लिपट कर रो रही है—

'माई जे रोवेली धीया धइले, धिया के नउनिया धइले।
भउजी जे रोवेली खोइँछवा लिहले बेटी झराझर रोवे॥

पुत्री पराये घर जा रही है, उसका जाना अनिवार्य है, पर वहाँ उसे किसी प्रकार का कष्ट न हो, इस चिन्ता मे माँ दामाद के हाथो पुत्री को सौपते हुए निवेदन करती हैं—

वडी रे साँसति वावू धिया एक पोसीसे वटिएँ चलत कुम्हिलाइ।[3]

दामाद सास को आश्वासन देते हुए कहता है -

वटियाँ खियाइब सास आमुन-जामुन घरवाँ सुरहिया के दूध।
अठईं-सतई सासु धोतिया धोवाइब, जव लगि प्रान हमार॥

एक माता तो विक्षिप्त सी होकर अपने दामाद से इस प्रकार निवेदन करती है कि—

'सोना देवो सेर जोखि, रुपया पसेरि जोखि।
ए साहेब एक ना देवो आपन वेटी, घर आँगन अंजोर को॥

परन्तु वेटी विदा हो गई। वह वेटी को न देखकर इधर-उधर ढूँढती है। उसे सारा घर सूना लगता है, वह घवरा जाती है—

'ऊँच घर देखीले, नीच घर देखीले, बँसहर[4] देखी सुनकाल।[5]

---

1. लडकपन।
2. वुरी।
3. रास्ते चलते हुए कुम्हला जाती है।
4. बांस से बना घर
5. सूना

सुपुली[1] खेलत बेटी कतहूँ ना देखीले, मोरे कुँइया[2] धधकेले आगि ।

उधर पुत्री माता की याद मे घुली जा रही है और इधर माता भी पुत्री के विरह में घुली जा रही है तथा पुत्री को बुलाने का आयोजन करती है और पति से कहती है—

'सीता वियहले' दिवस अत[3] बीतल, सीता जोहत होइहे बाट ।[4]

जिस सीता को विदा करते समय पिता की आँखो मे गंगा की बाढ़ आ गई थी,[5] वह भला सीता की सुध क्यों नही लेना चाहेगा ? उसे भी पुत्री की याद सदा सता रही है ।

बहिन भाई अथवा भाई-भाई का इतना मधुर और घनिष्ट सम्बन्ध है कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी के मुँह से भी ये शब्द निकल पडे—

'जो जनतेऊँ वन वन्धु विछोहू ।
पिता वचन मनितेऊँ नहीं ओहू ।।

सम्राट् हर्षवर्द्धन ने अपनी बहिन राज्यश्री के लिए वन-वन की खाक छानी और चिता पर से उसे बचा लिया था। पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में श्रीकृष्ण और बलराम के मध्य बहिन सुभद्रा जी विराजमान हैं । एक भोजपुरी लोक-कथा के अनुसार एक भाँटिन ने नाना कष्ट उठाकर अपने भाई को कठिन संकट-जाल और मृत्यु-मुख से निकाल लिया था । एक गढ़वाली लोकगीत के अनुसार एक बहिन अपने बालक भाई की कष्ट-कथा सुनकर व्याकुल हो गई और उसने शत्रुओं को पराजित कर भाई को कष्ट-मुक्त करके ही दम लिया । ऐसा ही है बहिन-भाई का प्रेम-बन्धन । महाभारत मे कहा गया है कि पिता को दिया हुआ दान सौ गुना, माता को दिया हुआ सहस्र गुना और बहिन को दिया हुआ लक्ष गुना फल देने वाला होता है । इसी प्रकार बहिन-भाई की भलाई के लिए जो कुछ करती है, वह अक्षय फल का दाता है । बहिन-भाई के पारस्परिक प्रेम की बलिहारी, जिसने यम जैसे न्याय-पति को भी झुका दिया और वे बहिन के भक्तो को क्षमादान देने लिए तैयार हो गए । तब से प्रतिवर्ष बहिन भ्रातृ द्वितीया (यम द्वितीया) के दिन भाई की कलाई पर राखी बाँधकर आयुष्मान होने का आशीर्वाद देती और भाई से वरदान प्राप्त करती आ रही है । इस अवसर पर वह भाई को 'बजरी'[6] खिलाती है जो इस बात का प्रतीक है कि भाई का शरीर वज्रवत् बलिष्ठ हो । भ्रातृ-द्वितीया भाई-बहिन का त्योहार है । उस दिन से एक मास तक बहिने प्रतिदिन भोर मे भाई के निमित्त सामूहिक गान करती है, जिसे 'चकवा' चराना कहते है । चकवा भाई का और खँडरिच (खजन)

1. बाँस से सूप के आकार का बना खिलौना
2. हृदय मे
3. बहुत दिन
4. प्रतीक्षा करती होगी
5. बाबा का रोअले गंगा बढ़ि अइली ।
6. मटर के दाने

बहिन का प्रतीक है—

'चकवा भइया चले ले अहेरिया, खँडरिचा बहिना देली असीस ।

भोजपुरी लोकगीतों मे भाई-बहिन के अनेक आदर्श चित्र अंकित हैं । एक भाई अपनी पत्नी से बिगड़ कर परदेश चला गया है । बहिन को भौजाई का कष्ट और भाई का वियोग असह्य हो उठा है । वह सत्तू बाँधकर भाई को ढूंढने निकल पड़ती है और ढूंढ ही लाती है । उसके इस काम से नइहर(मायका) बस जाता है—

'आरे मोर ननदी उजरल नइहरवा[1] तू बसावेलू हो ना ।

एक बहिन किसी भाई से रुष्ट हो गई, इसलिए उसने अपने उत्सव मे भाई को आमन्त्रित नही किया । उसके उत्सव मे बहुत से लोग आए, पर भाई के बिना सारा उत्सव उसे उदास लगने लगा, हृदय पीडा से कचोटने लगा । उसने उत्सव की सारी तैयारी स्थगित कर दी और भाई-भौजाई को तीव्रगामी भौरे द्वारा सन्देशा भेजकर बुला लेने के पश्चात् ही उसने उत्सव मनाया । भाई की अनुपस्थिति मे बहिन का उत्सव ही क्या ? जैसे भाई बहिन का उत्सव है वैसे ही बहिन भाई का । भाई के हर्ष-विषाद, दु:ख-सुख प्रत्येक अवसर पर बहिन उपस्थित होती और उसे सहयोग तथा सान्त्वना देती है । यही बात भाई के विषय मे भी कही जा सकती है ।

एक भाई का विवाह होना निश्चित हो गया है, वह अपने बहनोई को बारात में जाने के लिए बुलाने पहुँचा है । साले से बहनोई जी की फरमाइश सुनिए—

'हमरा के ए सारे हथिया बेसहिह[2], हमरा खवासे के घोड ।
हमरा रनिवसवा[3] के डँडिया फनइह[4] तब हम चलब बरात ।।

बहनोई की लोभवृत्ति देखकर साले की आँखें लाल हो जाती है और वह यह कहते हुए उठ पडता है कि इतना मैं कहाँ से ले आऊँगा, किन्तु जब बहिन को इस घटना का पता चलता है तो वह तुरन्त घर से बाहर आकर भाई से कहती है—भाई, रुको, सुरही गाय के दूध से बनी हुई मीठी खीर खालो मैं तुम्हारे साथ चलूंगी—

खिरकी के बाहर होके बोलेली कवन बहिना, काहे भइया होल बेदिल[5]
खाइलऽभइया सुरहिया गाइ के खिरिया, हमहूँ चलब तोहरा साथ ।।

जैसे भाई के प्रति बहिन का प्रेम है, वैसे ही बहिन के प्रति भाई का भी । अपने बाग मे गोपीचन्द बेर की डाली लटकाये हुए थे और उनकी रूकमिनि बहिन बेर फल तोडकर खा रही थी । अकस्मात् उनके हाथ से डाल छुट गई और डाल मे उलझकर रुकमिनि की साडी फट गई । रुकमिनि रोती हुई माता के पास गई और साडी फटने का कारण गोपीचन्द को बताया । क्रुद्ध माता ने गोपीचन्द

1. मायका, पीहर
2. खरीदना
3. रानि
4. डलि लाना
5 बेदिल—दु:ख, वेदनायुक्त

को फटकारते हुए कहा—

"जरहि गोपीचंद तोरी चेलकइया,
आरे भाई-वहिन कवन ठिठोली[1] होना।

माता की फटकार से लज्जित होकर गोपीचन्द योगी हो गए, किंतु जब माता को इस बात का पता चला कि गोपीचन्द निर्दोष हैं तो उसने पुत्री से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और गोपीचद से कहा कि वहिन के दरवाजे पर कभी न जाना। इस पर गोपीचद का उत्तर कितना मार्मिक है—

"सबके दुअरियाँ माई घुमि फिरि आइब
रुकमिनि दुअरियाँ धुनिया रमाइब होना।
माई रुकमिनि हई मोर बहिनियाँ होना
माई कहाँ मिलिहे रुकमिनि वहिनिया होना॥

किसी वहिन को पक्षी द्वारा पता चला कि उसके भाई को पुत्र हुआ है। वह प्रसन्न होकर जन्मोत्सव मे सम्मिलित होने के लिए सास से आज्ञा माँगने गई। सास ने उसे बहुत समझाया कि बिना बुलाये किसी के उत्सव मे नही जाना चाहिए, उससे अपमान होता है, किन्तु उसके हठ पर सास ने आज्ञा दे दी। जब वह भाई के घर पहुँची तो उस समय भाई वहाँ न था। भौजाई को ननद का आगमन अच्छा नहीं लगा। उसने उसे खाने के लिए खुँखड़ी और खोइँछा मे बनउर दिया। इस अपमान से मर्माहत होकर वहिन उलटे पाँव लौट पड़ी। किन्तु जब भाई घर आया और उसे वहिन के उलटे पाँव लौटने का पता चला तो वह भी वहिन की खोज मे उलटे पाँव दौड़ पड़ा। वहिन मार्ग मे मिल गई। उसने वहिन को वही छाये में बैठा दिया और घर आकर पत्नी से कहा कि तुम्हारे मायके सौगात भेजनी है, जल्दी तैयारी करो। उसकी पत्नी उसे पीताम्बर और मुहर निकाल कर देती है। वह सारी चीजे वहिन को ले जाकर दे देता है और कहता है कि अब तुम जा सकती हो—

'पहिरहु ए बहिन पीताम्बर, मोहर लेहु खोइछवा[2],
चेतहु घरवा आपन[3]॥

इसी प्रकार एक दूसरी वहिन ने भी अपने भतीजे के जन्मोत्सव मे भौजाई से उसका जगमोहन हार माँगा, जिसे इसकी भौजाई ने नहीं दिया अत. वह रुष्ट होकर घर चली गई। जब इस बात का पता भाई को लगा तो वह पत्नी को साथ लेकर उसे मनाने गया। वहिन भाई को देखकर बहुत प्रसन्न हुई। उसने भौजाई को कई जगमोहन हार देकर विदा किया, जिससे भौजाई को बड़ी झेंप हुई।

वहिन भाई के धन की भूखी नही होती, वह तो उसकी खुशहाली चाहती है। एक भाई द्यूत-गृह मे बैठा हुआ है। उसके इस कार्य से दु खी वहिन बार-बार उसे

1. हँसी-मजाक
2 खोइछा, आचल मे डाली गई सामग्री, उपहार
3. अपने घर जाओ।

बुला रही है। वह बाहर निकल कर कहता है— हे बहिन बावा की सपत्ति मे से मैं तुम्हारा भाग तुम्हें दे दूँगा। इस पर बहिन कहती है—

',बावा के सपतिया भइया तोहरे के बाढ़ो हमरा मोटरिये[1] के आस।

मैं तो तुम्हे दुर्व्यसन से मना करने आई हूँ।

हिन्दू–धर्म के अनुसार विवाह की आवश्यकता पुत्र जन्म के लिए है क्योकि पुत्र द्वारा देव–पितर को हव्य-कव्य देने की परम्परा चलती रहती है। इसलिए जिसे पुत्र नही होता, वह अपने जीवन को निरर्थक मान्ता है। पुरुप की अपेक्षा स्त्रियाँ पुत्रवती होने की विशेप आकाक्षा रखती हैं, जिन्हे पुत्र नही होता, वे पुत्र हेतु नाना प्रकार जप-तप और देवाराधन करती है—

"हमरे प्रभुजी शिव-नोकर[2] न शिव नहवाईले।
हम धनी खोरिया वटोरीले[3] एक रे संतति लागि।।

शिवोपासना भला कैसे निरर्थक हो सकती हे? शिव-सेविका को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। उसकी युगों की साध्र पूरी हुई, वह शिव-मन्दिर में धूम-धाम के साथ सोने का अरघा चढ़ाने जा रही है—

"पूजिगइल मन के मनोरथ, हृदय के सोहर।
उमडि-घुमड़ि शिव के पूजेली अवरो से पूजेली,
शिवजी हमरो मनसवा पुरवली[4] ते हमहुं पूजन अइली।।

एक स्त्री सतान नहीं होने से ऊवकर गगा मे डूबने चली है। दयालु गगाजी उसकी करुण पुकार से द्रवित हो जाती है और उसके भाग्य मे सतति न होते हुए भी उसे पुत्रवती होने का वर देती हैं—

गंगाजी के ऊँच अररवा[5] तिरियवा एक रोदेले।
गंगाजी आपन लहरि हमे दीतू त हम डुवि मरती।
किया तोरा सासु–ननद दुख, नइहर दूर वसे।
किया तोर कंत विदेसे कवन दुख अवहे।।[6]
नाही मोरा सासु–ननद दुख, नइहर दूर बसे।
नाही मोर कंत विदेसे, कोखिया दुख अवहे।।[7]
जाहु तिवई[8] घर आपन अवरो से आपन

1. सौगात, पाहुर
2. मेरे पति भगवान शिव के सेवक है।
3 मैं शिव मन्दिर का मार्ग साफ करती हू।
4, मेरी अभिलापा पूरी की।
5. तट
6. कष्ट दे रहा है
7. सतान का अभाव कष्ट दे रहा है।
8. स्त्री, नारी

आपन वालक हम मारब तोहर जियादूब ॥

गगाजी की कृपा से नारी की साध पूरी हुई। उसकी कोख से सबका दु.ख दूर करने वाले नारायण उत्पन्न हुए। आनन्द–बधाव बजने लगा। सोहर के लय मे नारियो का स्वर फूट पड़ा। उत्सव के वातावरण मे नाचती हुई ननद बधावा लेकर आयी—

जनमेले अलख निरजन सव दुख भजन।
वाजे लागल अनद वधाव उठन लागे सोहर ॥

कौवे द्वारा शकुन कराने की प्रथा वहुत पुरानी है। प्रवासी पति के आगमन की प्रतीक्षा करती हुई दो बहिने ओलती पर वैठे हुए काग से पूछ रही है—

"गोरी रे साँवरि दुनो बहिन मनहिं मन झखेली।[1]
ए काग जियरा बुडेला उतराला[2], साहेब नाही अइले।

एक स्त्री आँगन बुहारती हुई मकान की ओलती पर वैठे कौवे से मायके का हाल पूछ रही है—

"गोरी विटिउआ अंग पातर मुँहवा के ढुरहुर[3]
झुकि-झुकि अगना वहारेली, कगवा उचारेली
किया काग भेजेले माई वाप किया रे वीरन भइया
वोलिया सोहावन ॥

एक पति ने अपनी नव-वधू को उदास देखकर उदासी का कारण पूछा। पत्नी ने कहा—

"लहुरा देवरवा मारे लाली छडियवा ए ही गुने वदन मलीन।

इस पर पति उत्तेजित होकर कहने लगता है—

"माई के निकालव खरी दुपहरिया, बहिन मुगल घरें जासु।
लहुरा भइयवा[4] जइहे जीरा कालदनियाँ, हम तू हूँ विलसव राज ॥

इसका उत्तर देते हुए उसकी वधू जो कुछ कहती है, वह उसके निर्मल आकाश के समान ऊँचा उठे हुए चरित्र मे चार चाँद लगा देता है—

"माई त हई रउरा घरही के देवता, वहिन वडेंरिया के काग।[5]
लहुरा भइयवा हउअन दाहिन बहियाँ से कइसे जइहे परदेस ॥

एक पति ने रुष्ट होकर पत्नी से बातचीत करना बन्द कर दिया है और घर के वाहर ओसारे मे पुवाल विछा कर सो रहा है। पत्नी मेघ से प्रार्थना करती है कि ऐसी अन्धड़ वाली वर्षा हो कि पति को स्थान के लिए विवश होना पडे। मेघ ने

1. चिन्ता करती है
2. हृदय व्याकुल है
3. सुन्दर मुँह वाली
4. छोटा भाई
5. जो स्थायी नही रहेगी

उसकी प्रार्थना सुन ली। उसके पति का पुवाल हवा में उड गया और ओलती के नीचे खडा होकर पत्नी से किवाड खोलने के लिए प्रार्थना करने लगा—

"ए धनिया तनी एक खोलि तू केवडिया पयँत लागि सूतित।

उत्तर मे पत्नी कहती है—

"एही ठइयाँ बाडी मोर सासु त सगही ननद सोवे
नीचे ठइयाँ बाटे होरिलवा[1] जगहियो ना बाटे।

एक अन्य पत्नी ने भी अपने पति को खूब ही छकाया। वह घर के पिछवारे झूल रही थी। रात मे देर होते देख पति किवाड़ बन्द कर भीतर सोने चला गया और पत्नी के बार–बार कहने पर भी नही खोल रहा था। पत्नी को एक हँसी सूझ गई। उसने कुएँ मे एक ईंट फेक दी, जिसकी आवाज पति के कानो मे पडी। उसने समझा पत्नी कुँएँ मे कूद पडी। वह किवाड खोलकर चिल्लाने लगा— दौडो–दौडो कुँएँ मे मेरी पत्नी गिर पड़ी है। लोग दौड़ पडे तो देखा कि उसकी पत्नी ओलती के नीचे खडी है।[2]

मध्य युग मे मुसलमान शासक कभी–कभी हिन्दुओ की सुन्दर लडकियो को बलात्कार हेतु छीन लेते थे। एक मिर्जा किसी की लडकी को बलात् छीन कर ले जा रहा है। लड़की पिता के तालाब को देखकर वहाँ डोला रखने का आग्रह करती है और मिर्जा से आज्ञा लेकर उसमे नहाने जाती है, परन्तु उसी मे जल–समाधि ले लेती है। मिर्जा तो रोने लगता है, परन्तु कन्या के माता–पिता प्रसन्न होकर तालाब में जाल डलवाते है और कहते है—

वह धन्य है, मेरी इज्जत बचा ली।

"हँसि-हँसि बाबा हो जलिया डलावे, मोर कुल तरलसि[3] भागीरथी धियवा होना।

एक बाल–विधवा का चित्र कितना करुण है—

"बाबा सिर मोर रोवेला सेनुर बिनु, नयना काजर बिनु ए राम।
बाबा गोद मोरे रोवेला बालक बिनु, सेजिया कन्हैया बिनु हो राम।

कोई–कोई सास–ननद बहुओ को तग किया करती है और बात–बात मे उसे गाली सुना देती है। नाहक गाली देने पर वधू सास से पूछती है— हे सास! मेरे भाई भतीजे ने कौन सा अपराध किया है—

"काहे गरिया बहु सासु भइया भतिजवा हो ना।

एक माता ने अपनी पुत्री से उसके पति के विषय मे पूछा। उसने कहा कि मेरे स्वामी भगवान विष्णु की तरह उदार है। वे प्रतिदिन साठ गाये सरयू–तट पर दान करते है। और मेरी अजली मे साठ स्वर्ण मुद्रायें देते है। मेरा ध्यान सदा

1. बच्चा
2. धावऽ धावऽ गउँआ के लोगवा मोरधनी गिरली दूनार लोय।
हमधनी दुअरिये पर ठाढ़ कोय॥
3. उद्धार कर दिया

रखते है ।वे भोलानाथ है । माता मन ही मन प्रसन्न हुई और वेटी से कहा—

"चुप रह वेटी, यह वात फिर किसी से न कहना नही तो दुष्ट लोग तुम्हारे सुख को न सह सकेंगे और तुम दोनों मे झगड़ा लगा देंगे—

"चुप रह ए वेटी चुप रह असहन[1] जनि सुने दुसमन ज़ुनि सुने ।
ए वेटी सुनि लीहे तोर दुसमनवाँ चतुर करि दीहें ।।[2]

इस प्रकार भोजपुरी लोकगीतो में नाना प्रकार के सामाजिक और पारिवारिक चित्र अकित है । इस दृष्टि से वह शिष्ट–साहित्य से अधिक उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण है ।

लिलिकर, बलिया





1. जो किसी की उन्नति और सुख को नही सह सकते, खलजन
2. उलटा सिखा देंगे ।

अवधी लोकगीत

त्रिभुवन नाथ शर्मा 'मधु'

अवधी लोक-साहित्य एव अवधी लोकगीतो का प्रसूति-स्थल अवध प्रात ही है। इस स्थल विशेष मे बाराबंकी, फैजाबाद, गोडा, लखनऊ, प्रतापगढ और सुलतानपुर आदि जनपदो की गणना प्रमुख है। सीमास्थित होने के कारण रायबरेली और और सीतापुर का भी कुछ भाग अवधी का स्थल कहा तथा माना जाता है।

प्रकृतिप्रदत्त मधुमय मधुरिमा लोकस्थलो (गाँवो) मे ही सुलभ है। नगर के मानव-रचित अस्वाभाविक दृश्यों मे यह नैसर्गिक आनन्द कहाँ? नागरिक दृश्यो में क्षणिक अवलोकनानद भले ही प्राप्त हो, मानस मनोवृत्ति-अनुरजना के इनमे कोई तत्त्व नही हैं, फिर भला लोकगीतो की पुनीत प्रादुर्भावना इस सीमित वातावरण मे कैसे सभव हो सकेगी? लोक और लोक मानवो की सर्वांग स्वस्थता स्वय सिद्ध सी है। अवध की लोक ललनाएँ सघन सावनी घटाओ को देखकर झूले पर पैंग लगाती मुक्त कंठ से सामूहिक स्वर मे मल्हार की रागिनी पुरवैया के लहरे मे लहरा देती है—

"जात नगरिया मैं भूलि डगरिया, अब सुधि लेवे मोरे राम हो।
तलवा माँ चमकै ताल कै मछरिया, रन चमकै तरवारि हो।
सभा विच चमकै पिया कै पगडिया, सेजिया पै विंदिया हमारि हो।"

कामिनी कठ की कोमल काकली पवन-प्रसग से अतरिक्ष मे गूँज गई। उमड़े जलधर वसुधा पर बरवस बरस पड़े। उमड़ कर बह चले सरित-सरोवर, नद-नदियाँ। तभी गान की तान कजली मे बदलकर जल वृष्टि को सुधा वृष्टि का रूप देने लगी—

'सुन्दरि बैठी रे खि़रकिया खैंचै सिर चोटी के बार।
सुन्दरि के बार रेसम के लच्छा, चोटिया करत बहार।
सुन्दरि की आँखी आम की फाँकी, सुरमा करत बहार।
सुन्दरि के दाँत अनार के दाना, मिसिया करत बहार।"

बरसते बादलो की सभा पुरुषो के हृदयों को भी प्रभावित कर गयी। किसी छपरैली चौपाल मे बज उठी ढोल, गमक उठी आल्हा की वीरध्वनि—

"सदा तोरय्या न बन फूलै, यारो सदा न सावन होय।
सदा न राजा रन पर चढ़ि है, दुनिया सदा न जीवै कोय।"

गाँव का गँवार अपनी लोकभापा मे मानव के वास्तविक मनोभावो का सकेत दे गया। यह जिन्दादिली लोक-जीवन मे ही मिलती है।

इतना ही नहीं, वन-बागो, बेलि-विटपो के कुसुम-कुजो से झाँकते ऋतुराज की बाँकी झाँकी देख बौराए रसाल की डाल से कोयलिया कूक उठती है। ग्रामवासी घास का गट्ठर सिर पर रखे खेतों से गाँव की ओर आता हुआ कलकठ से कठ मिलाकर अनायास गा उठता है—

"बगिया माँ बोलै कोयलिया रे भैया, कोयलिया रे भैया मोरवा करत बन सोर।
मोरे घर चहकै सोने कै चिरैया, लखि हुलसै जिय मोर॥"

रीति शाखा के प्रकाड पडितो मे क्या दम है कि इस बिरहा लोकगीत के रचनाकार की सोने की चिरैया की उपमा की होड़ मे कोई नायिका ला पाएँ।

मधुमास के प्रमुख मास (फागुन) के होली सम्बधी लोकगीतो की बड़ी लोक महत्ता है। चौताल, रसिया, कबीरे, धमार आदि लोक रागो से मानव मात्र मे स्वाभाविक ही सम-सामयिक भावोद्दीपन होता है। गले मे ढोल, पखावज डाले गलियों में फाग-राग गाती होलिहारों की टोली वातावरण को निताात बासती बना देती हैं। फाग प्रत्यक्ष साकार सा दिखाई देता है। प्रमाण स्वरूप दो ही पक्तियाँ पर्याप्त है—

"कोई बचै न पावै बाल गलिन माँ, मारू रग भरि, होली है।
उड़त गुलाल लाल भये बादर, जमुना ह्वै गई लाल, गलिन माँ मारू॥"

इस प्रकार ऋतु अनुकूल अनेक प्रकार के लोकगीत गाँव की गलियो, चौपालों आदि में प्राय. गूँजते ही रहते हैं। उन्मुक्त वातास मे खुलकर खेलने वाले गाँव के जीवन की सुख-दु:खमयी अवस्थाओ का समन्वय लोक गीतो के ही द्वारा होता रहता है। गाँव का जन समाज, जन्म से मरण तक सभी समीचीन सस्कारो मे इन्ही लोकगीतों का माध्यम लेकर अपने मनोभाव व्यक्त करता रहता है। अन्तर केवल ध्वनि और लय का होता है। हम सर्व प्रथम जन्मोत्सव की ही ओर चलते है। जन्म सम्बंधी लोकगीतो की दो प्रसिद्ध ध्वनियाँ अवध के प्राय सभी गाँवो मे प्रचलित है—बधैया और सोहर। कृष्ण-जन्म पर परम प्रसिद्ध बधैया की पक्तियाँ कितनी मधुर है,

"गोकुल माँ जन्मे कुवर कन्हैया। गोकुल माँ ०॥
नन्द लुटावैं अन-धन-सोनवा, ब्रज-जन लेत बलैया। गोकुल माँ ०॥
गोद लिहे चूमैं दुलरावैं, प्रेम-दिवानी मैया। गोकुल माँ ०॥
मगन 'मृगेश' गगन सुर ठाढ़े, बाजै अनन्द बधैया। गोकुल माँ ०॥

"बाजै अनन्द बधैया" का शब्द नाद सगीत-ध्वनि की साकारता को सामने लाकर बधैया की सत्यता का परम प्रतीक बन जाता है। वही सोहर का सहगान बालक के जन्मकाल का सच्चा मनोवैज्ञानिक विश्लेपण-सा करता प्रतीत होता है। पढ़िए:—

"लहरि-लहरि पीरैं आवैं कोई नाहिं जागै हो। कोई नाहिं ०॥
जागै यक लहुरी ननदिया सो दियना जलावैं हो।
होत भोर पव फाटत [illegible] जनम लीन्हे हो।
[illegible] अनंद बधै[illegible] सोहर हो।"

'होत भोर पव फाटत होरिला जनम लीन्हे' मे लोक ललनाओं का उल्लास है और 'आनन्द बधैया' उनके हृदयानन्द का प्रतीक प्रतिबिम्ब।

हमारे लोकजीवन मे देवी-देवताओं की महिमा महान है। देवियाँ तो दयामयी माता है। यही कारण है हमारी लोक ललनाएँ ग्रामोत्सवो तथा गृहोत्सवो मे सामूहिक लोकगान को देवी-वन्दना के गीतो से ही आरम्भ करती हैं। इन देवी-गीतों को पचरा, माता के गीत, भवानी के गीत तथा देवी-गीत आदि कहते हैं। देवी गीतो की सरस ध्वनि और सरल धारावाहिक गति मे माता की ममता और अशीष वरसती सी लगती है। सारा कार्य मगलमय सफलता से भरा प्रतीत होता है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

जन्म के समय का गीत—

"भवानी मोरे अँगना ह्वै गईं हो।
होरिलवा दछिना दै गईं हो॥"

विवाह के समय का गीत—

"मलिनियाँ ! माता का फूल चढाव।
नेवति मोरे मड़ये माँ लै आव॥"

पचरा गीत (शीतला प्रकोप मे)—

"माई ! मँगता का दै दिऔ भीख हो।
ठाढ द्वारे पुकारै।"

देवी गात—

"माता के द्वारे इक अँधरा पुकारै।
हमका नयन मिलि जाय हो, माता फुलवा चढौबै।"

विवाह-मंडपो का लोक लावण्य उस समय भरपूर छलक उठता है जव सामयिक-सरस लोक गीतो को लोक गायिकाएँ सामूहिक स्वर मे गाने लगती है। वर की माता अपने इकलौते भाई से किन्हीं कारणों से रुष्ट हो गयी थी। इसी झोक मे उसने वेटे के विवाह का निमत्रण नही दिया। उत्सव के दिन इस स्मृति विशेष की मनोवेदना गीत का रूप ले लेती है—

"ओ मोरी कारी कोयलिया, अँगन मोरे आवहु री।
क्वैलरि ! आजु मोरे पहिल वियाहु, नेवता लै कै आवहु री।
न्योत्यों मै परिजन-पुरजन औ अजियाउर हो
क्वैलरि ! यक नाहि न्योत्यो विरन भइया, जिनसे मै रूठीहुँ हो
जो उनका नेवति लइ अइहौ वराती बनैहौ हो
क्वेली ! सुवरन से मढ़ि जइहो सबै सुख पइहौ हो।"

तेल पूजन के दिन, बहुओ को लोक कृत्य का आदेश विवाह गीत के माध्यम से देती हुई वृद्धाओ की गान गति मे आइए—

"सिल प्वाहो वहुवर, सिल प्वाहौ वहुवर,

इतना ही नही, वन–बागो, वेलि-विटपो के कुसुम-कुजो से झाँकते ऋतुराज की बाँकी झाँकी देख बौराए रसाल की डाल से कोयलिया कूक उठती है। ग्रामवासी घास का गट्ठर सिर पर रखे खेतो से गाँव की ओर आता हुआ कलकंठ से कठ मिलाकर अनायास गा उठता है—

"बगिया माँ बोलै कोयलिया रे भैया, कोयलिया रे भैया मोरवा करत बन सोर।
मोरे घर चहकै सोने कै चिरैया, लखि हुलसै जिय मोर ॥"

रीति शाखा के प्रकाड पडितो मे क्या दम है कि इस बिरहा लोकगीत के रचनाकार की सोने की चिरैया की उपमा की होड़ मे कोई नायिका ला पाएँ।

मधुमास के प्रमुख मास (फागुन) के होली सम्बधी लोकगीतो की बडी लोक महत्ता है। चौताल, रसिया, कबीरें, धमार आदि लोक रागो से मानव मात्र मे स्वाभाविक ही सम-सामयिक भावोद्दीपन होता है। गले मे ढोल, पखावज डाले गलियो में फाग-राग गाती होलिहारों की टोली वातावरण को नितात वासती बना देती है। फाग प्रत्यक्ष साकार सा दिखाई देता है। प्रमाण स्वरूप दो ही पक्तियाँ पर्याप्त हैं—

"कोई बचौ न पावै बाल गलिन माँ, मारू रग भरि, होली है।
उड़त गुलाल लाल भये बादर, जमुना ह्वै गई लाल, गलिन माँ मारू ॥"

इस प्रकार ऋतु अनुकूल अनेक प्रकार के लोकगीत गाँव की गलियो, चौपालो आदि में प्राय. गूँजते ही रहते है। उन्मुक्त वातास मे खुलकर खेलने वाले गाँव के जीवन की सुख-दुःखमयी अवस्थाओ का समन्वय लोक गीतो के ही द्वारा होता रहता है। गाँव का जन समाज, जन्म से मरण तक सभी समीचीन संस्कारो मे इन्ही लोकगीतों का माध्यम लेकर अपने मनोभाव व्यक्त करता रहता है। अन्तर केवल ध्वनि और लय का होता है। हम सर्व प्रथम जन्मोत्सव की ही ओर चलते हैं। जन्म सम्बंधी लोकगीतो की दो प्रसिद्ध ध्वनियाँ अवध के प्राय· सभी गाँवो मे प्रचलित है—बधैया और सोहर। कृष्ण-जन्म पर परम प्रसिद्ध बधैया की पंक्तियाँ कितनी मधुर है,

"गोकुल माँ जन्मे कुवर कन्हैया। गोकुल माँ ० ॥
नन्द लुटावैं अन-धन-सोनवा, ब्रज-जन लेत बलैया। गोकुल माँ ० ॥
गोद लिहे चूमैं दुलरावैं, प्रेम-दिवानी मैया। गोकुल माँ ० ॥
मगन 'मृगेश' गगन सुर ठाढ़े, बाजै अनन्द बधैया। गोकुल माँ ० ॥

"बाजै अनन्द बधैया" का शब्द नाद सगीत-ध्वनि की साकारता को सामने लाकर बधैया की सत्यता का परम प्रतीक बन जाता है। वही सोहर का सहगान बालक के जन्मकाल का सच्चा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-सा करता प्रतीत होता है। पढ़िए:—

"लहरि-लहरि पीरें आवैं कोई नाहि जागै हो। कोई नाहि ० ॥
जागै यक लहुरी ननदिया मो दियना जलावै हो।
होत भोर पव फाटत होरिला जनम लीन्हे हो।
बजै लागी अनद बधैया, गावैं सखी सोहर हो।"

पग-पग घूमि निहारै, विचारै, सिरजी को देसवा हमार, राजा भरथरी ।।"
(भरथरी गीत)

लोक-गीतों में गाँव के सरल-सीधे मानव का सवेदनशील हृदय बोलता रहता है। लोक मनोवृति लोक कल्याण के कितने निकट है, यह गाँव-गीत उसका खुला प्रमाण देते हैं। भारत का भिखारी भी गाँव की गलियो मे इसी भावना का प्रकटीकरण करता है। देखिए–

1 "घर के भैयन कै खैर माँगै चुनुवा फकीर।
गाई-भइँसिन कै खैर माँगै चुनुवा फकीर।।"

2 "माई बाढ़ै तोहार परिवार भिखारी का भीख मिलै।"

लोक वातावरण में ही कल्याण-कामना से विभोर हो हमारा लोक कवि मुक्त वाणी मे बोल उठा था। चन्दा उगाहने में भी मंगल कामना–

"कासी पुन्य, गया माँ पुन्य, बाबा बैजनाथ माँ पुन्य, हर गगा।
जो तुम द्याहौ बहुत खिझाय, या कौन्यू भलमसी आय, हर गगा।
बाँभन का तुम दछिना देव, दूध-पूत नित माँगे लेव, हर गंगा।
तुमरे बस बाँभन के प्रान, ज्यादा कौनु बकै जजमान, हर गंगा।"

इन लोक ध्वनियों में संत-रागो का मिश्रण भी सुष्ठ और सरल है। भारत के परम्परित वाद्य खंझड़ी मृदग, ढफ, इकतारा आदि के साथ तल्लीन होकर गीत-ध्वनियो की विवि ा में यह साधक संत भगवान से अपना भौतिक तथा आध्यात्मिक सम्वन्ध जोड़ने में वडे निपुण थे। इस कला को लोक गीतो का ही रूप देना उन्हे जनोपयोगी जँचता था। कुछ उद्धरण सामने लाना समीचीन होगा। देखिए–

1 सुनोरी मोरी गोइयाँ गवन लगिचान।
बिदा-बिदाई होत लड़ाई तीर चलै घमसान,
कटि-कटि मूँड़ गिरै धरती पर सँइयाँ के मूड़े बेसान। सुनो० ।।

यह गवन (गौना) महाप्रयाण है। सँइयाँ प्राण वायु है। कितना सधा रूपक है।

2 बालम लगे सोय गई पाँचौ जनी।
पाँची नारि सरब गुन आगरि,
पाँचौ कै चेरी पचीसौ जनी'। बालम० ।।
पाँचौ का मारि पचीसौ का बस किहौ।
जब द्याखौ तब याकै जनी। बालम० ।।

बालम का सकेत ईश्वर से है। पाँच, पचीस मे पंच तत्त्व, उप तत्त्व लाकर 'निवृति' साधना मे उन्हे मारकर, अन्त मे याकै जनी (एकेश्वर) की रूप की वृत्ति लाई गई है।

3 चले बिन बिछुवा बाजै हमार।
जल-थल बाजै पताल माँ बाजै।
तीनि लोक मची हाहाकार। चले० ।।

नौरे का पहिर पटोर। तौ सिल प्वाहौ।"

प्रत्येक वैवाहिक कार्य मे ललनाओ की लोक ध्वनि सग्रथित सी है। यहाँ तक कि मडप के नीचे महिलाओ के गाली गीत भी अपना स्थान बनाये चले आ रहे हैं। ये गालियाँ क्यो गायी जाती हैं, यह मनौवैज्ञानिक विश्लेषण का विपय है। गालियाँ तो नही, उनकी अनुभूति रूप में एक पंक्ति अवश्य प्रस्तुत की जा रही है–

"ई गारी है सुख कै मूल राम रग बरसै हो।"

गाँव-गँवारिनियो के कोई–कोई गीत, कथा–कहानी के रूप में कभी-कभी कठ से उन्ही की भापा और ध्वनि में प्रसूत होकर भारतीय सास्कृतिक परम्परा का व्यापक प्रभाव उत्पन्न कर देते है। प्राय जाडे के दिनो मे गाँव की हरिजन वस्तियो से रात के पिछले पहर चलती चक्कियो के स्वर मे मिला अशिक्षित नारी का मार्मिक स्वर श्रवण-रध्रो से उतर कर मानस-मथन मचा देता है। स्थानाभाव से इन लम्वे-लम्वे जाँतसारी गीतो की प्रस्तुति यहाँ संभव नही है, फिर भी उनकी मार्मिकता की झलक, कुछ पक्तियो को सामने रख कर, दी जा रही है—

"ई जग माँ भैया! वैसे जियवु, जैसे–
ख्यात माँ ककरी औ खिरवा हो राम।
जस-मुजवा के रे भारे क नजवा, औ
नदिया-कगारे जैसे विरवा हो राम।
वँदरा के हाथे जैसे फलु मोरे भइया! औ
जस साँपे-मुँह माँ मेजुकिया हो राम,
वैसे जियन का न तनकौ भर्वासा, ई ते
जनि वाँधौ पाप की गठरिया हो राम।"

इन दिव्य गीतो की गाथा वड़े विस्तार की है। अनेक स्फुट गीतो मे भी लोक लहर का लालित्य, नाना गीत गतियों मे प्रवाहित हो गाँव की वीथियो मे सदा वहार किए रहता है। यथा–

1 अँगनैया विच निवुला लगाया ना गये। (कहरवा)
2 सुनौ री मोरी गोइयाँ गवन लगिचान। (चिकारा ध्वनि)
3 मोटी–मोटी रोटी लायो चना की
ऊपर कुलफिया का साग, वरेठिन। ऊपर ०॥ (धोविया राग)
4 सलोने सैंयाँ सलुवा लै आजो सरावोर
किनारी लायो न्यारी हो महराज। (दादरा गीत)

अवधी के पारम्परिक लोक-गीतों में राष्ट्रीय भावनाओ को भी पर्याप्त अन्तः व्याप्ति पायी जाती है। प्रस्तुत पक्तियाँ इसकी साक्षी है।

"हम वहि देसवा के वासी रे भइया जहाँ वहै गगा कै धार।
गौरी-गनेस करै रखवारी का करैं वैरी हमार॥" (धोवी-विरहा)
"लागिगै च्वाट करेजवा माँ कसकी, छोड़ि चले घर वार, राजा भरथरी।

पग-पग घूमि निहारैं, विचारैं, सिरजी को देसवा हमार, राजा भरथरी ॥"

(भरथरी गीत)

लोक-गीतों में गाँव के सरल–सीधे मानव का सवेदनशील हृदय बोलता रहता है। लोक मनोवृति लोक कल्याण के कितने निकट है, यह गाँव-गीत उसका खुला प्रमाण देते हैं। भारत का भिखारी भी गाँव की गलियो मे इसी भावना का प्रकटीकरण करता है। देखिए–

1 "घर के भैयन कै खैर माँगे चुनुवा फकीर।
गाई-भइँसिन कै खैर माँगे चुनुवा फकीर ॥"

2 "माई वाढै तोहार परिवार भिखारी का भीख मिलै।"

लोक वातावरण में ही कल्याण-कामना से विभोर हो हमारा लोक कवि मुक्त वाणी मे वोल उठा था। चन्दा उगाहने मे भी मंगल कामना–

"कासी पुन्य, गया माँ पुन्य, वावा वैंजनाथ माँ पुन्य, हर गगा।
जो तुम द्याहो बहुत खिझाय, या कौन्यू भलमसी आय, हर गगा।
बाँभन का तुम दछिना देव, दूध-पूत नित माँगे लेव, हर गगा।
तुमरे वस बाँभन के प्रान, ज्यादा कौनु वकैं जजमान, हर गंगा।"

इन लोक ध्वनियो में संत-रागो का मिश्रण भी सुष्ठ और सरल है। भारत के परम्परित वाद्य खंझडी मृदग, ढफ, इकतारा आदि के साथ तल्लीन होकर गीत-ध्वनियो की विधि।। में यह साधक सत भगवान से अपना भौतिक तथा आध्यात्मिक सम्वन्ध जोड़ने मे वड़े निपुण थे। इस कला को लोक गीतो का ही रूप देना उन्हे जनोपयोगी जँचता था। कुछ उद्धरण सामने लाना सभीचीन होगा। देखिए–

1 सुनोरी मोरी गोइयाँ गवन लगिचान।
बिदा-विदाई होत लड़ाई तीर चलै घमसान,
कटि-कटि मूँड गिरै धरती पर सँइयाँ के मूडे वेमान। सुनो० ॥

यह गवन (गौना) महाप्रयाण है। सँइयाँ प्राण वायु है। कितना सधा रूपक है।

2 वालम लगे सोय गईं पाँचौ जनी।
पाँचौ नारि सरत्र गुन आगरि,
पाँचौ कै चेरी पचीसौ जनी। वालम० ॥
पाँचौ का मारि पचीसौ का वस किहौ।
जव द्याखौ तव याकै जनी। वालम० ॥

वालम का सकेत ईश्वर से है। पाँच, पचीस मे पच तत्त्व, उप तत्त्व लाकर 'निवृति' साधना मे उन्हें मारकर, अन्त मे याकै जनी (एकेश्वर) की रूप की वृत्ति लाई गई है।

3 चले विन बिछुवा वाजै हमार।
जल–थल बाजै पताल माँ वाजै।
तीनि लोक मची हाहाकार। चले० ॥

विछुवा के मवद सुनै सो चातुर,
भकुहानन्दन फिरै वजार । चले० ॥

प्रस्तुत पंक्तियों मे 'माला चलै न कर चलै आपुइ सुमिरन होय' का तात्पर्य सामने लाया गया है ।

अवध के भजनानंदी साधुओं मे 18 वीं शताब्दी के सन्त, मोहय्यादीन नें अपने 'लहचारी' लोकगीतों मे जो मार्मिकता समाहित की है, वह भी वड़ी अनूठी है । मात्र दो पक्तियो में ही देखें—

"गोरिया तुमरा सँघाती नहिं कोय, जगतिया अपनें मतलब की ।
माई-वाप सव काम के लोभी चाम कै लोभी जोय,
भाई वन्द सव दाम के लोभी गाँठि मरे व माँ रहे टोय । जगतिया० ॥"

इन लोक रागो को लोक वाद्यो के माध्यम से गाता हुआ भारतीय सन्त बड़ी सरलता से गांव की सीधी सरल जनता पर पूर्ण प्रभावी बन जाता है ।

बारावकी (उ० प्र०)



असम के एक विहू गीत का आशय—

मै जल्दी चला जाना चाहता हूँ, परन्तु पैर पीछे चले जाते है ।
'वदति' गाँव की वाढ की ओर । ओरी, जल तरग जैसी छोरी
तू ऐसी काष्ठ हृदया कैसे हुई कि तामोल काट-काट
कर अकेली खाती रही ।

यह छोरी तो पानी पानी हो नाव खेती चल रही है और मैं तट पर भटकता
चल रहा हूँ । अपनी प्रिया को देने के लिए कटी सुपारी मेरी मुठ्ठी मे ही
सूख गयी और शरीर पसीना-पसीना हो गया—

तुमने ही सुपारी काटी, लपेट-लपेट कर पान का वीड़ा वनाया, उसमे लवंग दिया,
मेरे पास आओगी, यही सोचकर तुमने वस्त्र धुलवाया ये, वाते मेरे मन
मे रग लगाकर मुझे अनुरजित कर देती हे ।

अवधी लोक-गीतों में राम चरित

किरन मराली

अवधी लोकगीतो मे धीरोदात्त नायक राम का चरित स्फुट रचना होने के कारण किंचित् भिन्न रूप तथा स्तर का है। इन गीतों में राम-सीता को सहज मानव के रूप मे तथा कृपि-जीवी राज-परिवार के सदस्य के रूप में ही स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि लोकगीतो के राम अपने सगे-स्वजन जैसे लगते है। उनका सहज व्यवहार मानव जैसा ही है। वह साधारण व्यक्ति की भाँति हँसते, रोते, बोलते, क्रुद्ध होते तथा झगड़ा करते है। इतने पर भी मर्यादा पुरुषोत्तम राम की मर्यादा को कही भी ठेस नही लगती। लिपिबद्ध साहित्य की अपेक्षा अवधी लोकगीतों मे राम का सहज मानवीय रूप अधिक उजागर हुआ है। लोकजीवन के आलोक में राम लोकप्रिय, लोक-प्रेमी तथा लोकनायक आदि रूपो मे ही प्रस्तुत होते हैं।

राम भारतीय सस्कृति के आलोक-स्तभ हैं। ये हमारे समस्त सस्कारो, रीति-रिवाजों मे एव व्रत-त्यौहारो मे घुल-मिल कर एकरूप हो गये है। हम मागलिक अवसरों पर उन्ही की जीवन-ज्योति से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। उनका चरित लोक-जीवन मे प्रतीकवत् व्यवहृत होने लगा है और वे जन-मानस की अनुभूति के अग बन गये हैं। लोकमानस अपने सुख-दुःख, हर्ष-विषाद एवं राग-विराग को राम चरित के माध्यय से व्यक्त करता है। तात्पर्य यह है कि राम का लोक के साथ तादात्म्य स्थापित हो गया है कि वे सबके अपने ही बालक हो गये हैं। भावना के इसी स्तर पर लोक की अपनी गृहस्थी राजा दशरथ की गृहस्थी से एकरूप होकर प्रस्तुत हुई है। लोकगीतों मे राम अपने देवत्व और अलौकिकता की प्रतिभा को त्याग कर धरती के सामान्य मनुष्य की तरह प्रकट हुए है। जहाँ शास्त्रीय साहित्यकार राम के सहज मानवीय पक्ष की अतिरजना करते पाये जाते है वही अवधी लोक-गीतकार उनके मानवीय पक्ष को अधिक उजागर करता है।

अवधी लोकगीतो मे राम के चरित मे कही भी माया, इन्द्रजाल अथवा अति मानवीय लीला का स्वरूप नही दिखायी देता है। इसमे राम का चरित चमत्कार रहित है। इसी कारण अहिल्योद्धार जैसी पौराणिक कथा का यहाँ कोई उल्लेख नही पाया जाता है। सत्य, तेज, प्रेम, त्याग, तप, दया, क्षमा, सयम, सौहार्द, मृदुता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, वाण विद्या मे पटुता, विनयशीलता, शान्ति, नीतिज्ञता, -पत्नीव्रत, प्रजावात्सल्य, मातृ-पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति भ्रातप्रेम, शरणागत वत्सलता,

व्यवहार कुशलता, प्रतिज्ञा पालन, दुष्ट दलन, कला प्रियता तथा हास-परिहास-व्यंग्य विनोद प्रियता जैसे गुणो का राम के चरित मे पूर्ण विकास हुआ है। केवल कुछ अवधी लोकगीतो में राम-जन्म वर्णन पर पौराणिकता का आवरण चढ़ा हुआ है। इस कारण उनके चरित का विकास वहाँ अधिक स्पष्ट नही है।

राम की गुरुभक्ति भी आदर्श स्वरूप है। गुरु के प्रति कितनी श्रद्धा-भावना, कितना विश्वास, उनकी सेवा मे कैसी तन्मयता एवं तल्लीनता और उनके साथ बोल चाल में कैसी विनयशीलता होनी चाहिए, इन समस्त बातो का आदर्श राम की गुरुभक्ति में दिखायी देता है। मुनि विश्वामित्र उनके शिक्षा गुरु है। वे गुरु के लिए पुष्प चयन कर पूजा की सामग्री जुटाते है।[1] इतना ही नही, वे गुरु आज्ञा के बिना कोई काम नही करते है। उन्होने गुरु आज्ञा से ही ताड़का तथा मारीच जैसे असुरो का दलन किया।[2] मुनि के साथ राम-लक्ष्मण दोनो भाई जनकपुर मे पधारे।[3] वहाँ धनुष–यज्ञ के समय वडे–वड़े वीर योद्धा उपस्थित थे परन्तु उनसे शिव–धनुष भंग तो दूर रहा वे उसे तिल भर भी न डिगा सके थे। राजा जनक ने निराश होकर कहा कि आज समस्त वसुधरा वीरो से रहित हो गयी। अब लगता है कि सीता आजीवन कुमारी ही रहेगी। उनके बचनों को सुनकर लक्ष्मण उत्तेजित हो उठे। परन्तु समुद्र की तरह गम्भीर राम उन्हे शान्त बैठे रहने का संकेत करते हैं। जब गुरु विश्वामित्र राम को आदेश देते है कि उठो, धनुष–भंग करके राजा जनक

---

1 आये हय राजकुमार फूल फुलवरिया माँ फूलइ।
राजा दसरथ कय बारे दुलारे राम हमार नाव,
फूल फुलवरिया माँ फूलइ॥
हमरे गुरु जी पुजवा करत हय फुलवा तोडब अपने हाथ,
फूल फुलवरिया माँ फूलइ॥
आए हय राजकुमार फूल फुलवरिया माँ फूलइ॥
(निजी सग्रह से)

2. मुनि साथ चलयं रघुराई।
पहिल जाइ ताडका मारेव असुर समूह भगाई॥
मुनिवर जग करना तब लागय धावा मारीच रिसाई।
मारय बान राम तोहिक्य उर सत जोजन उड़ जाई।
बिसवामित्र देखि हरखनि अति आनद न उर समाई॥
(निजी संग्रह से)

3 चलतेउ राम जनकपुर चलतेउ, उहाँ वाटइ धनुष जागि,
हाँ सीता राम सय वने॥
जाइ कय पहुँचे जनकपुर नगरी नगरा के सव केउ देखइ,
हाँ सीता राम सय वने॥
(वहीं)

के दु.ख का निवारण करो ।[1]

तव गुरु आज्ञा पाकर वे मद–मंद मुस्कराते हुए उठे[2] और वडी सरलता से उन्होने धनुष की प्रत्यचा चढाकर उसके खण्ड–खण्ड कर दिये ।[3]

मर्यादा पुरुषोत्तम राम आज्ञाकारी शिष्य की भाँति ही पितृभक्त भी थे। पिता के स्पष्ट आज्ञा के पालन करने की तो बात ही क्या, उनका सकेत पाकर उन्होने चौदह वर्ष के लिए अयोध्या का त्याग कर दिया। राजा दशरथ ने वन-गमन के लिए उन्हे स्पष्ट शब्दो मे आज्ञा नही दी थी। विमाता कैकेयी के द्वारा ही उन्हें पिता की मौन सम्मति का ज्ञान हुआ था। माता कैकयी के कठोर बचनो को सुनकर राम ने बडे हर्ष के साथ विनयपूर्ण शव्दो में कहा कि चाहे इन्द्र और ब्रह्मा अपने सिंहासन का त्याग कर दे परन्तु हम अपने माता-पिता के वचन की रक्षा करेंगे ।[4]

पितृ-भक्ति की भाँति राम का भ्रातृ-प्रेम भी अतुलनीय था। मेघनाद के शक्ति वाण से लक्ष्मण के मूर्छित हो जाने पर राम विकल हो उठते है और वे विलाप करते

---

1 देस–देस कय राजन वटोरउ तिल भर धनुहा न छोडावइ,
हाँ सीता राम सय वने।
अरे राजा जनक केरा भवा पितकोपवा अरे अव सीता रहउ कुवाँरी,
हाँ सीता राम सय वने।
एतना वचगिया सुननि गुरू मुनि अरे रामा कइहन दीहिन आज्ञा
हाँ सीता राम सय वने।
उठतेउ रामा तू धनुखा तुरवेउ अरे जनका कय मिटउतेउ
पितकोपवा, हाँ सीता राम सय वने ॥
(वही)

2 सुनि–मुनि वचन सहज उठि वइठय।
मद–मद हँसि कय पग धारय ।
(निजी सग्रह से)

3. धनुहा तुरिन रामचन्दर जी अरे जय–जयकार मनावई,
हाँ सीता राम सय वने ॥
(वही)

4. राम ठाढ़े हँय सामनता माता सय पूछई हो।
माता, पिता वेदन मोही व ताव त कवने तरह करय हो।
पिता वेदन वावू इ हम तु वन वीचय विचरहु हो।
वावू भरथ कय राज सिंहासन इहव हवै हो।
\+ \+ \+
इदर छोडव इदरासन वरमा छोडव आसन हो
माता–वाप क वचन न छूटइ वचन हम राखव हो ॥
(वही)

हुए कहने लगते हैं कि मैं कौन सा मुँह लेकर अयोध्या लौटूँगा, मैंने एक नारी के लिए अपने प्रिय भाई की बलि चढा दी, अब मै दैत्यो से युद्ध न कर सकूँगा।[1]

अवधी लोकगीतो मे राम के कलाप्रिय होने का भी सकेत मिलता है। उनकी रुचि वास्तु–कला तथा भित्ति–चित्रकला दोनो मे ही जान पडती है। उनकी कला–प्रियता का परिचय उस समय मिलता है जब वह राजा जनक के द्वार पर पहुँच कर राजभवन मे बने झंझरी[2] तथा भित्ति चित्र[3] को देखकर उसकी सराहना करते हुए यहाँ तक कह जाते है कि झझरी तथा भित्ति-चित्र उरेहने वाली कन्या से ही मैं विवाह करूँगा, मुझे दान-दहेज कुछ भी नही चाहिए।

अवधी लोकगीतो के अनुसार राम सदैव गम्भीर ही नही रहते थे अपितु वे प्रसगानुसार व्यंग्य–विनोद करने से भी नही चूकते थे। उनकी वाक्पटुता तथा विनोद प्रियता का पुट तब मिलता है, जब राम पूजा-कक्ष में प्रवेश करते है। सीता की सखियाँ उन्ही के जूतो को चुनरी में लपेट कर द्वार के सामने रख देती है और पूजा-गृह से निकलते समय वे राम से विनोद करती हुई कहती है कि ये चुनरी मे लिपटी हुई तुम्हारी कुल देवी हैं, इनका चरण स्पर्श करो। राम भला पीछे कब हटने वाले थे उन्होने तुरन्त उत्तर दिया कि मुख पर आवरण डालने से यह ज्ञात नही होता है कि यह देवी मुझ पर रुष्ट या प्रसन्न है परन्तु यह सत्य है कि इस देवी ने चुनरी के छोर मे मेरी पनही छिपा ली है।[4]

---

1. अरि हो कवन मुँहा लइकय जाबइ अवध मुँहँ देखइबय रे।
एक ही बाटय जलनी कुमार हमही हाथ पकराबइ रे।
अरि हो एक नारी करति भाई तउ भाई का गवायन रे।
एतना विलाप करई राम जी, राम जी करई रे।
अरि हो अब नाही करवय जुधि तउ लछिमन नाही बाटय रे।
नारी करतिन भइया गवायन तउ वहवा टूटा रे।।
(निजी सग्रह से)

2. दान दहेज सासु कुछ नाही लइबो हो, न लइबो चढने क घोड हो।
जउन तिवइया यहि झँझरी उरेहले तिन्हका मय सग लईन जाब हो।
(निजी सग्रह से)

3. जवनी सीतल देई का बियाहन आयउ तिन यह चित्र उरेहु
\+ \+ \+
जउन सीतल देई यहि चित्र उरेहले तिन्हका मय ब्याह लइ जाव।।
(वही)

4. रुष्ट प्रसन्न जानि कइसे पावउ बिना सरूप दिखाई।
\+ \+ \+
इन देवी चुनरी की छोरी राम जी पकडेव, तुम मेरी पनही चुराई।।
(वही)

इसी प्रकार कोहबर मे बाती टारते समय जनकपुर की स्त्रियाँ व्यंग्य करती हुई राम से कहती है कि नेग लेकर बाती टारो । इस पर राम परिहास करते हुए कहते है कि बाती टारना उन्ही को शोभा देता है जो हमारे साथ जायेगी ।[1] इससे भी अधिक चुटीला व्यंग्य वे उस समय जनकपुर की स्त्रियो के साथ करते है जब वे सब पूछती है कि अकेले राजा दशरथ तीन सौ साठ रानियों को कैसे सन्तुष्ट रखते होगे ? राम के हाजिर जवाबी का तो कहना ही क्या । वे तुरन्त कहते हैं कि हाथ कंगन को आरसी क्या ? एक दिन तुम सब लोग उन्हे अपनी अटारी पर रख कर उनकी परीक्षा क्यो न कर लो ?[2] कुछ लोग शूर्पणखा के प्रति किये गये राम के हास्य-परिहास को उनकी चारित्रिक दुर्बलता बतलाते हैं पर वह भी उनका युवको-चित परिहास ही था जिससे प्रेरित होकर उन्होने लक्ष्मण को कुवाँरा बताया था [3]

हास्य-विनोद प्रिय राम विशाल हृदय भी थे। उनका स्नेह सभ्य मनुष्य मात्र तक ही सीमित न था अपितु पशु-पक्षियों, वानरों आदिवासियों, वनवासियों तक के प्रति स्नेह, सौहार्द्र का भाव रखते थे। बरात प्रस्थान के समय दूल्हा राम के ऊपर तोता मँडराता हुआ हठ करता है कि मैं भी बरात के साथ चलूंगा । राम के बिना उसे अवध एक पल के लिये भी नही भाता ।[4] इसके अतिरिक्त जटायु, शबरी तथा सुग्रीव मिलन आदि बहुचर्चित प्रसग भी इसके उदाहरण स्वरूप हैं। वे जीव मात्र से स्नेह करते थे। उनकी दृष्टि मे धनी-निर्धन, छोटा-बडा, उच्च वर्ग या निम्न वर्ग का भेद न था। उन्होने समाज द्वारा बहिष्कृत, तिरस्कृत या उपेक्षित

---

1. यह बाती उनही का सोहाती जो हमरे सग जाती ।
(निजी सग्रह से)

2. तीन सव साठ रानी राजा दसरथ कय एक पुरुख कय नारी ।
उनकय नेम धरम कइसय निवहत, जैइकय वरिखय-वरिखय दिन पारी,
सुनउ सुत चारी ॥
एतना सुनि रघुनायक बोलेउ, सुनग जनकपुर कय नारी ।
राजा दसरथ कय लेऊ परीछा, एक दिन राखि कय अपनी अटारी ।।
सुनउ सुत चारी ॥
(वही)

3. मरि हो तुहय अस पुरुख नाही देखउ रे ।
हमय अस नारी नाही देखेउ रे ।
जो रामा हमरा तोहरा जोड़ी बाटय, अवही तउ विआह
नाही भा रे ।
हमरा तउ विआह होइगा लछिमन सय जाइ पुछउ रे ।
(वही)

4. उपरा सुगन भडराय हमहुँ चलव वियाहन ॥
(निजी सग्रह से)

लोगो को भी अपना मित्र बनाने मे सकोच नही किया ।

राम के सम्पूर्ण चरित का अवलोकन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि राम का सीता के साथ प्रगाढ प्रेम था । प्रेम के वशीभूत होकर ही सीता के आग्रह पर स्वर्ण-मृग-चर्म[1] लेने के लिये जाते है और सीता-हरण पर वह भाँति-भाँति से विलाप करते हुए मार्ग मे आये सभी लोगो तथा प्राकृतिक उपादानों से सीता का पता पूछते हैं । विरहातिरेक मे राम जड और चेतन का भेद भुला कर उन सब से पूछ-पूछ कर सीता का पता लगाते है ।[2]

प्रजारंजक राम लोकापवाद के भय से गर्भवती सीता का त्याग तो कर देते हैं, पर वह एक पल के लिए भी उन्हे भूल नही पाते ।[3] भावना और कर्त्तव्य के झझावात मे फँसे राम कर्त्तव्य को अधिक महत्त्व देते है। यह उनका अनुपम त्याग उन्हे आदर्शपति की श्रेणी मे लाकर खडा कर देता है । उन्होने जो कुछ भी किया वह प्रजा के, लोक के हित के लिये ही किया । अश्वमेध यज्ञ

---

1. राम-लखन मिल वैठे सीता वचन सुनाई ।
मिरगा का छाल मोरे मन ही मा भायी ।
एतना वचन सुने राम जी धनुख वान उठाई ।
मिरगा मार राम घर लउटे सूनी मडइया पाई ॥
(वही)

2. सूनी कुटिया पाइ तउ जियरा सनक गवा रे ।
अरि इनउ भाई विरछा सय पूछई रे ।
रे मोरी विरछा कवनी ओर देखेउ सीता रानी ।
कयन डगर गई हय सीता रानी रे ।
अरि राम अउ लछिमन पूछय जगल कय हिरिनिया मे ।
अरि मोरी हिरनी कवनी राही देखेउ सीता रानी,
कवनी डगर गइ हय रे ।
अरि अरि सुरूजा तू तीनिउ लोकवा प्रकासा ।
अरि सुरूजा कवनी ओर देखेउ सीता रानी क्वने
देसा गई हय रे ॥
अरि आकाश कय चदरमा तु हूँ देखेउ सीता रानी, वताइ तू हूँ देहु रे
अरि-अरि धोविया वटेउवा कपडवा त हू धोवत वाटेउ रे ।
मारे धोविया यही रहियत सीतल रानी गई हय वताई
हमय देउ रे ॥
(निजी सग्रह से)

3. ना दम होइ राम चन्दर जी अरि वारह साल पय लइ आये रे ।
अरि हो हम तू हय देसवा निकारय घरइ नाही रहय देव रे ॥
(वही)

के आयोजन पर राम सीता को वापस बुलाने के लिये लक्ष्मण, भरत तथा गुरु वसिष्ठ को भेजते है पर वह मानिनी अयोध्या लौटने से इकार कर देती है ।[1] इस पर राम स्वय सीता को मनाने के लिये जाते है, मार्ग मे उनकी भेट गुल्ली-डण्डा खेलते हुए दो बालको से होती है । वे उन बालको से उनका परिचय पूछते है । वे बालक अपना परिचय देते हुए कहते है कि हम पिता का नाम नही जानते है, सीता हमारी माँ है ।[2] इसके आगे जब वह सीता के पास पहुँचते है और कहते हैं कि देवी, तुम्हारे बिना मेरा जीवन सूना है, तुम अयोध्या चल कर मेरे निराश जीवन मे आशा का सचार करो । परन्तु उस हत्भागी राम को स्वाभिमानी सीता ने कभी क्षमा नही किया । उसने बच्चो को उसके अभागे पिता का नाम तक नही बताया और राम को अकेला छोड़ कर स्वयं धरती मे समा गयी ।[3] अपने विशिष्ट चारित्रिक गुणो के कारण राम न केवल देवतुल्य पूजित हुए अपितु भगवान के पद पर प्रतिष्ठित हो गये ।

— हिन्दी-विभाग
मदनमोहन मालवीय डिग्री कालेज,
भाटपाररानी, देवरिया (उ० प्र०)



---

1. अगवा कय घोडवा वसिठ मुनि पछवा भरत लाल हो राम ।
रामा अलहेड़ बछँडवा लखन लाल सीता का मनावइ चले हो राम ॥
तोहरा कहल गुरु मानवय अजोधिया क जावइ हो राम ।
गुरु अइसन पुरुख की सनेहिया त विधि न मिलावइ हो राम ॥
(निजी संग्रह से)

2. चलो भइया लछिमन वही वन जवने वन भउजी तोहार जी
गुल्ली डंडा खेलय दुरू लरिकय दूनो बार कुआरि जी ॥
केकर होव भइया दुइ रे लरिकवय केकर दोहाइ तू हु खाव जी ।
आजा तव हमरा अजोधिया राजा, काका ओ लछिमन
वाप ददुलिया कय नउवा न जानव भइया सीतल रानी होय जी ॥
(वही)

3. रामा छापक पेड कदम पर लागत सुहावन ।
तेहि तर बइठी सीतल रानी केसियन झुरवई ।
पछवाँ पलटि जब चितवई राम जी ठाढे ॥
रानी छोडि देहु जियरा वियोग अजोधिया बसावउ ।
सीता तोरे विन जग अंधियार त जीवन अकारथ
सीता आँखिया मा भर कय विरोग त एकटक देखिन ।
सीता धरती मा गई समाइ कुछो नाही वोलिन ॥

ब्रज-लोकगीत

अम्बाप्रसाद 'सुमन'

लोक-कथा, लोक-वार्ता, लोक-नाट्य लोक-गीत आदि शब्दों में 'लोक' का अर्थ 'ग्राम्य' नही है और न 'लोक-संस्कृति' का अर्थ 'ग्राम्य-सस्कृति' है । उक्त सामासिक पदों मे आये हुए 'लोक' शब्द का अर्थ उस अशिक्षित जनसमुदाय से सम्बद्ध है, जो गॉव अथवा नगर मे रहता है और अपना सहज जीवन बहुत कुछ अपनी रूढ़ियो तथा परम्पराओ मे आबद्ध होकर व्यतीत कर रहा है । उस अशिक्षित ग्रामीण समुदाय अथवा अशिक्षित नगरवासी समुदाय के द्वारा मौखिक परम्परा के रूप मे प्राप्त जो गीत गाये जाते रहे है, वे 'लोक-गीत' कहाते है ।

दूसरे शब्दो मे यों भी कहा जा सकता है कि अशिक्षित जन-समुदाय ने अपार हर्ष या घनीभूत वेदना की गहन अनुभूति को जब-जब मौलिक परम्परागत गेयता की स्वर-लहरी में व्यक्त किया; तभी लोकगीत की सृष्टि साकार रूप मे दृष्टिगोचर हुई । ब्रजभाषी अशिक्षित जनसमुदाय के द्वारा मौखिक परम्परा से प्राप्त जो गीत गाये जाते है, वे ब्रज–लोकगीत कहलाते है ।

लोक-साहित्य के अन्तर्गत 'लोकगीत' एक प्रमुख विधा है । इस विधा को दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है (1) लघु लोलगीत (2) लोकगाथा । 'लोकगाथा' एक प्रकार का महाकाव्य या खण्डकाव्य समझिए । महाकाव्य की गीतात्मक गाथा निरन्तर कई दिनो तक गायी जाती है । ब्रज के महाकाव्यो मे 'आल्हा' और 'ढोला' वहुत प्रसिद्ध है । 'आल्हा' मे अल्हा ऊदल और मलखान नाम के महोबे के वीरो की युद्ध-गाथाएँ गायी जाती है और 'ढोला' मे राजा नल की जीवन-गाथा है । 'नरसी–भात' और 'महादेव-ब्याह' लोक के खण्डकाव्यों मे माने जा सकते है ।

लघु लोकगीत मुक्तकों की भाँति है ।

लघु लोकगीतो के सामान्यत छह वर्ग किए जा सकते है—

1– धर्मपरक लघु लोकगीत 2– सस्कृतिपरक लघु लोकगीत
3– राजनीतिपरक लघु लोकगीत 4– उद्योगपरक लघु लोकगीत
5– कृषिपरक लघु लोकगीत 6– क्रीड़ाविनोदपरक लघु लोकगीत ।

ब्रज-भाषी क्षेत्र के कुछ मन्दिरों मे राम, कृष्ण, हनुमान, राधा, मीरा, द्रौपदी आदि से सम्बद्ध गीत गाये जाते है। उन गीतों के माध्यम से आराध्य इष्टदेव की पूजा-अर्चना भी सम्पन्न हुई मान ली जाती है । ऐसे गीतो का मुख्य आधार रामायण,

महाभारत और भागवत् का कोई कथानक ही होता है। ऐसे गीतो में निम्नाँकित लावनी लोकगीत ब्रजक्षेत्र के मन्दिरो मे प्राय गाया-जाता है।

"बिनु काज आज महाराज लाज गयी मेरी।
दुख हरौ द्वारिकानाथ सरन मै तेरी ॥
दूसासन बस कठोर महा दुखदाई ।
कर पकरत मेरौ चीर लाज नही आई ॥
अब भयौ धरम कौ नास पाप रह्यौ छाई।
लखि अधम सभा की ओर नारि बिलखाई ॥
सकुनी दुरजोधन करन खडे खत घेरी ।
दुख हरौ द्वारिकानाथ सरन मैं तेरी ॥

—(जिला अलीगढ की तहसील कोल)

उक्त गीत का नाम 'लावनी' (लामनी) है। इस नाम का कारण 'छन्द' है। 'लावनी' छन्द में उक्त गीत गाया जाता है। छन्द.शास्त्र के अनुसार 'लावनी' नामक छन्द के प्रत्येक चरण में 22 मात्राएँ होती है। 2,10,10 मात्राओ पर यति होती है। मन्थर-एवं विलवित गति मे गाये जाने पर उक्त गीत मे करुण रस का स्वरूप साकार होकर प्रभाव प्रकट करता है।

राधाष्टमी के दिन किशोरी जी के मन्दिरो मे लोक गायको की मडली से हमने निम्नाकित गीत अधिक सुना है—

"परवत पै राधे गाजि रही, तेरौ बरसानौ इस्थान" (जिला मथुरा)

सस्कार, व्रत-पर्व, ऋतु आदि से सम्बद्ध लोकगीत सस्कृतिपरक लघु लोक-गीतो में समाविष्ट किए जा सकते है। पुत्र-जन्म के समय ब्रज के गाँवो मे स्त्रियाँ **'बिहाई'** (जच्चा) गाती हैं। विहाई नाम के गीतों में निम्नाकित **'बिहाई'** (स०वर्धापिका) बहुत प्रचलित है जो सीता-बनवास की कथा से सम्बद्ध है।

"सिया ठाडी पछिताईं कुस वन मैं भए।
वन मैं भए लौ-कुस वन मैं भए ॥ सिया ठाड़ी .... ॥
जौ घर होती ससुलि हमारी, चरूए देती धरवाइ। सिया ठाड़ी
जौ घर होते ससुर हमारे, वसनी देते लुटवाइ ॥ सिया ठाडी
जौ घर होती नंदुली हमारी, सतिये देती धरवाइ। सिया ठाड़ी
जौ घर होती जिठानि हमारी, पलिका देती बिछवाइ ॥ सिया ठाड़ी"

(जिला अलीगढ की तहसील हाथरस)

'राजनीति' शब्द की अर्थ-परिधि मे हमारे देश की प्राचीन राजनीति, देश-दशा तथा राष्ट्रीय प्रेम की भावनाएँ भी समाविष्ट है। होली के आस-पास फूलडोलो मे गाये जाने वाले जिकडी भजनो के नाम से जो लोकगीत मंडली-गान मे प्रस्तुत किए जाते है, उनमे भी बहुत से पौराणिक और ऐतिहासिक गीत प्राचीन भारत की राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। स्वतत्रता-संग्राम के अनेक राष्ट्र सेवी सेना-

नियों से सम्बद्ध लोकगीत भी व्रज-प्रदेश मे प्रचलित हैं। महात्मा गाँधी और नेताजी सुभापचन्द्र आदि की कर्मठ देशभक्ति के यशोगान व्रज-प्रदेश के वायु मडल में आज भी मजुल एवं ओजस्वी स्वर मे हमें सुनायी पडते है। सन् १९४७ ई० मे भारत को स्वतत्रता मिली थी। यह सब महात्मा गाँधी जी का प्रताप था। लोक ने इसकी अनुभूति की थी। निम्नांकित 'बारहमासी' लोकगीत मे प्रकृति के आनन्दोल्लास सहित कृपको के मानसोल्लास की सहज तथा मनोरम अभिव्यक्ति हुई है।

'गयौ फिरगी राजु राजु गाँधी कौ आयौ है।
वापू के वल-बूते पै अव सुराजु पायौ है ॥
चैती वैसाखी खेती मैं गैहूँ जौ हुगे ।
चना मटर सरसौं अरहैर लखि मन चगे हुगे ।"

(तहसील कोल से)

इसी प्रकार नेताजी सुभापचन्द्र वोस जैसे राष्ट्रसेवी वीर सेनानी के प्रति लोकमानस 'रसिया' गीत मे अपनी स्वागताजलि अर्पित करते हुए मार्मिक आह्वान कर रहा है।

"आस भारत की वीर सुभाप आजु भारत मै फिरि आऔ।
आन के अमर देश के प्रान देस जा अपने मै आऔ ॥
आजादी कौ दीवानौ वह ज्वानन ते वोल्यौ,
आजादी हित प्रान देउ आजाद वीर वोल्यौ।
करौ कै मरौ, टेक ये ही, प्रान–वलिदान आन ये ही।
सुखी आजाद हिंद जीवै, अमर होइ अमृत रस पीवै ॥"

(तहसील कोल मे)

स्त्रियाँ चक्की चलाते समय, दही विलोते समय तथा चर्खा कातते समय, कुछ गीत गाती जाती हैं। उन्हें हम उद्योगपरक लघु लोक गीतों के अन्तर्गत समाविष्ट कर सकते है। चर्खे का यह गीत देखिए—

"हूँ तौ कातुगी म्हैनौ–म्हैनौ सूत,
वुनाऊँ तोकूँ चूँदरी ,
रगरेजिनि दैऊँ वुलाइ,
रँगाऊँ तोकूँ चूँदरी।
फेरि छीपिनि दैऊँ वुलाइ,
छपाऊँ तोकूँ चूँदरी।"

(तहसील कोल)

किसान का कर्मरत जीवन अपने खेतों में ही व्यतीत होता है। उन्मुक्त निस्सीम आकाश के नीचे धरती माता की सेवा करते हुए ही कर्मठ कृपक की दिन-चर्या चलती रहती है। उन्ही क्षणों मे गीतों के माध्यम से वह अपने अन्तस् की भावाभिव्यक्ति भी करता है। खेत की भराई के समय कुँए से चरस ढालते हुए अथवा खेत की क्यारी मे पानी लगाते हुए उसके भावोद्गार गीतो की स्वर-लहरी में सहज रूप

में एक साथ सुनाई पड़ जाते है। कुँए के पारछे में खड़ा हुआ कृषक चरस ढालता जाता है और एकाकी ही गाता जाता है–

"आइ गये राम, भइया आइ गये राम।
राम वढाए सो बढे, बलु करि बढ्यौ न कोई।
बलु करिकै रामनु बढ्यौ, गयौ छिनक मैं खोई।।"
आ गए राम.................."

(जिला मथुरा की तहसील भाट)

खेत की जुताई–बुवाई से लेकर घर में रास का अनाज आने तक किसानी के जितने भी काम खेतो मे होते है, उनमे बहुत से काम ऐसे होते है, जिन्हे करते समय किसान गीत गाता है। ऐसे गीत एकाकी ही गाये जाते है और वे सभी प्रायः अध्यात्म तथा सदाचरण के उपदेशो से परिपूर्ण होते है।

छोटे–छोटे बालक-बालिकाओ के द्वारा खेल-कूद, गुड्डा–गुड़िया के ब्याह आदि के समय सामूहिक गान के रूप मे कुछ गीत गाये जाते है। बालक और बालि-काएँ क्वार के महीने में मनोविनोद तथा क्रीड़ा–पर्व के रूप मे मंडली बनाकर घर-घर 'टेसू' और झाँझी, गाती फिरती है। टेसू के गीतों में अर्थ प्रमुख नहीं होता, एक नादा-त्मक–तुकान्तता-पूर्ण मनोविनोद प्रधान रहता है। टेसू गीत का यह उदाहरण देखिए–

'इमली की जर मैं निकरी पतग।
नौ सै मोती नौ सै रंग।।
एक रग मैंने माँगि लयौ।
चढ़ि घोड़ा पै धाँगि दयौ।।
धाँगौ है जी धाँगौ है।
दिल्ली जाइ पुकारौ है।।
दिल्ली कौ है ऊँचौ कोट।
मारि सिकन्दर पहली चोट।।"

(अलीगढ़ जिले का परगना अकराबाद)

इसी तरह झाँझी गीत का उदाहरण है—

"झाँझी के रे झाँझी के, फूल पचासी के
सरसन त्यारी डाँड़ी, महोबा त्यारे फूल।
गोरे गोरे बद्धनुवारे बिरन हमारे।
भारी–भारी वेसरिवारी भभज हमारी।" (तहसील कोल)

ब्रज क्षेत्र के बालक खेलते-कूदते समय मनोविनोदार्थ कुछ गीत गाते है जिनसे उनके हर्ष और उल्लास की सूचना मिलती है।

"चकई के चकदम, गाड़ीवारे मुकदम।
चना चौधरी मटर गुलाम।
ठाड़ी सरसो करै सलाम।।"

ब्रज लोकगीतों की अपनी गायन शैली है जो ब्रज भाषा की सहज मधुरता और रसमयी कोमलता पाकर अधिक मनोरम बन गयी है। ब्रज के लोकगीतों में ब्रज की संस्कृति की रमणीय झांकी तो मिलती ही है, साथ ने उत्तर भारत की धर्म-प्राण संस्कृति का प्रतिनिधित्व भी ब्रज के लोकगीत ही करते हैं। किसी समय भारत कितना सम्पन्न और सुखी था, इसका संकेत ब्रज के लोकगीतों में मिल जाता है। पत्नी अपने पति का स्वागत जल-भरे सोने के लोटे से किया करती थी—इसका संकेत लोकगीतों में मिलता है। "सोने को गडुआ गंगाजल पानी।" हमारे लिए कौन-कौन देवी-देवता पूज्य तथा वन्द्य थे- इसकी सूचना संस्कार के लोक-गीतों में मिल जाती है। समय-समय पर विदेशियों ने भारत पर क्या-क्या अत्याचार किये, ब्रज के लोक-गीतों में इसका उल्लेख स्पष्टतः मिल जाता है।

चाहे किसी के पुत्र-जन्म हो अथवा पुत्र-विवाह गीतों में उल्लेख राम या कृष्ण का ही रहता है। पुत्री के विवाह में भी सीता के विवाह और इसकी जीवन-कथा को ही ब्रज के गीत अभिव्यक्त करते हैं। भले ही लगन 'प्यारेलाल' नाम के लड़के की आयी हो, लेकिन लोकगीत रघुनन्दन (रामचन्द्र जी) की लगन का ही उल्लेख करता है—"रघुनन्दन फूले न समाऐं लगुन घर आइ गयी।" उस समय 'प्यारेलाल' को ही 'रघुनंदन' बना दिया जाता है।

साराश यह कि संस्कार, व्रत, पर्व आदि गीतों का केन्द्रीय भाव राधा और कृष्ण तथा सीता और राम की जीवन-कथाओं से ही परिवृत्त रहता है।

सास-बहू, ननद-भौजाई, देवर-भाभी की वास्तविक भावनाओं का दिग्दर्शन ब्रज के लोकगीत बहुत अच्छी तरह करा देते हैं। ब्रज के 'रसिया' लोकगीत में उक्त भावनाएँ परम रम्य एवं उल्लास भरे ढंग से अभिव्यक्त होती है। साराश यह कि कुटुम्ब के सीमित क्षेत्र में जीवन की गहन पारिवारिक अनुभूतियों को सरस, सहज तथा वास्तविक वाणी देकर ब्रज के लोकगीतों ने उन्हें अमर बना दिया है। हमारे अनेक संस्कार लोकगीतों से ही सम्पन्न होते है। हम कह सकते हैं कि ब्रज प्रदेश में ब्रज-लोकगीत केवल गीत ही नहीं है, अपितु वे लोक के वेद-मंत्र हैं। उनके बिना कोई भी मंगल कार्य सम्पन्न हुआ नहीं माना जाता।

शब्द-स्तर पर ब्रज के लोकगीतों ने हिन्दी भाषा को अनेक नवीन और अर्थ-व्यंजक शब्द दिये है। ब्रज-लोकगीतों में हमें सहज एवं सरल शब्दों के दर्शन होते हैं। शब्दों की अर्थ-परक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवक्षाएँ हमें ब्रजभाषा के लोकगीतों ने प्रदान की हैं। ब्रजभाषा के लोकगीतों में ऐसे सैकडों शब्द मिलते है, जिनकी एक-एक इकाई हमारी भाव-शवलता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर के सूरसागर में आये हुए एक पद की पंक्ति "नन्द ब्रज लीजै ठोकि बजाय" के "ठोकि बजाय" में यशोदा की भावशवलता को व्यक्त किया है, वैसी ही भावशवलता

से परिपूर्ण सहस्रो शब्द हमारे व्रज-लोकगीतो ने हिन्दी-जगत् को प्रदान किए हैं। सूर के "सूरसागर" मे व्रजभापा की जो मधुरता, रसमयता, सरलता और स्वाभाविकता पायी जाती है, उसका मूल कारण हमारे प्राचीन व्रज-लोकगीत ही है।

लोकगीतों ने हमे भाव और रस के अनुकूल परम अर्थ-व्यजक शब्दो के प्रयोग बताए है। संस्कृत के वोझिल शब्दो के प्रभाव से राष्ट्रभापा हिन्दी को भारी और गरिष्ठ होने के दोप से यदि किसी ने बचाया है, तो हमारे व्रज-लोकगीतो ने। माता यशोदा जव पुत्र कृष्ण को खोजते हुए पूछती फिरती है— "कहूँ देख्यौ कन्हैया मुकटधारी।" तव "कन्हैया" शब्द की वात्सल्यमयी मधुरता एवं स्वाभाविकता को संस्कृत का तत्सम "कृष्ण" शब्द सौ जन्म धारण करके भी प्राप्त नही कर सकता।

एक लोकगीत मे एक गोपी श्रीकृष्ण से कहती है—

"जौरें आइ जा स्याम, नैंक तोइ पकरूँ, हौंस बुझाऊँ।"

एक अन्य गीत मे श्रीकृष्ण एक ग्वालिनी से कहते है—

"गोरी तेरी मटुकी के दधि नैं ही हुड़क बुझाई।"

उपर्युक्त उद्धरणों में आये हुए 'हौस' और 'हुड़क' शब्दो के प्रयोग कितनी सूक्ष्म अर्थ-व्यंजकता से परिपूर्ण है। यदि इन दोनों के समानांतर हिन्दी के चाह, इच्छा, अभिलाषा, एपा और एपणा आदि शब्दो का प्रयोग किया जाता, तो निश्चय-पूर्वक वे व्यर्थ सिद्ध होते। हौंस और हुड़क अपने क्षेत्र में अकेले अलवेले हैं। शब्दमर्मी सुविज्ञ पंडित जानते है कि 'हौस' शब्द के अर्थ मे वाह्य वृत्ति का सकेत मिलता है और 'हुड़क' मे आन्तरिक वृत्ति की सूचना है।

व्रज-लोकगीतो ने अनेक नये मुहावरो के प्रयोग देकर हिन्दी को व्यावहारिक तथा प्राणवंत वनाया है।

व्रज-लोकगीतों के शब्द और वाक्य-संरचनापरक शैली हमे हमारे वैदिक साहित्य की याद दिलाती है। जिस प्रकार पद अथवा वाक्यांश की आवृत्तियाँ वेद-मंत्रों मे मिलती है, ठीक वैसी ही हमारे व्रज-लोकगीतो मे भी पायी जाती है।

स्त्रियों के 'घोड़ी' नामक एक लोकगीत मे वैदिक मंत्र के "स्वय" की भाँति "द्वार पैं" पद की भी आवृत्तियाँ हुई हैं। आवृत्ति से भावघनीभूत वनता है—

"हरियाली घोडी विदकै रे लाला! साजन के द्वार पैं।
सिर तेरे ककरेजी चीरा साजन के द्वार पैं।
तेरी लडिया लहरै लै रही लाला! साजन के द्वार पैं॥"
—(अलीगढ जिला)

वुलन्दशहर जिले की वरन तहसील मे किशोरी वालिकाएँ झाँझी गीत मे गाती है— "गोरे-गोरे वर्धन वारे विरन हमारे।" इसे ही अलीगढ़ जिले की कोल तहसील मे वालिकाएँ गाती हैं— "गोरे-गोरे वदन वारे विरन हमारे।"

इससे स्पष्टत: विदित हो जाता है, कि बरन तहसील मे 'वैल' के अर्थ में 'वर्ध' और कोल तहसील मे 'बद्ध' बोला जाता है। ब्रजभाषा की माधुरी 'रेफ' की किरकिराहट पसन्द नही करती।

लोकगीतो को सुनकर ही हम जान सकते है, कि खुर्जा तहसील मे 'कू' और कोल तहसील मे 'कूँ' बोला जाता है। यही कर्मकारकीय परसर्ग मथुरा के चौबों की बोली मे 'कौं' हो जाता है। अलीगढ की कोल तहसील मे भूतकालीन पुल्लिग एक वचनीय 'बसो' क्रिया, मथुरा जिले के गांवो मे यकार के साथ 'बस्यो' हो जाती है। बोलियो के ये रूप हमे लोकगीतों से सहज ही मे ज्ञात हो जाते हैं। वस्तुत. ब्रज-लोकगीत ब्रज की सस्कृति और ब्रज की बोलियों के गीतात्मक विश्वकोश हैं। (स्वर्गीय) डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने "हिन्दुस्तान" (रविवासरीय परिशिष्ट, 3 जुलाई, 66 ई०) मे लिखा था कि "स्थानीय बोलियाँ शब्दों की धात्री है। वे अपनी कोख में ऐसे सहस्रो शब्द लिये बैठी है, जो युगो से चले आये हैं, और जिन्हे हिन्दी भाषा मे सम्मानित पद मिलना चाहिए। अत: हिन्दी के भविष्य के बारे मे सोचते हुए हिन्दी की जनपदीय शब्दावली (लोक-शब्दावली) की ओर मेरा बार-बार ध्यान जाता है।"

ऐसी शब्दावली लोकगीतो की भाषा में हमे सुगमता से प्राप्त हो सकती है।

8/7 हरिनगर, अलीगढ़
—202001



ब्रज का ढोला

—मालती शर्मा

ढोला ब्रज की स्त्रियों का प्रसिद्ध पथ-गीत और किसी सीमा तक क्रिया-गीत भी है। ब्रज मे जन्म विवाह और मंगल उत्सवो के उन समस्त अनुष्ठानो और लोकाचारो में जिनके लिये घर से बाहर जाना होता है जैसे घूरा पूजना, चाक पूजना, छेई लाना[1], दई देवता सिराना, पथवारी पूजना, कुआ पूजना, बाँयना बाँटना आदि के लिये आते जाते बीच बीच मे स्त्रियाँ ढोला गाती है। पीसते-कूटते, छानते-बीनते, फटकते एवं पूरी बेलते वक्त भी वे ढोला गाती है। ये गीत बच्चो की आँखो के सदृश्य भोली निस्तब्ध ग्रामदेवताओ के थानो को जाती पगडडियो, खेत खलिहान, दगरो की मेड़ो को ही नही गुँजाते, ब्याह शादी वाले घर के द्वार पर गाने वालियो की उपस्थिति और विदाई भी सूचित करते है।

जब भी आस पास की स्त्रियाँ ब्याह शादी वाले घर में सामूहिक रूप से गीत गाने आती हैं तो वे ढोला गाती आती हैं जिसे सुन बीध वाले घर में फर्श—आजम वगैरा बिछ जाती है। उत्सव के घर मे पहुँच वे ढोला गाना बंद कर देती है। यदि दो टोली अलग अलग तरफ से आये तो दोनो ही ढोला गाती आती हैं। इसी तरह गीतो की समाप्ति पर जब नारियाँ अपने घर जाती है तब भी ढोला गाती हैं। इससे पता चल जाता है कि आज के गीत खत्म हो गये। ढोले की कुछ कड़ियाँ तो वे बीध वाले घर के द्वार पर खड़ी खड़ी ही गा लेती हैं, फिर चलती चलती गाती जाती है। जैसे जैसे गाने वालियो के घर पड़ते जाते हैं, ढोला का ऊँचा और रसकता हुआ स्वर धीमा पड़ शान्त वातावरण मे खो जाता है। ब्रज मे स्त्रियो का ढोला गाते आना रस्म की तरह अनिवार्य हो गया है। अगर गाने वाली चुपचाप चली आयें तो किसी बडी बूढी की सचेतात्मक करारी डाँट पडती है—'च्योरी ! तुम ढोला लेके च्यो नायँ आँमति ? सुम्मसाम कैसे चली आमत्यो ?" अत ढोला, अन्य पथ-गीतो, रसिया, भजन इत्यादि मे भी अपनी अलग खटक रखता है।

ब्रज मे, बरसात मे विशेषकर, पुरुष वर्ग और पेशेवर ढोला गायको द्वारा एक और लम्बी लोकगाथा गायी जाती है जिसे ढोला ही कहते हैं और गायको को

1. विवाह के लोकाचारिक अनुष्ठानो के लिये जो पकवान बनते है उनके लिये अलग से थोड़े से लकडी कडे लाये जाते हैं, इसे छेई कहते हैं।

दुलैया। यहाँ स्त्रियों के ढोला गीत और पूरे मध्य देश की महान लोकगाथा ढोला मारवणी की कहानी पर आधारित विस्तृत गाथा ढोला का अन्तर स्पष्ट कर देना समीचीन होगा।

स्त्रियों के ढोला गीत में और लोकगाथा ढोला में स्त्री पुरुष का वर्गगत अन्तर ही नहीं और भी बहुत से अन्तर हैं —

1. स्त्रियों के ढोलागीत पूर्णत: सामूहिक गीत हैं।

2. ये बैठकर कभी नहीं गाये जाते, बैठकर गाने पर क्रिया का साथ जरूरी है।

3. ये छोटे हैं और लोकगाथा ढोला से भिन्न सरचना लिये हैं।

4 स्त्रियों के ढोला गीतों के साथ कोई वाद्य नहीं रहता लेकिन ढोला लोक-गाथा चिकाडे हारमोनियम पर गाई जाती है।

5. लोकगाथा ढोला के विशिष्ट गायक होते हैं जबकि सभी स्त्रियाँ एक दो ढोलागीत अवश्य जानती है और हर स्त्री साथ गवा सकती है।

6. ढोलागीत अपने छन्द तुक लय, स्वर विधान मे लोकगाथा ढोला से ही नही, दूसरे पथ-गीतो मे भी भिन्न है। तीर्थ-यात्रा के भजन एव रसियो की तुलना मे इसका ऊँचा टेर पूर्ण स्वर सुरक्षा भाव मे भी जुडा है जो किसी समय रही सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति है। पठान मुगलकालीन भारत मे रात्रि के एकान्त मे जब स्त्रियाँ अपने को निरापद नहीं समझती थी, वे ढोलागीत से आसपास को जाग्रत और सजग करती जाती थी।

तब स्त्रियों के ढोलागीत और लोकगाथा ढोला में परस्पर क्या समानता है कि स्त्री गीतो का नाम भी ढोला पड़ा ? सबसे पहले ब्रज लोकवार्ता के अग्रगण्य मनीषी डॉ० सत्येन्द्र की इस पर मत-परीक्षा अपेक्षित है। उनका अभिमत है — "एक और प्रकार का ढोला ब्रज मे प्रचलित है स्त्रियो मे स्त्रियो द्वारा ही गाया जाता है। किसी मागलिक अवसर पर जब मांगलिक और खेल के गीत गाये जा चुकते हैं तब चलते समय घर मे बाहर आकर अन्त मे ढोला गाया जाता है ······ लोकगाथा के ढोला और ब्रज के स्त्री गीत ढोला की व्युत्पत्ति में अन्तर प्रतीत होता है। ढोला (लोकगाथा मे) व्यक्ति का नाम होते हुए भी दुलह, दुर्लभ मे बना प्रतीत होता है, दूसरा ढोला (स्त्रियों का) 'दोल' से निकला है जिससे ब्रज की 'डोलना' क्रिया बनी है। यही 'दोला' चलते चलते गाये जाने वाला ढोला हो गया।"[1]

हिन्दी साहित्य कोश भी इसी मत का प्रतिपादन करता है।[2]

जैसा कि मेरे पूर्व विवेचन से भी स्पष्ट है, ढोला है ही पथ-गीत जिसमें चलने डोलने का पक्ष निःसन्देह प्रमुख है। लेकिन इस पर दो सबसे बडी आपत्तियाँ उठती हैं पहली, ब्रज मे अकेले ढोला गीत ही तो चलते चलते नहीं गाये जाते और भी बहुत से गीत

1 ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ 358-359
2. हिन्दी-साहित्य कोश, पृ 316

है। तव इन्हो गीतो का नाम ढोला क्यो पड़ा ? दूसरी वात, यदि ये गीत 'दोल' या 'डोलना' क्रिया से उद्भूत हैं तो इन्होने पति एव प्रेमी के अर्थ आदर्श के लिये पूरे मध्यदेश मे प्रचलित ढोलामारू एव नल दमयन्ती की लोकगाथा ढोला से नायक का नाम क्योकर अपना लिया ?

व्युत्पत्ति की दृष्टि से यदि ढोला शब्द पर विचार किया जाय तो विद्वानो ने अपने ढग से इसकी कई व्युत्पत्तियाँ की है।[1] पर अधिकतर विद्वानो ने सस्कृत के 'दुर्लभ' शब्द से व्युत्पति मानी है.—

>दुर्लभ >दुल्लभ >दुल्लह >दुल्लह >ढोल्लह >ढोल्ल >ढोला[2]। "दुर्लभ" शब्द से ही व्युत्पन्न है 'दूल्हा' शब्द जो 'वर' और 'पति' का पर्याय है। ढोला शब्द की ये व्युत्पतियाँ, ढोला का अर्थ पति प्रेमी है सिर्फ इसी की परिपुष्टि करती हैं, ढोला गीतो के नामकरण को किसी प्रकार का पुष्ट आधार नही देती क्योकि ढोला गीतो मे यदि कही कही ढोला शब्द आता है और वह पति प्रेमी का, नायक का वाचक या सम्बोधन भी है तो ढोला के अतिरिक्त दूसरे गीतो मे भी ढोला शब्द इन्ही अर्थों में प्रयुक्त होता है[3] तब यह कैसे कहा माना जाय कि पति प्रेमी या नायक को सम्वोधित या वाचक गीत ढोला कहलाये ? दूसरी ओर ऐसे भी ढोला-गीत हैं जिनमे ढोला का प्रयोग नही है।

तब क्या यह माना जाय कि स्त्री-ढोलागीतो मे और लोकगाथा ढोला मे कोई सम्बन्ध नही ? डॉ० सत्येन्द्र के कथन से तो ऐसा ही लगता है पर अपने सग्रह के दौरान स्त्रियों के जो ढोला-गीत मुझे मिले, उनमे कुछ गीत ढोलामारू की प्रेम कहानी के छिट पुट प्रसगो पर भी है। लोक प्रचलित ढोलामारू की कहानी ही ढोला लोकगाथा का आधार है। यह कहानी राजस्थान मे व्यापक रूप से प्रचलित है। वहाँ यह साहित्य का आधार भी बनी है पर ब्रज बुन्देलखड मे यह दुलइयो के कठो मे मौखिक लोकगाथा के रूप मे ही सुरक्षित है। ब्रज की ढोला लोकगाथा मे ढोला माता पिता के रूप मे नल दमयन्ती की कहानी भी शामिल हो गई है। मेरे सग्रह मे आये स्त्री ढोला गीतो मे मुझे कुछ गीतो में नल दमयन्ती ढोला और मारू के जीवन के मार्मिक प्रसग उकेरे मिलते है। निम्न ढोले में देखे कि दुमैंती (दमयन्ती) की दुर्दिनी दशा का कैसा करुण चित्र है। जो कभी रानी थी आज तेलिन की नौकरानी बनी झिड़कियाँ खा रही है —

सरसौं ऽऽऽ फटकिन जानै रे नल कौ ऽऽ नारि
ए तेलिनियाँ गारी देऽ रऽ ही ए ऽऽऽ
ब्वाकौ ऽ लीयौ ए सूपु छिडाय

---

1. रगायन जून 1973 मे डॉ० शान्ताभानावत का लेख, पृ. 20
2. ढोला मारू रा दूहा नागरी प्रचारिणी सभा काशी, परिशिष्ट पृ. 167
3. एक दिन उडे ताल के हन तो फिरि न्ही आमिये
अरे ए दादा भइया म टोला ने मारी

ए दुर्भैती रानी रो ऽ इ रही ए ऽऽऽ
तेरे ऽऽऽ कहारे सिखायौ माई वाप
कहारे ससुरारि मैं ए ऽऽऽऽ
तेलिन ऽ ऐसे मति बोलै गजव के बोल
राजा नल पैं औखा[1] परि गई ए ऽऽऽ
मैं तो ऽऽ गुड़ियनु खेली रे माई बाप
ससुरारि मे कछू नाँय जानिये ऽऽऽ

एक और ढोला-गीत मे दीर्घकाल से विरहविदग्धा मारू की एक ऊँट सवार के लिये जागी उत्सुकता का चित्र है। मारू (ढोला की पत्नी) अपने महल की अटारी पर खड़ी है कि उसे दूर से आता ऊँट सवार दिखा। उसने अपनी सहेली से पूछा तो उसने दीर्घकाल के वाद ढोला के बहुरने की सूचना दी:—

"ऐसौ को ऐ रे अनारी ऐसौ को ऐं रे खिलारी
करहा[2] की असवारी है रह्यौ ऽऽऽऽ
तेरे बाबुल को जमइया तेरी मइया कौ जमइया
तेरे भईया कौ सारो है ऽ ग ऽ यो ऽऽऽ
मारू धोइ लै री कढइया मरमनि धोइ लै कढइया
केसरिया ढोला ऐ बाग मे
औरू मेरी मानती झूंठु, सतखभा पै चढ़ि देखि लै
ब्वाकौ बँध्यौऐ बाग ऽ मे ऽ मारू ऽऽ ऊँटु"

यो तो ढोला मारू के जीवन के और भी अनेक प्रसगो पर स्त्रियो के ढोला गीत मिलते हैं लेकिन इस तथ्य मे वजन तभी होता जब सारे ढोला गीतो का यही कथानक होता पर ढोला गीतो मे तो राम, कृष्ण, गौतम, भगीरथ के जीवन प्रसंग भी ढले हुये मिलते हैं.—

हम्वै सुत जनमे तौ ऽऽऽ हम्वै सुत जनमे तो
भा ऽ गी ऽ रथ से ऽऽ जनमि ऽ यो ऽ
औरु लाये गगा माय (गंग वहाय यह भी पाठ है)
आपु तिरे दुनियाँ तिरी ऽ
रा ऽ जा ऽ तीर ग ऽ ये साठि हज्जा ऽऽ र

× × × × × ×

अहिल्या के श्राप पर निम्न ढोला प्राप्त होता है —

"गो ओरी ऽऽ बतराति[3] बीती सबुरैनि
जाते हाल सबेरो है ग ऽ यौ ऽऽ ए ऽऽऽ

---

1. विपत्ति।
2. ऊँट।
3 बातचीत करते हुये।

गौतम कंधा धोवतिया लुटिया हाथ
गंगा जी न्हाइवे चलि दि ऽ ये ऽ ए ऽऽ
गौतम पैंहलो गंगाजी मे दीयो पामु
सोमत ते गंगा जगि परी ए ऽऽ
ऐसो कौन सो पापी आयौ आजु
सोमत ते गगा जगा ऽ इये ऽऽ
गौतम उलटि लौटि घर जाउ
त्हारे घर चदा छलु करैं ऽ ए ऽऽ
गौतम तुरतई आयेएँ उल्टे लौटि
दरवज्जें चदा पाइये ऽऽ
गौतम चंदाएँ दियौए सरापु
नारी तो सिल्ला करि दई ऽ ए ऽऽऽ "

× × × × × ×

सीता के वरदान पर निम्न ढोला तो बहुत प्रसिद्ध है:—

"सीता ठाढ़ी जनक दरवारए सूरज एँ जलु दै ऽ रही ऽऽ ए ऽऽ

क्या कथा प्रसगो को समेटे छोटी छोटी संरचना लिये हुये गीत ढोला गीत हैं ? स्थिति ऐसी भी नही है कि हम यह मान सकें क्योकि ढोला गीत विविध वस्तु रगी हैं। इनमे प्रेम शृगार के उन्मुक्त चित्र, हास्य व्यग्य की चुटकियाँ है, नीरव उदासी है, निकट उजाड़पन और शून्यता है, मध्ययुगीन जीवन के वे सामाजिक मूल्य हैं जिन्हे नई पीढी आज तोडने में लगी है। कुछ एक ढोलागीत तो कबीर की उलट–बाँसियो के सदृश्य आश्चर्य रहस्य तत्त्व से युक्त है —

"हम्बै एकु अचम्भो ऽऽ केसरिया वलमा मैं ऽ सुन्यो ऽ
औरू बन मे व्यानो ठूँठ, चेंटी के थन पाँसुऽरे
मैंने पीमतु देख्यौ ऊँट "

स्त्रियों के वे बहुत से ढोले तो कठिनाई से 50–60 वर्ष पुराने होंगे जिनमे आधुनिक रीति–नीतियों पर व्यग्य है, फैशन, चुनाव, राशन, परिवार–नियोजन की चर्चा है। आज भी ढोला गीतो का निर्माण हो रहा है, नये नये ढोले सुनने मे आते हैं, कथा प्रसगो पर भी और छिट पुट रीति नीतियो पर भी। अलीगढ जिले के जानेरा गाँव मे सन् 1948 ई० मे मैंने एक मडली से राधाचरन का ढोला सुना। यह ढोला राधाचरन की जीवन गाथा पर आधारित है और ढोला मारू के ढोले की तरह ही गाया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्त्री-गीत ढोला और लोक गाथा ढोला मे यद्यपि 6–3 का सम्बन्ध है फिर भी न तो कथा प्रसंगो की प्राप्ति को और नही इन गीतो मे जगह जगह उपलब्ध होते 'ढोला' शब्द को, जो नायक, पति, प्रेमी का वाचक है नामकरण का आधार माना जा सकता है। "ढोल" से ढोला की व्युत्पति भी जम ि

नहीं, अतः अब यहाँ विचारणीय मुख्य बात है कि परवर्त्ती और पूर्ववर्ती विविध प्रसंगी ढोला गीतो मे चाहे वे स्त्रियो के हों या ढुलइयो द्वारा गाये जाने वाले राधाचरन के ढोला जैसी लम्बी जीवन कथाओ को समेटे हो, समान रूप से प्राप्त तत्त्व कौन सा है ? मेरे अपने विचार से सबमे व्याप्त एक ही समान तत्त्व है और वह है ढोला गीत की तर्ज या ढार एवं उस ढार की सरचना।

व्रज मे प्रचलित लोकगाथा ढोला के दो प्रवर्तक माने गये है लोहवन के मदारी का ढोला[1] एवं ऊँचे गाँव के गढपति का ढोला जिसे कहते है कि गढपति के गुरु ने रचा था।[2] डॉ० सत्येन्द्र जी ने मदारी को ढोला लोकगाथा का आदिपुरुष माना है।[3] अतः मदारी के ढोला की सुरसुती या सरस्वती स्तवन की इन पक्तियो का छन्द विधान, तुक और लय देखी जायँ.—

(1) "परवत पै ठाडी भई, ओढि दखिन रौ चीर
आधावूं मोइ भेंटि लै, मेरे आँसी जनम के वीर
सुर विन मिली ऐ न काऊ साहिव मेरे सुरसुती
औरु गुरु विन मिलै न ज्ञान,
जल विन हंसा ज्यो तजै, जैसे अन्न विन तजै पिरान
सुमिरि सुमिरि नल आदिभमानी
हिरदै मे वोलै माता अमिरत वानी
जो नल सुमिरै मोय
हिंगुलाज वारी ईसुरी, संकट आड़ी क्यों न होय
नगरकोट में अवला जी कौ सर रच्यौ
औरु जस के वाजे ढोल,
कौल निवाहन ईसुरी पांडेन ते वोले वोल[4]"

(2) मदारी के ढोला की उपर्युक्त पंक्तियो के साथ ये पक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं:—
"वडे परभात करन की पहरी
राजा पिरथम ने अपनौ घोड़ा सजवायौ
सवु सिंगारु कर्‌यौ घोडा कौ
औरु
सोने को जड़ाऊ जीन धरवायौ
गमकि वनौ ऐ असवा ऽ र
नरवर वारौ गढ़पती ऽ
कैसे खेलन जाँतु सिकार
× × × × × ×

1. डॉ० सत्येन्द्र, व्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ. 106, 7, 8
2. वही, पृ 376।
3. वही, पृ. 107।
4. वही, पृ. 377।

अँगिनि पीठि फेरि भई ठाडी
राजा मनहि में रह्योऐ विचा ऽ रि
नरवर वारे भूप ने घोड़ा दीऔ ऐ पिछमनौ
अपनौ ऽ ओ ऽ डा ऽ रि "[1]

उपर्युक्त दोनो अशो के परिप्रेक्ष्य मे तर्ज की दृष्टि से स्त्रियों के ढोलागीत की परीक्षा अपेक्षित है। मूलत. व्रज मे स्त्रियो के ढोलागीत की थोडे थोडे अन्तर को लिए छह तर्जें प्रचलित है। सबसे अधिक ढोला गीत 'जाते' या 'न्याँते', 'हृम्वै', 'अरे' ऐसे शब्दो से शुरू होते है। इस तर्ज की व्यापकता और ढोला गीत जो इनमे है उनमें भापा की प्राचीनता देखकर ऐसा सहज ही प्रतीत होता है कि ढोला गीतो की मूल तर्ज यही है।[2] अन्य तर्जों के भी अनुशीलन के वाद स्वामी जी का यह मत रहा कि बाकी की पाँच थोडे अन्तर युक्त तर्जें इसी तर्ज से निकली है। इस स्थापना को सगीतकारो की इस मान्यता से भी वल मिलता है कि शुद्ध लोक सगीत के गीत तीन या चार स्वरो मे ही पूर्ण हो जाते है इससे आगे का स्वर-रचाव शास्त्रीय बदिश में आ जाता है।[3] ढोला गीत की यह मूल तर्ज भी तीन ही स्वरो में बँधी है यह पडज से शुरू होती है ऋषभ गाधार तक आती है, गांधार कोमल लगता है लौटते वक्त कभी कभी तीव्र मध्यम का कण लगाते है।

ढोलागीत की यह लय अधिक आरोह अवरोह की अपेक्षा भी नहीं रखती, अन्तिम अक्षरो का विस्तार और खिचाव अवश्य मिलता है:—

"हृम्वै कौन की वाजी, जा सिरी रे नगर मे ऽ एँ बाँसुरी
औरू कौन की वाजी खटतार, कौन को घुड़िया ही ऽ स ऽ नो
जापै को रे भये ऽ री ऽऽ अ ऽ स ऽ वा ऽऽ र

स्त्रियो के उपर्युक्त ढोला गीत के साथ अगर मदारी के ढोले की सरस्वती स्तवन की पक्तियाँ मिलाई जाये तो बीच की पक्तियाँ छोडकर जहाँ छन्द समाप्त होता है रेखाकित पक्तियो का छन्द तुक और स्वर बधान आश्चर्य रूप से समान है। रेखांकित पक्तियो मे हृम्वै, न्याँते इत्यादि शब्द जोड़ दिये जाये तो दोनो के लय तुकों के टूटने, लय के थमने खिचने मे अन्तर नही रहता:—

(न्याँतौ) नगर कोट मे ऽ एँ हृम्वै नगर कोट मे
अवला जी को स ऽ र रच्यो
औरु जस के बाजे ढोल

1. डॉ॰ सत्येन्द्र– व्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ. 378।
2. इस आलेख मे विवेचित लय सरचना एव सगीत सम्बन्धी तथ्य निष्कर्ष पूना के कबीर मठ के स्वामी भगवानदास जी सगीताचार्य के श्रम एव अनुशीलन का फल हैं। लेखिका उनकी प्रणामपूर्वक आभारी है।
3. सम्मेलन पत्रिका लोक सस्कृति अक मे कुमार गधर्व का लेख, भारतीय स गीत का मूलाधार लोक सगीत, पृ. 313–14।

कौल निवाहन ईसुरी, पाँडेन ते बोले(एँ) ऽऽ बोल

अंश (2, की काले टाइप की पंक्तियो का भी छन्द, लय, खिंचाव और विराम का विधान भी इसी तरह का है।

यहाँ हर तर्ज के ढोला गीत की एक-एक पंक्ति और स्वर बंध दिया जा रहा है। पूरे गीत की वही लय रहती है क्योकि सारी कड़ियाँ एक ही तर्ज पर गायी जाती है। अन्तरा स्थायी इनमें नहीं होते।

2 "कॉकर कुइया मेरे अचल खुदा ऽऽ ई रे ऽऽऽ
कछु रे खुदी ऽ कछु ऽ खुदन न पा ऽऽ ई रे ऽऽऽ

यह तर्ज षडज से शुरू होती है, पंचम तक जाती है, षड़ज पर ही ठहरते है। यदि ऊँचे स्वर मे गाया जाये तो तार सप्तक के षड़ज तक जाते हैं, पंचम से शुरू करते है इस तर्ज मे सारे स्वर शुद्ध लगते हैं।

3 "जोगी रा ऽऽ धूनी तो ऽ रमाइ लै रे घर के ऽ ए ऽ द्वा ऽऽ र ऽ
सेवा तो तेरी मैं ऽऽ क ऽ रूँ ए ऽऽऽऽ

उपरोक्त तर्ज षडज, ऋषभ, गांधार और मध्यम पूरे चार स्वर में है। तीन स्वर शुद्ध लगते है पर गाधार कोमल लगता है। लौटने में मंद्र सप्तक के निषाद का भी प्रयोग करते है।

4 "सई साँझ बादर भऽये ऽ रे ऽऽ ढोला
आधी पै बरस्यौ ऐ मेहु
सबेरे जाकी कीच मचै ऽऽ ए गी ऽ रे ऽऽऽ

यह तर्ज सिर्फ तीन स्वर षडज, ऋषभ और गाधार में है। यदि ऊँचे स्वर में गाया जाय तो मध्यम, धैवत और निषाद प्रयोग मे लाते है।

5 "उठि री मासु नैंक सुमर जगाइ दै
अरी सुसरै ऐ जगाइ दै
बोलिकें अहीर के पै रथु जुर ऽ वा ऽ इ दै

यह तर्ज भी तीन स्वरो की ही है तीन स्वर है, मध्यम, पचम और ऋषभ, तीनों ही स्वर शुद्ध है।

6 अरे चदा ऽऽ तेरी निरमल कहिये चाँदनी अरे चदा
राजा की बेटी ऽ पानी नी ऽऽ करी ऽऽऽ

उपर्युक्त लय भी चार स्वरो की है। मध्यम, पचम और ऋषभ तीन स्वर शुद्ध लगते है गाधार कोमल लगता है।

इस परीक्षण से यह स्पष्ट है कि स्त्रियो के ढोला गीतो का छन्द, स्वर आयाम गति-यति और तुक विधान लोकगाथा ढोला के दोनो ही रूपो से साम्य रखता है। यह अवश्य है लोकगाथा के स्वर विधान मे जितनी जटिलता है, विविधता है एवं अवसरानुकूल जिस तरह ढोला की तर्ज मे मल्हार, गारी, निहाल्दे इत्यादि तर्जों का समावेश होता चलता है, स्त्री गीत ढोला मे वह सब प्राप्त नही होता पर उसका

सारा वधान लोकगाथा ढोला की मूल तर्ज मे ही सिमटा हुआ है।

मेरी यह मान्यता है कि स्त्रियो के ढोला गीत का ढोला नाम लोकगाथा की ढव या ढार पर होने के कारण पडा है। लोक जीवन मे लय या तर्ज उसका उतार चढ़ाव "ढार" या "ढाल" कहलाता है। राजस्थान और गुजरात मे तो तर्ज के लिए 'ढाल' शब्द ही प्रचलित है। 'ढव' कार्य करने के ढग को कहते है। जैसे गाने बजाने का ढव, चलने का ढव, खाने, पीने, उठने, बैठने सभी का ढव होता है। 'ढार' शब्द 'ढव' से वना है अत: मेरी समझ से क्रम कुछ ऐसा होगा:-ढव>ढर्रा>ढार>ढल्ल> ढाल>ढोला। अर्थात् केवल स्त्रियो के ही नही प्राचीन अर्वाचीन वे सभी गीत जो लोक-गाथा ढोला की तर्ज या ढाल पर गाये गये, ढोला नाम पा गये।

यद्यपि स्त्रियो के ढोला गीतों का स्वर विधान चार स्वरों मे ही सिमटा है फिर भी इनकी कोई एक निश्चित स्वरलिपि देना अत्यत कठिन है। गायिकाओं की स्वर सामर्थ्य और ऊँचा नीचा गाया जाना अन्तर डाल देगा। ताल और स्वर दोनो ही दृष्टियों से मस्ती मे झूमती बालाओ का झुड कितना ही ऊँचा नीचा और खिचा ढोला गीत गा सकता है। वैसे इन गीतो के साथ कोई ताल वाद्य नही बजता। लेकिन यदि कभी किसी वक्त बजाना जरूरी हो तो 8 मात्रा का कहरवा ताल बजाया जा सकता है।

ढोला गीतों की लय ही निजी और विशिष्ट नही कि जो एक बार सुन ले, वह आजीवन भूल न सके अपितु इनका कलात्मक पक्ष भी अपनी सरचना मे अनूठा-पन लिये है। यह कलात्मक पक्ष तो पूरे एक प्रबध का विषय है पर सबसे बढकर है इन गीतों में समाई सजीव गतिशील दृश्यात्मकता। हर गीत जैसे अपने मे परिपूर्ण एक चित्र है, सजीव गतिशील दृश्य जो थोड़े से शब्दो मे आँख भर अकित हो जाता है:—

"हम्बै ररकि ररकि तो धन चौ मैहला पै चढ़ि गई
और देखति नजरि पसारि, लाख लोग नगरी बसें
मेरे व्याहे बिन विकट उजार

× × × × × ×

"एकु करहारे चरावै एकु करहा रे चरावै
कारी जुलफिनु वारौ छोहरा"

× × × × × ×

ऐसा लगता है जैसे ये गीत रेगिस्तान मे विखरे छोटे छोटे नखलिस्तान हों जो, आँखो में बस-बस कर रह जाते है।

—25/2 पाखर
बम्बई पूना मार्ग,
पूना— 3



कौरवी ऋतु-गान

सत्या गुप्त

भारत मे छह ऋतुएँ मानी जाती है। सस्कृत में तथा प्राचीन साहित्य में इनका पर्याप्त वर्णन हुआ है। कालिदास ने 'ऋतुसहार' मे तथा रीतिकालीन कवियो एव अन्य शृगारिक कवियो ने भी ऋतुओ का वड़ा आत्मीय तथा मन को बाँधनेवाला चित्रण किया है। प्रकृति की विभिन्न मुद्राओ का प्रभाव वैसे तो सभी ऋतुओ मे अपनी अपनी तरह होता है पर पावस और वसत ऐसी ऋतुएँ होती हैं जो हर बार मानव मन को नई तरह से आह्लादित करती है। इनसे सवधित गीत प्रचुर मात्रा मे मिलते है। कुछ गीत कार्तिक, माघ, वैसाख आदि मे भी सुनने को मिलते है पर उनमे वैसा उल्लास नही हैं। उनका स्वभाव दार्शनिक अधिक होता है।

पावस ऋतु सब ऋतुओ से अधिक रोमानी होती है। सयोग के क्षणो मे जितना सुख मिलता है, वियोग के समय उसी अनुपात मे दु ख। एक सदर्भ मे जो स्थिति सुख देती है, उसके बदलते ही अत्यन्त दुखदायी सिद्ध होती है। सदर्भ बदलते ही अर्थ वदल जाते हैं।

चौमासे मे (वर्षा ऋतु के चार महीने) परदेश जाने का निषेध है। इसके स्वास्थ्य सवन्धी सामाजिक तथा भौगोलिक कारण भी बहुत हैं। यातायात की सुविधा न होना सबसे वड़ा कारण हं। इन कारणो को नगण्य बनाकर पावस गीतो के माध्यम से वियोग को सबसे वडा कारण बना दिया गया, जिससे प्रेमी के पैरो में भावनात्मक बधन पड जाये और वह परदेश न सिधारे।

वैसे ये सावन के गीत कन्याओ के प्रकृति-प्रेम से ही शुरु होते है.—

"चक्की तले मैंने धनिया बोया
हे सहेली धनिया बोया
धनिया के दो कल्ले फूटे

इनमे भाई वहनों का स्नेह और सद्भावना भी दृष्टिगत होती है। एक ओर तो भाई का अतुल स्नेह और बलिदान और दूसरी ओर बहिन का अपने छोटे भाइयो पर मातृवत् स्नेह। यही वल लेकर तो वह ससुराल जाती है। सावन मे भाई का अभाव वहाँ भी अखरता है।

"सावन सूना भइया विन हो गया जी

किसकू वनाऊँ राधूँ रस खीर—

सावन सूना—

एक कन्या अपनी माँ के राज्य मे झूलने के आनन्द का वर्णन करती है—

"एक झूला डाला मैंने अम्मा के राज में, गुडिया का मेरा खेलना, झूले का मेरा झूलना

'एक झूला डाला मैंने अम्मा के राज मे,
गोद भतीजा रे, झूले का मेरा झूलना रे

इन गीतों के द्वारा कन्या की सामाजिक स्थिति का पता चलता है। कन्या को छोटी अवस्था मे माँ के घर मे जितनी सुरक्षा, निश्चिन्तता व सुख मिल जाता है उतना फिर जीवन पर्यन्त नही मिल पाता। वाद में तो वह माँ के घर जाने के लिए भी तरस जाती है। सव से अनुरोध करने पर भी अनुमति नही मिल पाती। वह पावस ऋतु को देखकर कहती है—

"असाढ़ पीतम बरसन लागे,
पुरवा पवन चले सेली"

और तव अपने पति से कहती है—

"कहो तो भइया सग जाएँ कि आई
ऋतु सावन की"

वह सबसे पहले सास से पूछती है तो वह ससुर पर टालती है, फिर जेठ, जिठानी, देवर. नन्द सभी से पूछने पर अंत मे जब वह पति से पूछती है तो वह कहते है—

"जितने पीपल बिच पात घनेरी,
रुत सावन की
उतने तो जाइयो टिक्कड पोय,
के आई रुत............
जितना तो कुए बिच पानी, उतना तो पानी भर
आइयो.. ....
के आई रुत .. ..

इसी पराधीनता के कारण वह विवश हो जाती है और अपने दु.ख को अपने भाई, सखियो तथा आत्मीयो से कहती है:—

"सूख गई, पडी पेली
विपत मैंने वहुतेरी झेली"

कभी वह अपने पिता को भी संदेशा भिजवाती है।

"अव के वरस भेज भइया को वावुल
सावन में लीजो वुलाय रे"

सावन के गीतो को हम 3 भागो मे बाँटते हैं—

(1) बारहमासा— जिनमे वर्ष भर के 12 महीनों के विरह संवन्धी विविध रूप वर्णित है। (2) कथागीत— जिनमे प्रदेश विशेष मे प्रचलित कथाएँ है। यह अधिकाश तो श्रृंगार प्रधान हैं पर कुछ वीर रस प्रधान भी है। (3)मल्हार तथा फुटकर गीत— जिनमें स्त्रियाँ अपने सुख-दु ख की व्यजना करती है।

सावन के इन गीतों मे करुण धारा ही विशेष है। विप्रलभ के अन्तर्गत करुणा ही है वैसे भारतीय दर्शन में चिर-विरह की कोई कल्पना नहीं है। मिलन अवश्यभावी है अत अन्त सुखान्त होता हे। वैसे भी वारहमासा की नायिका स्वकीया है। उसका पति परमेश्वर है, जो अमर है। दुःखान्त का प्रश्न ही नही उठता।

वारहमासे मे गृहस्थ जीवन की वार्षिकी (केलैण्डर) है, जिसमे पूरी-सस्कृति का ब्यौरा है, जो इस प्रकार है—

"आसाढ़ प्रीतम वरसन लागे,
पुरवा-पवन चलै सेली
सखि पुरवा पवन चलै सेली—
खन वोले, खन वादल बोले,
सभी जीनर (जीव) दिये झोले
ऐसे हो गये श्याम छोड़ के,
लगे विपत के ये झोले,
सावन समझ पड़ी मन मेरे,
दुःख दे गये बालापन में
सव सखियाँ सिंगार किया है,
दखनी चीर खिलै तन पै,
तुम विन हम ऐसे जलते,
जैसी आग लगै वन मे,
वन की आग बुझै हरि जल से,
हमरी आग बुझे हरि से
भादो मे जिया फिरै भटकता
पिया पिया पापी करता—
काली रात महा डर लागै,
कूक पड़े जिया नही रहता
कैसे करू कहाँ जाऊँ सखी री,
पापी जिवड़ा नहीं रहता
क्वार— करार कियो हरि हमसे
नही आये कुवजड़े से
घर घर आन दशहरा पूजै

हम नारी जैसी तैसी
ऐसे हो गये श्याम छोड़ के,
लगे बिपत के ये झोके,
कातक– मैं करुना भई मुझ को
जैसे चन्द चकोर,
चकवे से चकवी भई न्यारी,
करी माँह ब्वत छोड़ चले
अंगसिर– मैं माँग भराती सखी,
सब गहना मेरा हे फीका
रानी को चाँदी का गहना,
कुब्जा ने पहना सोना–
कुब्जा के बोल सहे नही जाते
झुरवेंगें दोनो नैना–सखी
लगत पूस–रूठ गये हमसे,
नही आये गुलजेड़े से
तोस्सक तकिये सभी निहारूँ
तुम विन लगै परम जाड़ा
जाड़ा पड़े हिवाला बरसे
मेरे तन को है जाड़ा सखी–
माह मास-में मैं महाजल नहाती
चन्दन अंगीठी जलाती सखी
सय की सहेली सभी बुलाती
सबको आग तपाती री–
फाल्गुन– मास मैं फगुआ लेती
जो घर होते बनवारी सखी
रंग रस में सभी वनाती
भर–भर मारूँ पिचकारी–
चोली, चुन्नी और इतर से केसर से
भरती क्यारी
अपने समय को कोई नही चूका
हमको भूल लगी भारी
चैत– मास चिन्ता भई मुझको,
अजहूँ न आये मेरे स्वामी
अगला पिछला सब दुख भूले

जो मिल जाये बसी वाले
सखी ......

अर बैसाख— पडन लगी गर्मी
भीगन की रुत आय गई
गजरो मे कुछ गजरा सौवे
जैसे लका त्याम दई
ऐसे हो गये श्याम छोड के
लगे बिपत के ये झोके
ग्यारह मास कटे जैसे तैसे
जेठ— ने प्रान लिये सारे
राधा से कृष्ण मिल जाये
इसी बात मे हम राजी—
सखी पुरवा पवन ......

बारहमासे नारी के सयम एव चरित्र गठन का सकेत देते हैं। ये वास्तव मे प्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं क्योकि सात्विक विरह प्रेम की कसौटी है। सब कठिनाइयो को सहते हुए जीवनयापन करने के लिये स्वकीया को ही प्रधान पद दिया गया है।

'बारहमासे" की नारी को भारतीय नारी का गौरवमय पद दिया जाता है। वह आदर्श भारतीय नारी का प्रतीक है जिसमे अडिग निष्ठा है। बारहमासो का केन्द्र नारी जीवन ही होता है। बारहमासो मे तन, मन और परिस्थितियो मे अधीन होना मुख्य है।

बारहमासे के समान ही सक्षेप मे 'छमासा" तथा "चौमासा" भी होता है। इसके उदाहरण साधारण झूले के गीत तथा 'पैजाली" गीतो मे मिलते हैं।

कथागीत:— सावन के कथागीतो मे जीवन की विभिन्न परिस्थितियो एवं मनोदशाओ का चित्रण हुआ है। इनमे अनेक विभिन्न चित्र है अनेक कथाओ के जीवन और कार्य, विचार अलग अलग दिखाई पड़ते है। कथागीतो मे सामाजिक जीवन के भावो के परिप्रेक्ष्य मे निषेध, सयम और आदर्शों का उल्लघन देखने को मिलता है। ये गीत मानव और विशेष रूप से नारी मनोविज्ञान का विशाल ज्ञान—कोश हैं। इनमें सब प्रकार की नायिकाएं है। सर्व सुखिनी जो जीवन का भरपूर "आनन्दोपयोग करती है, 'दिवास्वप्न' देखने वाली मुग्धाएँ है, कुछ परित्यक्ताएँ है जिनका जीवन—स्रोत ही सूख गया और कुछ "कोख माँगू" के दुख से दुखी। इस प्रकार सावन के कथागीत सपूर्ण जीवन का गत्यात्मक चित्र प्रस्तुत करते है।

सावन के कथागीत प्रबध के अनुसार है किन्तु इनमे प्राय. किसी कालखंड मे घटित घटना विशेष का वर्णन है। गीत का आरम्भ सघर्ष के मध्य नाट्कीय ढग

से होता है जो तीव्र गति से उद्देश्य की ओर बढ़ता है। श्रोताओं के मन पर इनका तत्काल प्रभाव पड़ता है और गीत-कथा की प्रत्येक पक्ति के साथ उनकी उत्सुकता बढती जाती है। इसमें समस्या मूलक परिवारिक कथाएँ, व्यक्तित्व व समाज का संघर्ष, त्रिकोणात्मक प्रेम, वासनात्मक प्रेम तथा सहोदर स्नेह है।

कथागीतो के माध्यम से उच्च नैतिक आचरण की शिक्षा मिलती है। यह जनता के आचार–शास्त्र है। गीतो मे वर्णित पारिवारिक समस्याओ को हम हर युग में देखते है क्योकि निम्नलिखित कारण भी सदैव वर्तमान रहते है, चचलमति नायक, दहेज प्रथा, सास ननद का व्यवहार 'कोख मॉग' का दुख, बंध्या तथा परित्यक्ता नारी की समस्याएँ विशेष रूप से शिक्षितो के सदर्भ मे।

नारी के लिए प्रेम जीवन हे जबकि पुरुष के लिये खिलवाड। कोई भी स्त्री अपने पति के साथ किसी अन्य का अवैध सबध सहन नही कर सकती – वह सपत्नी के लाने पर पति से कहती है –

"सौकन कू ढेल घूरे पै डालो,
भीतर ले आओ हरमुनिया"

सपत्नी को जीवन से दूर करने पर ही घर में सुख–शान्ति से रहना सभव है। अगर ऐसा सभव नही हो पाता तो वह "हसाराव" नाम की नायिका के समान दु.ख मे प्राण तक देने को तैयार है—

"इव मैं जीउँ अक मरूँ मेरी माय
राजा के कहिये रानी दूसरी जी"

आत्महत्या के मुख्य कारणो मे खडित्त परिवार ही मुख्य हैं।

दहेज की समस्याएँ वड़ी प्रवल रही है। लड़की का पिता अपनी पत्नी से कहता है—

"अरव भी हारे रानी दरव भी हारे
हारे गरब की कोठड़ी
सात वरस की अपनी लाड्डो भी हारे
जाइ लगाइ उनके पाँव जी"

इतना कहने पर भी लोलुप-दृष्टि वालो का यह व्यवहार है—

"दिल्ली सहर एजी सास्सू, कोई जहर
मँगाया जी"

भारतीय नारी सस्कारवश मौन तथा साहिष्णु रही है किन्तु मन हलका करने के लिए कभी अपने भाई से तथा कभी अपने आत्मीयों के समक्ष अनायास भाव प्रकट हो जाते है। एक "कौरवी वाला" भाई के समक्ष अपना दुखड़ा रोती हुई व्यग्य वाणी मे प्रतीक रूप मे पारिवारिक व्यवहारो की विवेचना करती है—

"सास्सू तो वीरा चूल्हे की आग
नणाद भादो की विजली

सोहरा रे बीरा काला नाग–
देवर स्याँप सपोलिया–
जेठा तो बीरा मेहदी का पेड़
कदे रचे, कदे ना रचे"

कार्य और समाज का सघर्ष निरंतर रहा है। वासनाओ का निरंतर नियंत्रण कठिन है। कुंठाएँ वलवती होने पर मर्यादा भग कर उग्र रूप मे प्रकट होती है। एक विवाहिता अनूठा नायिका को पिता, माँ, भाई द्वारा मना किया जाता है—

"ए रूपो वाग झुल्लन मत जा,
वागो मे आया जैंसिह जाटका रे
तेरी तो वरजी वावुल ना रहूँ जी,
मैं जावेगी सहेलियों के साथ
क्या रे करेगा जैंसिह जाट का जी"

इनमे चरित्र आवेगमय है, ज्वालामुखी के विस्फोट की तरह असंतुष्ट प्रेम नारकीय ज्वाला है जिसके कारण अनेक भटकती हुई आत्माओ का विनाश हो जाता है। ऐसे ही त्रिकोणात्मक प्रेम के अनेक उदाहरण है जिनमे चन्दना का उदाहरण वहुत महत्त्वपूर्ण है वह वहुत वड़ा है। अतः दो लाइन ही यहाँ है—

"आधी सी रात चन्दना उठ गई जी
कर लिये सोलह सिंगार"

इन गीतो मे जहाँ वासना के निम्न दृश्य है वहाँ आदर्श प्रेम के उच्च उदाहरण भी हैं। एक स्त्री एक परदेशी बनजारे को अपनी कथा प्रतीकात्मक रूप में बताती है कि मेरा पति परदेश गया है। कच्ची खेती पक गई पर काटन हारा (फल–भोक्ता) नहीं है। छप्पर पुराना हो गया पर छाहमहारा (सुरक्षा देने वाला) स्वामी दूर है। बनजारे के "सोने से पीली तथा चाँदी से सेत कर देने के अनेक प्रलोभन देने परभी वह अपनी दोनो कुल की मर्यादा छोड़कर साथ जाने के लिये प्रस्तुत नही होती और कहती है—

"ऐसे तो मैं ना चलूं रे चदन बनजारे
कुल को दाग लगाय"

और वाद में उसे ही शिक्षा देती है कि वासनात्मक प्रेम तो क्षणिक होता है महत्त्वहीन है, वह तो साँभर की तरह गल जाता है अतः लौंग, इलायची की गंध देने वाले अमर प्रेम का ही व्यापार उत्तम है जो वैवाहिक दाम्पत्य जीवन में ही प्राप्त हो सकता है।

कुछ कथागीत गभीर है, जिन मे प्रेम के वलिदान का उल्लेख मिलता है उदाहरण के लिए चन्द्रावलि नाम के गीत में यह सिद्ध किया गया है कि प्रेम त्याग का ही नाम है। इनमें चन्द्रवलि नाम की नायिका की कीर्ति की घोषणा है। इसमें कुल के मान के लिए आत्म बलिदान का उच्च उदाहरण है। नायिका चन्द्रावलि पठानों

के द्वारा अपहरण कर ली जाती है। उनके शिविर मे ही वह अपहरण कर ली जाती है। बंदिनी अपने आत्मीय जनो को संदेश भेजती है–

"सिरग उडन्ती चीडली, अखियाँ देखी ले जाओ
मेरे बावल तौं यो कहो री, दे लई तंबुओ के बीच"

बाप, भाई, पति आदि ने उसको छुडाने का बहुत प्रयत्न किया पर कामलोलुप मुगलो ने फिर उस सती को मुक्त नहीं किया तो वीरबाला चन्द्रावलि ने ही आत्मबल बटोर कर गुरुजनो को आश्वस्त किया—

"जाओ बाबुल, जाओ बीरन घर आपने
राखूँ टुपिया की लाज
रहियो साजन घर आपने राखूँ टुपिया की लाज
सेज ना चढूँ पठान की, ना अपना धरम गवाऊँ"

वह पठान से कहती है—

"वै मुगल पठान के छोहरा पानी भर लाऊँ
प्यासी मरे चन्द्रावलि, जिमके लम्बे लम्बे केस

इधर मुगल ने पानी लाने के लिये पीठ फेरी उधर चन्द्रावलि ने—

"दे लई तवुओं में आग– गोरी तो जले चन्द्रावलि
केसु जलैं जैसे वन की रे घास
लोथ जले केला की गोभ ज्यूँ,
अर दाँत जले तिल चावलो

विलासी पुरुष रूपसी स्त्रियो के लिए हिंस्र पशु के समान है– चन्द्रावलि को जलती देखकर पठान पछताता हुआ कहता है—

"देक्खी ना भाल्ली, देक्खी थी चाक्खी नही
ये जले चन्द्रावलि केले कैसी गोभ"

"चन्द्रावल" जैसे गीतों का हमारे सांस्कृतिक जीवन मे बहुत महत्त्व है।

कथागीतो के भाव पक्ष मे गीतो मे मनोरंजन व उपदेश ही मुख्य है। इन गीतो मे दमित कामनाएँ देखने को मिलती हैं, स्वकीया परकीया, ऊढा, अनूढा जो बातें परिवारिक परिवेश मे छोटे-बडे की मर्यादा के कारण नही कह पाती, वह गीतो के उच्च स्वर मे सुनाई पड़ जाती है।

"गोपीचन्द" आदि गीतो मे भाई-बहन तथा वर्ग विशेष की पीडा है। रूपो, चन्दना, निहालदे आदि का व्यक्ति चरित्र है।

सावन के कथागीतो मे इस भाँति असख्य परिस्थितियो एव विभिन्न मन स्थितियो का चित्रण हुआ है। नायक नायिका का ऐसा सटीक व विस्तृत वर्णन कदाचित् अन्यत्र उपलब्ध न होगा। यौन-विज्ञान का मानो यह विश्व-कोश है। लोकगीत जीवन के मार्ग दर्शक है।

कथागीत समाज के मच पर मनोभावों का उत्साहपूर्ण नर्तन प्रस्तुत करते हैं। इन्हीं गीतो मे प्रेम की चरम परम पावनी धारा का प्रवाह रहता है जिसमें भातृ-स्नेह और मातृत्व का अमृत घुल जाता है।

कथागीतों में राम-कृष्ण से लेकर रोहतास, मोरध्वज, रूप–वसत, जाहर, नर-सुल्तान' गोपीचन्द, पूरन भगत, अमरसिंह तक की पौराणिक ऐतिहासिक कथाएँ सम्मिलित हैं। ये सभी जनता का अग वन चुकी हैं।

सावन की हलकी-हलकी फुहार के साथ ढोलक की ताल .पर "आल्हा" चौपालो तथा अमराइयों मे गूंज उठता है।

कुछ ऐतिहासिक महत्त्व के कथागीत है– जैसे जाहर पीर, आल्हा, गोपीचन्द भरथरी, चन्द्रावल, नर-सुल्तान, गुग्गा पीर, चन्दना, हँसा राव, निहालदे आदि कुछ कथाएँ सावन के गीतों के रूप में लोकसमाज मे प्रचलित है जैसे– ढोला मारू, वनजारा धोबी-वेटी, लच्छो, मरवन, मनरा, हेसा-मोरिनी आदि।

"जाहर-गुग्गा पीर" की बड़ी लोक कथा लोकगाथा के अन्तर्गत आती है। इसमे आत्मा की नश्वरता मे विश्वास उत्पन्न करने तथा लोक-मर्यादा की रक्षा के लिए उच्चतम बलिदान करने की कथा है।

मल्हार— मल्हन शब्द से वना है 'मल्हन' अर्थात् प्रसन्न होना। प्रसन्न भाव से जो राग धीरे–धीरे गाया जाए, वही "मल्हार" है। इनमे मद गति से पीड़ा की अभिव्यक्ति होती है। यह लम्बी लय में धीरे–धीरे गाया जाता है–उदाहरण के लिए—

झुलना झुलत नागण डस लई
एजी कोई डस लई, उँगली की कोर जी"

इन गीतो मे जीवन के व्यक्तिगत सुख दुःख की पीड़ा है।

"मल्हार" सावन के गीत हैं जिनमें स्त्रियाँ अपने सुख दुख की व्यंजना करती है जो स्मृति संचारी (अतीत) सुख–दुःख है। सुखद स्मृति भी दुखदायी हो जाती हैं क्योकि ऐसी स्थिति मे पात्र स्वयं एकाकी है और जिसके साथ स्मृतियाँ जुड़ी हैं वह अनुपस्थित है। इसी कारण "मल्हार" गीतो में वहुत कचोट और सहमी हुई पीड़ा का अनुभव होता है। इस प्रकार के गीत हृदय मे आलोडन उत्पन्न करते हैं।

"मल्हार" के स्वर आह्लाद से अधिक अवसादपूर्ण होते हैं। गीत मे लम्बी लय और धीरे-धीरे उत्पन्न होने वाला मंद स्वर होता है, जो परिस्थिति का सजीव चित्र प्रस्तुत करता है।

सावन के गीतो मे भाई–वहन के तथा वात्सल्य के भी गीत होते हैं, जिसमें सामाजिक सवंधो मे राग-द्वेप का आभास मिलता है–

एक भाई, माँ से वहन को लाने जाने का आग्रह करता है –

"मीठा तो करदे माँ मेरी कोथली
जाऊँगा, माँ, मेरी, वेव्वे के देस

साम्मण आया गूंज के"

लौटने पर माँ से बेटी का हाल पूछने पर वह माँ को बताता है—

"सोवत री छोड़ा वो देस री माँ
रोवत छोडी, तेरी लाड़ली री माँ"

वहिन अपने भाई के सामने अपने ससुराल के दुखों को मानो पिटारी खोलती हुई कहती है—

"भइया रे भइया पिठिया तो देख
जैसे धोवी का पाट रे"

वह सास, ननद व पति के दुःख को भी बताती है- पर साथ ही वह भाई को समझाती है कि मेरे दुःखों को माँ से न कहना क्योकि वह सुनकर सहन नहीं कर सकेगी। इस प्रकार बहिन भाइयो के गीतो मे स्नेह और करुणा का प्रवाह मिलता है। यह अभिव्यक्ति साहित्य मे उपलब्ध नहीं हैं। इस प्रकार यह निराली धारा है।

पावस ऋतु मे प्रस्थान वर्जित है, नायिका कहती है- "अब के चौमासे स्वामी घर रहो जी" इस के मूल मे नारी का शालीन सकेत ही है, जीवन की सफलता के लिए भी यह प्रवास अनुचित है। माह मे महाजल नहाने का अर्थ भी यही है कि वसन्त ऋतु मे गर्भाधान से उत्पन्न शिशु स्वस्थ, सुन्दर और मेधावी होता है।

सावन के गीतों मे शृंगार रस का उद्दीपन होता है— एक नायिका पति से कहती है -

"जायो मेरे नणदी के बीर
भतेरे दिन सो लिए"

ऋतुएँ स्वय ही यौन प्रवृत्तियों की प्रेरक होती हैं-तथा उत्तेजक सिद्ध होती हैं।

कार्तिक के गीत.- नारी समाज अधिक धर्मभीरू और धार्मिक प्रवृत्ति का होता है।उन पर ही मानों धर्म का ठेका है। पुरुष-समाज तो सब कुछ करके भी निश्चिन्त रहता है क्योकि नारी अपने कर्मों के साथ-साथ पुरुषो के कर्मों के लिए प्रभु से क्षमा माँगती है तथा प्रार्थना करती है। स्त्रियाँ पूरे कार्तिक मास, मे, माघ, बैसाख तथा लौद (पुरुषोत्तम मास) के महीने मे गगा स्नान करती हैं। मेरठ का गढ़ मुक्तेश्वर का मेला प्रसिद्ध है जो देव उठावनी एकादशी से कार्तिक पूर्णिमा तक रहता है। कार्तिक माह मे तुलसी-पूजन तथा तुलसी विवाह का बहुत महत्त्व है। गगा-लोक-मानस की माँ है उसका महात्म्य अनेक गीतो मे मिलता है—

"दुख हरणी- सुख देणी- गगा जी,
मन की तो रेस मिटाओ गगा जी"

तथा —

"तू मोहे मिल ले, मोहे मिल ले मेरी माँ"

उनकी मान्यता है कि गंगा स्नान से सब पाप कट जाते हैं।

कार्तिक महीने में स्त्रियाँ तारों की छाँह में गंगा स्नान करती है। सूर्योदय के पूर्व जल भी कम ठंडा रहता है तथा इनमें देवी-देवता संबन्धी और गंगा संबंधी गीत गाये जाते हैं जो शांत रस में आते हैं। इन गीतो में झाड़ू, तुलसी, सालिग्राम, सूरज, गंगा, चुटक विनायक आदि के गीत ही विशेष हैं।

सवेरे सब से पहले स्त्रियाँ गाती है—

"उठो री सुहागिन नार, झाड़ू दे लो आँगना
न्हाय-आई, धोय आई, लीप आई आंगना
सिरी क्रेसन जी के नाम से,
जिमा आई बामना—उठो री"

इन गीतों में धर्म और कर्म का बहुत विशद वर्णन मिलता है। वास्तव में कर्म ही धर्म है।

स्त्रियाँ झाड़ू के बाद तुलसी-गीत गाती हैं जो इस प्रकार है—

"तुलसी महारानी नमो नमो,
हर की पटरानी नमो नमो"

शालिग्राम (विष्णु) कृष्ण रूप हैं। स्त्रियाँ सालिग्राम की पूजा करती हैं फिर सूर्योदय के समय वह गाती हैं—

"भज सूरज देव— लटाधारी
उठो उठो सूरज किरन पसारी
द्वार खड़ी, परजा सारी दरसन वारी
भज सूरज"

इसके बाद चुटक विनायक का गीत दिन भर के कार्यों की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से गाया जाता है।

कार्तिक के गीतो मे जीवन से घनिष्ठ संबंध है। हिन्दू जीवन को व्यवस्थित करने में लोकगीतों का बड़ा हाथ है। प्रातः स्नान कर चंदनादि से युक्त हो भक्ति-गान मे तल्लीन होने से भावना शुद्ध एवं भक्ति दृढ़ होती है। इसके फलस्वरूप वासनाओं से मुक्त होता है। तप, ध्यान, दान आदि से व्यक्ति की आत्मिक उन्नति होती है।

इस माह मे संध्या गीत भी अपना महत्त्व रखता है—

"संध्या का सिमरन करो रे मन तू
साँझ हुई दिन छिपने को आया
घर घर गइयाँ आई रे
दोनो वखत मिले हर का गुन गाय ले रे"

फागुन के गीतः— कुरु जनपद अति उर्वर प्रदेश हैं। होली वसन्त ऋतु में

आती है। लोकमानस फागुन के महीने में वसुधा के यौवन को देख कर ही होली के ढोल-ढप्प वजने लगते है, प्रकृति ठड की जकड़न से मुक्त होती है और अपने यौवन की चरम सीमा पर रहती है तभी इस मदमाते वातावरण से मानव का हृदय नाच उठता है। पूस, माघ के जाड़े और शीत की उग्रता के कारण गीतो की ध्वनि मद पड़ जाती है। माघ मे वसन्त पचमी से फिर गीतो की लहर उठती है और फागुन मास मे तो यह अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इस महीने में होली और धमार ही अधिक गाये जाते है। इस समय की वासन्ती बयार और गुलावी जाड़ा अजीव मादकना वातावरण मे भर देता है। फागुन का मस्त महीना अवस्था की उपेक्षा कर बडे-वूढ़ो को भी सरस वना देता है– एक गीत मे कहा है—

"फागण मे जेठ बडे रसिया"

वसंतागमन पर प्रकृति का उल्लास दर्शनीय होता है। शीत अतीत होने पर मानो जगती को नूतन प्राण व नवजीवन प्राप्त होता है जो वृक्ष लतादि मे पुष्प सौरभ, पक्षियो मे कोयल की कूक और मानवों मे गीत बनकर फूटता है। खड़ी वोली प्रदेश की उर्वरा भूमि मे यही उल्लास खेतो मे पीली सरसो तथा वायु की प्रत्येक सिहरन पर थिरकती हुई गेहूँ की वाल के रूप मे पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण तक सर्वत्र विखर जाता है।

सावन मे जिस प्रकार स्त्रियो के कठो से करुण स्वर-लहरी प्रवाहित होकर वातावरण को आर्द्र बनाती है, उसी प्रकार फागुन मे मनुष्य का कठस्व उसके उन्माद को वढाता है। गीत पर गीत फूट पड़ते हैं। रात और दिन होली के गीतो का समा वँधा रहता है। इनका प्रधान वर्ण्य विषय राधा-कृष्ण तथा शिव की होली होती है। इन मे शृंगार भावना और क्रीडा भावना ही प्रधान होती है। शिव जी संवधी एक प्रसिद्ध गीत है—

"दुनिया ने वोया मक्का वाजरा
भोले ने वो दई भंग
दुनिया ने खाया मक्का वाजरा
भोले ने खाई भग"
मेरी माँ, भोला री, अरे भोला ने पी लई भंग

इसी प्रकार "सदा शिव ने होली मनाई" गीत गाया जाता है।

लोक संस्कृति में हर अवसर पर देवी-देवताओ का नाम पहले लिया जाता है। लोकजन हर कार्य (निषिद्ध भी) उन्ही की परपरा मे उनको साक्षी रख कर करते हैं। इसके मूल मे सभवत अपने हर कृत्य को न्यायोचित ठहराने का ही भाव है। इसी का प्रमाण यह गीत है—

"होली खेलन चलो री विरज मे
होली खेल रहे नन्दलाल
अरी गोकुल की कुंज गलिन मे

सासू भी खेले, सौहरा भी खेले,
म्हारे खेलन की क्या चोरी रे
बिरज मे"

फागुन मास के मादक वातावरण मे वियोग असहनीय हो जाता है– क्योंकि मादक वातावरण मे सुप्त काम वासनाएँ जागृत हो जाती हैं, जिसका प्रभाव हर अवस्था के लोगो पर पड़ता है—

"रडुँआ तो रोवै आध्धी रात
सुपने में देखी कामनी"

तथा:—

"कच्ची अम्बली गदराई रे फागण में
राँड लुगाई मस्तानी रे फागण मे"

एक स्त्री अपने पीहर से ससुर को सदेश भिजवाती है—

"जा कहियो रे मेरे ससुर भले से
गौना ले जइयो पीहर में
जा कहियो उस बहुअड़ भली से
चार महीने गम खा जा पीहर मे"

विरह से वचने के लिये एक स्त्री अपने पति से कहती है—

"वालम रे चाकरी मत जा
सालू चादर वेच के,
ले देती अफीम"

पत्नी अपनी आवश्यकता तथा शृंगार प्रिय वस्तुओं को वेचकर पति की इच्छा व आवश्यकताओ की पूर्ति तक करने को तत्पर है।

लोक समाज ने जिनकी वासनाओ को दमित कर दिया है उनकी भी कामोत्तेजना जागृत हो उठती है। कोई भी प्रकृति की उपेक्षा नही कर पाता न अप्रभावित ही रह पाता है।

होली के गीतो मे हास्य-व्यग्य तथा कही कही पर सामाजिक सीमा का उल्लघन कर अश्लीलता के भी उदाहरण मिलते है जो वहुत मनोवैज्ञानिक होते है। होली के वहाने लोग कहनी अनकहनी कह लेते हैं इस तरह वर्ष भर के दवे उनके विकारों को स्वाभाविक विकास मिल जाता हे।

होली के इस अवसर पर गाये जाने वाले गीत होली और 'पटके' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। "होली" पुरुषों के होली गीत होते और "पटके" स्त्रियो के होते हैं जिनको वह घेरा वनाकर ताली वजाकर नृत्य करती हुई गाती है।

"पुरुषों की होली" प्रसिद्ध भारतीय महाकाव्य रामायण, महाभारत की घटनाओ व अन्य प्रसिद्ध नायको से सवन्धित होती हैं। "राजा कारक की होली"

इस प्रदेश मे प्रसिद्ध है। महाभारत के लाक्षागृह की होली भी इस प्रदेश में प्रचलित है—

"लुक दे गया भीम गगन मे
आधी रात करन का पहग
बारा घटे वज गये
बाहर से कीचक सो रह्या
बहणा की अरज सुण बीरा
दो बांदी आ लगी, म्हारी बिपदा का कुछ
मोल नही"

स्त्रियों के गीत हास, परिहास के और रोमाचक होते हैं जो अवैध यौन सकेतो से पूर्ण होते हैं। फागुन के गीतों मे यौन जीवन के विविध प्रकारो का वर्णन है। ऋतु प्रभाव से कुएँ मे भांग पड़ जाने जैसा प्रभाव होता है। हमारे देश मे यौन सबंधो की पावनता पर भी बल दिये जाने के उदाहरण मिलते है—

"पतली केला सी,
देवर विना नवाई, नब जागी
बांगा आइयो रे, देवर बांगा खड़ी अकेली
कैसे आऊँ री भावी तेरा वलम मेरा बैरी
मरने न दूं हो, देवर गैल सती हो जागी
पतली केला सी"

होली सार्वजनिक त्योहार है। जिसमे किसी जाति, रग भेद का विचार नही किया जाता है- सारी मर्यादाओं की शृंखला तोड़ कर नर-नारी इस लीला रग मे भाग लेते हैं—

"होली वी खेल्ले ठप्प वा वजाकै
गलियो मे उडे ए गुलाल
कहियो मुरेठणतै, होल्ली खेलण आवी
नवाव,
हँसली गढावै फिरगी को लडको
हँसला गढावै नवाव
लंहगा सियावै फिरगी को लडको
कठला गढावै नवाब
ऐसी होली खेले भिरँगनेणी
म्हारे साफा की रखियो लाज"

यो तो होली सभी सवन्धी पडोसी आदि खेलते हैं पर शेप यह देवर भाभी साली वहनोई आदि की होती है जिनको देवर और जीजा खेलने के बाद उपहार भी देते हैं जिसे "फगुआ" कहते हैं। यह उनका नेग (हक) होता है। नववधू को भी

वडे रिश्तेदार "रंग डलाई" का नेग देते है।

होली के दिनो में भूमि की उर्वर सम्पन्नता को देखकर सामूहिक रूप से प्रसन्नता व्यक्त की जाती है। होली हास-उल्लास का त्योहार है।

ऋतु गीतों मे विशेषतया होली व सावन के गीतों मे श्रृंगार रस प्रधान है। होली मे तो वातावरण ही श्रृंगारमय हो जाता है। इसी से कही-कही पर अश्लीलता की झलक भी मिलती है, उसका सर्व व्यापक प्रभाव होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि ऋतु गीतो में मानव मनोवृत्तियो का जैसा विपुल ज्ञान मिलता है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

11/210, सूटरगंज,
कानपुर (उ० प्र०)



'निषाद बाँसुरी' से—

लोकसस्कृति एवं श्रमिक या सर्वहारा संस्कृति दोनों दो तरह की संस्कार पद्धतियों की सन्ताने है। पर हम लोग असावधानी के कारण इन सारे शब्दों को समानार्थक रूप मे प्रयोग कर देते हैं। इस असावधानी का कारण है वामपथियो के वैचारिक स्वैराचार का प्रभाव, जिसके अनुसार 'जनता' का अर्थ है 'पार्टी' और 'लोक' का अर्थ है 'श्रमिक'। प्रत्येक किस्म के श्रम का मानसिक (मैण्टल) और शीलाचारिक (मारल) मूल्य भिन्न-भिन्न होता है। और इस भिन्नता की ओर आँखे मूंदकर केवल श्रम को अर्थात् शरीर रूपी मशीन की किया को कसोटी मानकर कृपक की, गायक की और पत्रकार की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार करना समाजवादी सस्कृति का सबसे वड़ा दोष है। हम आशा करते है भारतवर्ष के सन्दर्भ मे हम समाजवादी सस्कृति की इस अवधारणा को सशोधित कर लेंगे और लोकसस्कृति की मूर्ति भजन या मूर्ति अपहरण से रक्षा कर सकेंगे। मैं इस स्थान पर प्रेमचन्द द्वारा दी गई दुहाई को उद्धृत कर रहा हूं—"मुझे लेखक को कलमी मजूर समझने मे कुछ आनन्द नहीं मिलता। लेखक केवल मजूर नहीं वल्कि और कुछ है। वह विचारों का आविष्कारक, उत्तेजक और प्रचारक भी है।" "कलम का सिपाही" मे प्रकाशित अश से—

—कुबेरनाथ राय

कुरु जनपद की होलियाँ

रघुनाथ सिंह

भारत मे बसन्त ऋतु एक ऐसा उल्लास भरा समय अपने साथ लाती है, जिसमे जड चेतन सभी मे एक समान जीवन का सचार होता है। वनस्पति जगत अगडाई ले उठता है, नवांकुरो मजरियो व फूलों से लद जाता है। इसी समय मानव जीवन मे भी नवरक्त का सचार होता है। और वह भी इन अनुपम क्षणो मे प्रकृति के सामरस्य मे झूम और गा उठता है।

इसी ऋतु में होली का उत्सव आता है और लहराती खड़ी फसल को देख मानव का मन-मयूर नाच उठता है। मन चाहता है कुछ गाऊँ और बजाऊँ। देश के प्रत्येक भाग मे होली का त्यौहार रागोत्सव के रूप मे मनाया जाता है।

कुरु प्रदेश में इस ऋतु के राग का नाम ही होली है।होली की टेकके पश्चात् एक छन्द लावनी का रहता है। लावनी का उद्गम स्थान महाराष्ट्र प्रदेश माना गया है। वहाँ पर इसे क्षमापात लावणी भी कहते हैं। वहाँ से चलते-चलते यह मराठी लावनी 'फसल कटने का राग' कृषि प्रधान उर्वर कुरु प्रदेश तक आया और कालातर मे हिन्दी पिंगल का छन्द बन गया। इस लावनी छन्द का वर्गीकरण कभी विपय के आधार पर किया जाता रहा, कभी प्रादेशिकता के आधार पर तो कभी लावणी गान की शैली के अनुसार।

इसी लावनी छन्द के अन्तर्गत होली गान की पद्धति कुरु प्रदेश मे अपनाई गई। बिना लावनी के होली होली नही होती क्योकि यह राग होली के दिनो मे ही गाया जाता है। इस कारण न जाने कब से लावनी को अपने मे लेने पर इसका नाम ही होली पड़ गया।

कुरु प्रदेश में होली के उद्गम का सुनिश्चित काल निर्धारित करना कठिन है। यह कब से प्रचलित हुआ, इस का कोई लेखा-जोखा कही नही मिलता। समय के साथ होली राग मे लावनी के अतिरिक्त अन्य छन्दो को भी स्थान मिलता गया और उस युग के लोक कवियो ने उसमे उनका पूरी तरह निर्वाह किया है। विपया-नुरूप होली प्रेम-शृगार तक सीमित नही रही अपितु इस गायकी द्वारा समाज-सुधार इतिहास, लोक जीवन तथा आध्यात्मिकता का भी प्रचार किया गया।

होली के सम्बन्ध में जो साहित्य कुरु जनपद मे उपलब्ध है, उसमे न जाने कितने लोक कवियो का योगदान रहा होगा फिर भी आज से एक सौ वर्ष पहली

रचनाए प्राप्त है। उनमे वासुदेव, घीसा, दीवान, रामशरण, मनफूल, गोविन्द राम, मथुरा प्रसाद, मीरदाद, हिम्मत सिंह, रिसाल सिंह, बलवन्त सिंह, हरीराम, लालसिंह आदि कवियो की रचनाएँ प्रमुख है।

दीवान दत्त ग्राम दबथआ (तहसील सरधना) जिला मेरठ के निवासी थे। इनके गुरु श्री रामशरण जी बेड़े के रहने वाले थे। इन दोनो की होलियाँ दोनो नामो से प्रकाशित हुई है। इन दोनो कवियो की लिखी होलियों की सूची मे ४१ पुस्तक हैं जिनमे लाखा भवन, द्रोपदी स्वयंवर, सभापर्व (दौपदीचीर) वैराठ पर्व (कीचक वध) गऊ हरण (अभिमन्यु व्याह। उद्योग पर्व, भीष्म पर्व, चक्रव्यूह, जयद्रथ वध, कर्ण वध शल्य वध, गदापर्व अश्वमेध पर्व ये तेरह रचनाएँ महाभारत के आधार पर है। इसी प्रकार रामायण कथानक को लेकर आठ रचनाएँ, मछोदरी का व्याह, सिया स्वयवर राम-वन वास सीता हरण, लका चढ़ाई, लक्ष्मण मूर्छा, सलोचना सती, सीता वनवास। इसके अतिरिक्त तुलसीदास, हरिश्चन्द, बीजा सोरठ, मछला हरणा, नल जन्म, नल का व्याह नल की ओखा ढ़ोला का जन्म, ढ़ोला बाग दरवाजा, ढोला अमर कोट की लडाई, नरवर ताल, कंवर निहालदे, गोपी चन्द पूरण भक्त, रूप-वसन्त, कारक सावल दे, मोरध्वज प्रहलाद, रानी नवलदे, उषा अनिरुद्ध, ज्ञान पकड़ खोज आदि अन्य कृतियाँ मुख्य है।

उक्त कवियो के सम्वन्ध मे अधिक जानकारी उपलब्ध न होते होते हुए भी इनका काव्य काल एक सौ वर्ष के ऊपर ठहरता है। राम शरणजी बेड़े वालों ने अपने काव्य गुरु लोतीराम जी का उल्लेख किया है जो इस काल को और भी पीछे ले जाता है। उक्त दोनो कवियो की होलियो मे होली की टेक उसके बाद में लावनी और बाद मे तोड पर होली की एक कली मिलती है।

कंवर निहालदे तीज के अवसर पर बाग मे झूलने जाती है, इसका वर्णन उक्त कवियो ने इस प्रकार किया है:—

टेक— झूलन चली मध की जाई
लावनी—गाती गीत चली महलो से जितनी थी सारी कामिन,
झिल-मिल, झिल-मिल करता जोबन दमक रही जैसे दामिन।
तोड़ सबके आगे मध राजा की गोरी, नागिन सी लहराई॥ १
लावनी—इन्द्र परी सी बन रही कामिन, चन्द्र वदन मुखड़ा दमके,
जो कोई देखे मोहित हो जा, पडा धरन ऊपर सिसके।
तोड़—नैंन बाणा लगैं हृदय मे, गोरी बिजली सी देत दिखाई॥ २
लावनी—चाल चले गज-हस्ती वरगी, ठुमक ठुमक पग ठाती है,
बाजें बिछवे लगे ठमकोरा, राग ताल पै गाती है।
तोड —चला चली बागो मे पहुंची, गोरी रोश देख हरसाई॥ ३
लावनी—छुट रही महक भवर गुञ्जारे चम्पे पै आ रही बहार,
सैर करती फिरे कामनी, मन मे हो रही खुशी अपार।

तोड़— कहे दिवान बैठ के धोरे, गोरी आपस मे बतलाई ।। ४

उक्त होली में कवि ने निहालदे के रूप का वर्णन किस उत्तमता से किया है !

श्री रामशरण बेडे वालों की एक कृति लखिया बन की लड़ाई (जन्म ढोला) प्राप्त हुई है जिसमें उन्होने अपना गुरु लौतीराम को माना है।

चौधरी घीसा राम जी भटीपुर तहसील मवाना जिला मेरठ के रहने वाले थे। इन्होंने जितना होली साहित्य लोक को दिया उसे देखते हुए कहना पड़ेगा कि यह अपने युग के एक असाधारण कवि थे। होली पर उनकी करीब 30–40 पुस्तकें मिलती हैं। घीसा का जन्म 12 जनवरो 1852 ई० में हुआ और उनकी मृत्यु जनवरी 1909 में हो गई। उनकी होलियों का समय आज से लगभग 100 वर्ष पूर्व बैठता है। इनके हाथ की लिखी रचनाएँ भी अभी प्राप्त है। होली राग के अतिरिक्त भजन, आल्हा, ख्याल, झूलने, बारहमासे सभी विधा मे उन्होने अपनी लेखनी चलाई थी। घीसाराम जी होली साहित्य मे बहुत सिद्धहस्त कवि माने गये।

घीसा राम के शिष्यों में 1– मिश्र दुर्गा, 2– हीरालाल महाजन, 3–झण्डू (भटीपुर) 4– कल्लू प्रताप (मेरठ) 5– भूप (अनलपुर) 6- शिव लाल (फलावदा) 7- उद्दे नरपत (लाड़वा) 8- सागर (मेघपुर) 9- तिरखाराम (लाड़पुर) 10- छज्जू राम (अलीपुर) 11- भगतराम (नली) 12- रामनाथ (नारनौल) 13- हरद्वारी चन्द्र 14- मोमराज, 15- मोहनदास लुहारी, 16- नेकराम (लाड़पुरा) 17- खड़का रामचन्द्र (सदर मेरठ) 18- रामजीलाल (धीराडू जिला जींद) 19– मुशतरी (मु० नगर) 20- राम रतन करनाल) 21- मूलचन्द, 22- अर्जुन (माजरा जिला अम्बाला) 23- निरजन दास (टांडा) 24- मलखान सिंह कुलसट जिला मुजफ्फरनगर, 25- हरवंस लाल, 26- फकीरा (अहमद नगर जिला बुलन्दशहर) 27– राम प्रसाद (हासी)। होली पर इन्होने जितने साहित्य की रचना की उसमे वह अपने समय के प्रसिद्ध हुलियारे हुये।

मनफूल सिंह त्यागी निवाड़ी जिला मेरठ के निवासी थे। होली राग में जो मोड़ उन्होने दिया वह अपनी भाँति का अनुपम था। वह फूल सिंह नगला निवासी के शिष्य थे। उन्होने होली की अनेक पोथियाँ लिखी जिनमे राजा हरिश्चन्द, होली राजा नल, होली विपता धर्मंयुधिष्टर, होली कंवर निहालदे सती तथा होली परवाने निहालदें है। इन रचनाओ मे परवाने बहुत प्रसिद्ध है। मनफूल की होलियो मे ग्रामीण साहित्य की पूर्ण झलक है। इनकी भाषा अधिक ग्रामीण व्यावहारिक स्थानीय देशज थी। परन्तु जो भाव मनफूलसिंह अपनी होलियों मे लाये, वह बहुत सुन्दर है। इनकी अभिव्यति के लिए वह स्थानीय बोल चाल के अनेक शब्द डालते थे। जिस कारण उनकी कविता में मधुरता व भाव सौन्दर्य पाया जाता है। उदाहरणार्थ इन्होंने से के स्थान सेवी, कुई (को), देई (कर) नाथा (नही था) सोताई (सोता हुआ) अछन्नाए (अच्छे)। वेतूल (अतुल) आदि शब्दो का प्रयोग किया है। ऐसा कौन जगत मई जन्मा अहकार जिनके ना सात' इसे कौरवी भाषा मे इस प्रकार भी कहा जा सकता था

"ऐसा कौन जगत मे जन्मा अहकार जिसके ना साथ" । इसी प्रकार 'मानीहार झक-मार भूप की ओही ओहीदी नेडेई आई' । इसे भी "मानी हार झकमार भूप की वह अवधि नेड़े (निकट) आई" । मगर मनफूल सिंह जी ने 'मेरे' के स्थान पर मेई 'वह' के स्थान पर 'ओहि' नेडे (निकट) के स्थान पर 'नेडेई' स्थानीय पुट दिये विना अपनी रचना को अधूरा माना । यही उनकी रचना की विशेषता है । उन्होने 'विरले' न कह-कर (विरलेई) उच्चारण चुना । उन्होंने भाव व भाषा की चोरी नही की । जो उनके पास था उसे जैसा का तैसा पाठको (श्रोताओ) के सम्मुख रख दिया । इसकी कविता लोक गायको पर आधारित है ।

होली गीत की पुरानी लीक पर वह नही चले । उन्होने अपनी नई शैली अपनाई और उसमे उन्हे सफलता भी सब से अधिक मिली । उनकी होली की टेक दुगन की टेक कहलाती है । जो अन्य होलीकारो से सर्वथा भिन्न है । उन्होंने होली की टेक के पश्च ात् लावनी और उसके वाद झड़ी नामक छन्द की भी रचना की । जिसका उदाहरण इस प्रकार है—

टेक होली—कथा पुरानी पाडो सुनियो कथा पुरानी ।
लावनी—पुराचीन सतयुग के मध में, हरिश्चन्द्र जन्मे दाता ।
त्रिशकु थे पिता जिनों के, सत्यवती जिनकी माता ॥
झड़ी – माता नाम सतवती, झू ठ ना रती, ज्ञानकी अती, रहे नित दासी,
सुरजवंसी वंस अजुध्या वासी ।
कर दई पाँचो को सजा, जुल्म का तजा, धर्म की ध्वजा,
बंधी अवकासी । रहे सदावरत द्वारे पै बारे मासी ॥

मनफूल सिंह ने निहालदे द्वारा भेजे गये परवानो मे जो होली गीत लिखे है, वे लोक साहित्य की अनुपम निधि हैं । मनफूल सिंह घीसाराम भटीपुरा निवासी के नमकालीन थे । उनकी मृत्यु 60 वर्ष की अवस्था में स० 1983 विक्रमी में हुई ।

मुन्शी वासुदेव सहाय त्यागी ग्राम खडखड़ी तहसील हापुड़ के निवासी थे । उन्होंने लोक साहित्य की अन्य विधाओं के अतिरिक्त होली गीत की रचना में भी वडो ख्याति प्राप्त की है । उन्होने होली 'प्रेमवती सोदागर बच्चा' की रचना सम्वत् 1959 वि० में की थीं । उनकी मृत्यु सन् 1918 ई० में हुई इस प्रकार घीसा, मनफूल सिंह और वासुदेव सहाय समसामयिक युग के कवि हुए है । वासुदेव सहाय सुधार वादी कवि थे । उन्होने बाल विवाह के विरुद्ध और विधवा विवाह के पक्ष में अपनी युक्ति पूर्ण सतर्क रचनाएँ भी की है । होली कंवर निहालदे की सखी ऊदा द्वारा बाल विवाह के विरुद्ध कवि ने जो कुछ कहलवाया है, उससे प्रगट होता है कि होली के विषयो मे भी इस समय पर आकर सुधारवादी दृष्टिकोण आ गया था ।

इनकी कविताओ मे ऋतु वर्णन, नख–सिख, संयोग–वियोग का भी सजीव वर्णन पाया जाता है ।

वासुदेव सहाय ने होली गीत को एक और मोड़ दिया । उन्होनेटेकके पश्चात

एक उठान पद की संज्ञा के अतिरिक्त छोटा ख्याल, बारहमासा, लावनी, झूलना और त्रिमान देकर एक नई होलियों की रगत चलाई।

वासुदेव सहाय सेढू सिंह जी के शिष्य थे। प्रेमवती–हीरानन्द की पवित्र प्रेम कथा को जिस सुन्दर ढग से मुन्शी वासुदेव सहाय जी ने प्रस्तुत किया है उसके कारण यह होली ग्रन्थ उनकी रचनाओ मे सर्वश्रेष्ठ बन पड़ा है।

श्री सेढू सिंह के शिष्यो मे श्री मीरदाद ने जो कुछ कुरुजनपद के साहित्य को अपनी रचनाओं मे दिया है उससे हम कभी उऋण नही हो सकते। मीरदाद ने हापुड़ मे एक मुस्लिम त्यागी ब्राह्मण परिवार मे जन्म लिया था। उन्हे जितना हिन्दू धर्म ग्रन्थो का ज्ञान था उतना प्रायः अनेक हिन्दू धर्मध्वजो को भी नही होता। उन्होने अपनी रचनाओ मे चाहे वे चौबोले हो, ख्याल हो अथवा राग रागनियाँ हो, अपनी कृति के स्तर को नीचे नही गिरने दिया। हिन्दू धर्म के प्रति एक मुसलमान होते हुए जितनी श्रद्धा मीरदाद की रचनाओ मे मिली वह अन्यत्र देखने मे नही आई।

इनकी पुस्तक 'निर्गुण ज्ञान पकड़' मे आध्यात्मिकता तथा रहस्यवाद भरा पड़ा है। इन होलियो मे जो पकड (प्रश्न) अपने समकालीन होली गायको से मीरदाद ने किये है, उनसे उनकी अभूतपूर्व प्रतिभा का परिचय मिलता है। उनके पिंगल ज्ञान की सूझ बूझ यह प्रगट करती है कि वह 'काता और ले भागे' कवि न थे। उन्होने जो कुछ सीखा पढा–गुना और उसी को अपने काव्य मे उल्लेख किया है और जो कुछ लिखा, वह पूरा लिखा।

'निर्गुण ज्ञान रत्न' मे मीरदाद के एक शिष्य हिम्मत सिंह सिकैंड़ा निवासी की भी कुछ होलियाँ है जो इस ग्रन्थ में प्रकाशित हुई हैं। हिम्मतसिंह के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त करने की आवश्यकता है। हिम्मत सिंह द्वारा लिखी गई एक होली मे होली टेक, त्रिभान, छद, ख्याल, झूलना और एक और छद के पश्चात् तोड़ आती है। इस प्रकार चारो कलियो में कवि ने, छन्दो को देकर अपनी सूझ बूझ और ज्ञान का परिचय दिया है:—

दूसरी होली टेक—"सुनो पाच मसल की होली" से शुरु होती है इसमे कवि ने पांच लोक कथाओ का वर्णन किया है।

होली राग के गायक और हुलियारो के सम्बन्ध मे कोई योग्य विद्वान् यदि खोज पूर्ण ग्रन्थ लिखे तो अभी बहुत से हुलियारो के नाम ग्रामीणों को याद हैं। लेख का कलेवर बढ़ जाने के कारण और उनकी कृतियाँ उपलब्ध न होने के कारण यहाँ सक्षेप में उनका परिचय दे देना ही श्रेष्ठ होगा। मेरठ के गुमानी की होलियाँ बड़ी प्रसिद्ध थी। सरधना तहसील अन्छाड़ ग्राम के शकर और कुसाल्ली बहुत अच्छे होली गायक थे। करनावल के प० बलवन्त सिंह ने भी अच्छी होलियो की रचना की है। उनकी 'सीता बनवास' होली महाभारत, गऊहरण, चक्रव्यूह, करण वध है। श्री चन्दन सिंह पचेंहडा निवासी की अनेक पोथियाँ अभी उपलब्ध है जो बहुत प्रसिद्ध

है। हरीराम हापुड़ की 14 होलियों की सूची है जो स्वयं हरीराम जी ने छपवाई है। फूलसिंह नगला निवासी के शिष्य श्री चौ० मलखान (अन्ने की) जिला सहारनपुर की होलियाँ भी मिलती हैं यह ग्राम खरखौदा के मूल निवासी थे। चौधरी रिसाल सिंह अटौदा (पोस्ट मवाना) के रहने वाले है इन की एक होली 'चिन्तामणी सूरदास' है।

बरषा (तहसील मवाना) निवासी पंडित गोविन्दराम और मथुरा प्रसाद दोनों चाचा और भतीजे थे। इन्होंने सामूहिक होली गायकी की परंपरा को विकसित किया है। इसी प्रकार अन्छाड के शंकर, कुम्हारी भी सामूहिक होली गायक हुए हैं। गोविंद राम, मथुरा प्रसाद यद्यपि साधारण स्थिति के ब्राह्मण थे परन्तु उक्त दोनों के काव्य ने उनका नाम दूर दूर तक फैला दिया। उक्त कवियों की होलियाँ हमें प्राप्त नहीं हुई। उनके महाभारत के भजनों से यह सिद्ध होता है कि वह उच्च कोटि के कवि और गायक रहे होंगे।

कुरुजनपद में होली के गायक और उसके रसिकों में प्रथम स्थान गूजर जाति को प्राप्त था। जाटू और चमारों की होलियाँ भी अपने प्रकार की थीं। होली में 'देश भेद' जाति भेद, नायिका-भेद सभी वर्णन होते थे। कुछ होलियाँ ग्रामों के नाम पर गाई गई जैसे "भटीपुरे की नार अलबेली" इस होली में मवाना की तरफ की ग्रामीण नायिकाओं का वर्णन है। इसी प्रकार एक होली 'नियाड़ी की नार अलबेली' इस होली में तगाओं की स्त्रियों का वर्णन था। "निरपुड़े की नार मतवाली" में बागपत तहसील की ग्राम ललनाओं का वर्णन हुआ है। ग्राम चणा तहसील मवाना निगरू नामक कृषक ने अपनी एक होली में अनेक निकटवर्ती ग्रामों के चाल-चलन की आलोचना की है।

होलियों के इन देश भेद, जाति भेद, नायिका वर्णनों में नख-शिख वर्णन भी कहीं-कहीं अवसर पाकर पिरो दिया गया है। कवियों की सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि, वातावरण का लोक रुचि एवं लोक-जीवन पर प्रभाव व्यक्त करने में सक्षम रही है। यही वह स्थानीय-रंग है जिसके कारण लोकसाहित्य को विशिष्टता प्राप्त होती है।

अनेक होलियों की रचना अपने ग्राम की किसी विशेष घटना को लेकर करते थे। इस प्रकार की होलियों में ग्रामीण जनता बड़ा आनन्द लेती थी। ऐसी एक होली बालैनी में प्रधान के चुनाव को लेकर बनाई गई थी। हमारे ग्राम में भी एक ग्रामीण ने पंचायत के चुनाव के सम्बन्ध में ऐसी रचना की थी। इस प्रकार होलियों के विषय उनके दीर्घ विकास काल में धार्मिक-पौराणिक एवं सुधारवादी ही नहीं रहे अपितु सामाजिक स्थिति के अनुरूप बदलते रहे है। उन पर देश काल की छाप स्पष्ट है। लोक गायक सदर्भ से हटकर कभी कुछ नहीं कहता, यही उनकी लोक प्रियता का रहस्य है।

होली राग का गान हर्ष नर्तन में होता था। चमाऊ होली का गान गोला—

कार खडे होकर किया जाता था। इसके अतिरिक्त होली राग अन्य सभी के द्वारा ढोल झाँझ और घडियाल तथा कही कही धौसा वजाकर सामूहिक रूप मे गाया जाता था। होली की टेक गा लेने पर वाद्य वजता था। उसके पश्चात् लावनी तथा अन्य छद गाए जाते थे और तोड के पश्चात् वाद्य यत्र एक दम गूँज उठते थे। इसमे नृत्य नही होता था। परन्तु होली उत्सव के निकट आकर यह राग दूसरा रूप धारण करता था। इसमे कुछ नृत्य का समावेश होता तथा नर्तक स्त्री वेश धारण करते थे। कागज के वने घोडो पर सवार पुरुप तथा एक सुन्दर स्त्री वेष भी नृत्य करते थे। ऐसी होली गलियों मे घूम फिर कर होती थी। इनमे तोड़ के पश्चात् वाद्य और नृत्य का समा वँध जाता था।

होली राग ने अ गे चलकर ग्रामीण मच का भी स्थान लिया और होली का साँगो मे भी प्रयोग होने लगा। जिस कथानक पर होली होती थी उसके विभिन्न पात्र उसी वेशभूपा मे रग मच पर आकर अपना सवाद बोलते थे। अखाडे का उस्ताद उस कथानक का श्री गणेश करता था और रगाचार के सवादो का स्वय गान करता था। कथानक के पात्र अपने सवादो पर गाई जाने वाली होलियो का जिस समय स्वय गान करते थे उसका दर्शको पर भारी मोहक प्रभाव पडता था। उदाहरण के लिये नरसुलतान अपनी होली गाता था तो कँवर निहालदे अपनी और ऊदा अपनी होली गाती थी। यह प्रथा ग्राम जनो को वहुत पसन्द आती थी। नौटंकी की व्रजगान पद्धति जिस भाँति नगरीय मच नाटको की उद्भावना मे सहायक हुई, उसी भाँति होली की यह प्रथा कदाचित लोक मच मे विकास का कारण वनी हो। नौटकी एव होली दोनो मे ही नृत्यगान का समावेश है और वही दोनो तत्त्व स्वाँग और नाटक मे प्राणतन्त्र की भाँति जुड़े है।

लोक साहित्य की लोक मच विधा के अतिरिक्त होलियो का अध्ययन भापाई एवं लोक छदो के अध्ययन की दृष्टि से ही अभीष्ट होगा।

—रैन बसेरा
ग्राम ईकड़ी
जिला मेरठ



कुरुजन पद की स्वाँग परम्परा

—वेदप्रकाश गर्ग

लोकधर्मी नाट्य के विभिन्न रूपो मे– स्वाँग, नौटकी, भगत आदि प्रचलित रूप है और प्रायः पर्य्यायवाची है। इन सव का मुख्य छंद 'चौवोला' है। अतः इन्हें 'सांगीत' (स्वाँग+गीत) नाम से पुकारते हैं। इसमे संगीत और पद्य की प्रधानता होती है और वार्तालाप का माध्यम भी पद्य रूप मे लोक-भाषा ही रहता है। इसीलिए 'सांगीत' शब्द व्यवहार में एक विशेष नाट्य रूप के लिए रूढ हो गया है और इसी रूढार्थ के अनुसार वह स्वाँग या गीति नाट्य, जो चौवोला शैली में ख्याल-परम्परा के अनुसार लिखे जाते हैं तथा जिनका प्रधान वाद्य नक्कारा (नगाड़ा) है, 'सांगीत' माने जाते है। सागीत शब्द का प्रयोग अव चौवोला-शैली की मंचीय विधा के लिए ही मुख्य रूप से प्रयुक्त होता है।

यद्यपि स्वाँगो की यह परम्परा शताब्दियो से निरतर चली आ रही है, किंतु सागीत-शैली (चौवोला-शैली) के स्वाँगो का प्रारम्भ सन् 1800 ई० के आस–पास से माना जा सकता है। इस प्रकार का उपलब्ध स्वाँग-साहित्य पूर्वी अर्थात् हाथरस और पश्चिमी अर्थात् रोहतक की दो शैलियो में लिखे जाने के कारण दो रूपो में मिलता है। यद्यपि स्वाँग का मूल रूप वंशीलाल के पजाव क्षेत्रीय स्वाँगो मे सुरक्षित था, परन्तु व्रज क्षेत्र में पहले पहल अमरोहा-शैली के स्वाँगो ने प्रवेश किया। अमरोहा भी किसी समय मे स्वाँग का एक गढ़ था। यही से स्वाँग की यह परम्परा पूर्वी क्षेत्र मे फैली और फली-फूली।

पश्चिमी अर्थात् रोहतकी स्वाँग या साँग-परम्परा जो वर्तमान मे हरियाना तथा मेरठ-क्षेत्र मे 'साग' के रूप मे लोक नाट्य विधा प्रचलित है, वह अलीवक्षी–ख्याल-परम्परा के खेलों के अनुकरण पर ही स्थापित है। अलीवक्ष अपने समय के प्रसिद्ध ख्याल-गायक थे। उनका कार्य-काल सन् 1854 से 1900 ई० तक रहा। वे स्वयं अलवर-राज्य के निवासी थे, किंतु उन्होने अपने स्वाँगों के प्रदर्शन के लिए हरियाना तथा पश्चिमी उत्तर-प्रदेश (मेरठ) का क्षेत्र चुना था और उस समय उनके ख्याल-स्वाँगो की धूम काफी दूर-दूर तक पहुँची थी। अलीवक्षी के ये स्वाँग उक्त क्षेत्रो मे कई दशाब्दियो तक प्रचलित रहे। इन्हीं की परम्परा के अनुकरण पर मेरठ और रोहतकी क्षेत्र में स्वाँगो की एक नई परम्परा चली थी। अलीवक्षी-स्वाँगों से ही प्रेरणा लेकर वाद में दीपचन्द, सरूपचन्द व प० माँगेराम आदि ने विभिन्न

स्वाँगो की रचना की। हरियाना की स्वाँग-मंडलियो के प्रथम आचार्य दीपचन्द थे, जिन्होने प्रचलित परम्परा को नया रग-रूप देकर सबसे पहले जनता के सामने रखा। देहात मे यह वार्ता अति प्रचलित है कि 19 वी शती के अन्त मे दीपचन्द नामक सागी था। उसमे काव्य-प्रतिभा के साथ-साथ अभिनय-कला संबधी गुण भी थे। उसने अश्लील और श्रृंगारी साँगों का बहिष्कार करके वीररस पूर्ण साँगो की रचना की और जनता मे वीरता के प्रति उत्साह पैदा किया। इस प्रकार दीपचन्द के वीररस प्रधान तथा प्रेरणादायक सामाजिक, राजनीतिक, पौराणिक स्वाँग खूब लोकप्रिय हुए। उसकी शिष्य-परम्परा रोहतक मे अभी तक विद्यमान बतायी जाती है। उसकी शिष्य-परम्परा में झुम्मन, हरदेवा स्वामी, बाजे नाई, माँगेराम के नाम उल्लेखनीय है।

स्वांग के उत्कर्ष–कर्त्ताओ राम गरीव चौवे और लक्ष्मीचन्द के नाम महत्त्वपूर्ण है। जनता मे इस दिशा में सर्वाधिक लोकप्रिय लोक-नाट्यकार लक्ष्मीचन्द हुए हैं। वे अपने समय के सभी साँगियो में सर्वाधिक प्रतिभावान सागी थे। 'रागनी' के वर्तमान रूप के जन्मदाता वास्तव मे वे ही है। उन जैसा लोक-जीवन का चितेरा सांगी हरियाना मे दूसरा नही हुआ। लक्ष्मीचन्द के बाद माँगेराम आदि ने भी स्वाँग के क्षेत्र मे अच्छी ख्याति प्राप्त की। यह परम्परा हरियाना में आज भी अक्षुण्ण है।[1]"

कुरु-जनपद (मेरठ) की स्वाँग-परम्परा का विकास स्वतत्र रूप से नही हुआ। वह हरियाना (रोहतक) के स्वाँगों की ही अनुगामिनी है। यद्यपि उसकी अपनी कुछ मौलिक विशेषताएँ हैं, किंतु उनका महत्त्व क्षेत्रीय सीमाओ को ही प्रकट करता है।

सौभाग्य से मेरठ की स्वाँग-परम्परा पर प्रकाश डालने वाली लीथो मे छपी "लैला-मजनू" नामक स्वाँग की एक पुरानी पुस्तक मिलती है, जिसका कर्त्ता 'रमजान' वल्द 'दिलूवा' था।

रमजान वल्द दिलूवा द्वारा लिखित और लीथो मे मुद्रित "लैला-मजनू" नामक स्वाँग की एक पुरानी पुस्तक से मेरठ की स्वाँग-परम्परा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। रमजान ने मेरठ की सांगीत-परम्परा के विकास की चर्चा में मेरठ-क्षेत्र के प्रथम सागीतकार रामसहाय शाह का उल्लेख किया है, जिन्होने प्रसिद्ध कवि जायसी के 'पद्मावत' के आधार पर 'रत्नसेन पद्मावती' नामक सागीत लिखा था और जिसकी पूर्ति-बाद मे मुनीर खाँ ने की थी।

कुरु प्रदेश मे स्वाँग रचयिता कवि काफी सख्या मे हुए हैं। इनकी शिष्य–परम्परा भी विशाल है। इनकी अभिनय व्यवसायी मडली गाँव-गाँव भ्रमण कर साँगो का प्रदर्शन किया करती थी। साँग-प्रदर्शन का यह कार्य एक पेशे के रूप में इनके लिए जीवि पार्जन का साधन रहा है।

1. भरतू ब्राह्मण, हुकमचद, नेतराम, सरूपचन्द, रामानन्द आजाद, धनपत, सुलतान, चन्दन, जमुआमीर, रामकिशन व्यास आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

आरम्भ दोहे से होता है, जिसका अन्त कुण्डलियों से होता है। लावनी इनका अन्य दूसरा प्रमुख छंद है। छदों मे भजन, गजल. गरबा, दोहा, चौपाई, सोरठा, छप्पय आदि छदों का प्रयोग किया जाता है।

स्वाँगो में चौबोले की तोड़ होती है, जिसे चलन कहते है। आसावरी, मल्हार और जोगिया रागों का विशेष प्रयोग होता है। वैसे स्वाँगो में प्रयुक्त होने वाली लय विशेष प्रकार की होती थी. जो अपने-अपने ढंग की अलग है। यथा– ख्याल, भेंट, रेख्ता, दौड, तोड, जिकड़ी, तिकडी, रागनी आदि। आजकल सिनेमा के गानों की तर्ज पर भी इनका गायन होने लगा है।

स्वाँग के आरम्भ मे सबसे पहले देवी-देवताओं का मगलाचरण करते है। इसे 'भेंट' कहते है। इसी के साथ गुरु-वदना भी की जाती है। भेंट के साथ गुरु-स्तुति भी आवश्यक है। तत्पश्चात् स्वाँग का उस्ताद स्वाँग का परिचय देता है। किसी भी स्वाँग के अखाडे के उस्ताद को 'पाधा जी' कहा जाता है।

स्वाँगो मे पहले दो चार चौबोले फिर रागनी तथा अत मे भी रागनी ही होती है। बीच-बीच मे कोरस गान भी होता है और स्वाँग की समाप्ति जयकारे के साथ होती है। स्वाँग के पात्रो को दर्शक अपनी ओर से प्रसन्नतापूर्वक इनाम के रूप मे बीच-बीच मे रुपये भी देते रहते है। स्वाँग कम से कम तीन चार घटे तथा अधिक से अधिक रात भर होते है इनमे कोई भी अर्ध-विश्राम नही होता। वैसे स्वाग कभी भी खेले जा सकते हैं, किंतु स्वाँग खेराने के अवसर विशेष भी होते हैं। सामान्य रूप से यह होली पर खेले जाते हैं, पर होली के अतिरिक्त अवसर विशेष पर भी कराये जाने की प्रथा है। मदिर, कुँआ, धर्मशाला आदि के निर्माण हेतु धन-संग्रह के लिए तथा विवाह, पुत्र-जन्म एव मकान आदि के मुहूर्त के अवसर पर लोग स्वाँग कराया करते है। स्वाँग अधिकाश सुखान्त ही होते है। इनमे सत्य या अच्छाई की विजय दिखायी जाती है जिससे जनता पर मनोरजन के साथ अच्छा प्रभाव भी पडे।

स्वाँग का आधुनिक रूप भी वही है, जो पहले था। इतना परिवर्तन अवश्य हुआ है कि उसकी तर्जों मे अब फिल्मी गानो को तथा उनकी तर्जों को भी ले लिया गया है। शब्दो मे भी परिवर्तन होता जा रहा है। खेद है कि धीरे-धीरे स्वाँग-परम्परा अब समाप्त होती जा रही है। स्वाँग-अखाडे समाप्तप्राय है।

कुरु-प्रदेश के स्वाँग-लोक-नाट्य की विशेषताओ के निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि यह लोक–नाट्य समाज व समुदाय की वस्तु है, जो पद्य प्रधान होता है। इसमे अधिक आडम्बर नही होता। अतः यह जन सामान्य की सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओ व अभिरुचियो के अनुकूल होता है। स्वाँगो मे लोक मान्यताओ का पूर्ण समावेश होता है। इनमे स्थानीय तत्त्व भी मिलते है। परिवर्तनशील होता है। कथानक प्राय. पुराण, इतिहास एव वतमान

जीवन की घटनाओं से लिए जाते हैं, जो जनमत को अनुरंजित करने वाले होते हैं। इन स्वांगों मे जीवन से संबंधित सभी मूल भावनाओं का मिश्रण रहता है, किंतु इनमें अधिकतर वीर, श्रृंगार, करुण, अथवा भक्ति की भावनाओ का ही विस्तार किया जाता है। धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक स्वाँगो मे राष्ट्रीय अथवा स्थानीय चरित्रों का चित्रण रहता है अथवा उनका आधार सत्य या अर्ध-सत्य प्रेम-गाथाएँ हुआ करती हैं। पूर्व आधुनिक काल मे प्रचलित आमोद-प्रमोद के साधनो मे स्वाँग का अपना एक विशेष स्थान रहा है। वास्तविकता तो यह है कि भारत में लोक-नाट्य-परम्परा अति प्राचीन और सुदीर्घ रही है। देश के विभिन्न अचलों में इसके विभिन्न रूप देखने मे आते है, जिन पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि इन के बीच एक ही अन्तर्धारा प्रवाहित होती रही है– वह है, जन साधारण को मनोरंजन के माध्यम से शिक्षा प्रदान करना। लोक-नाटको की लोकप्रियता तथा उनकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध है।

इस प्रकार रास–परम्परा से उदित होकर यह लोक मंच एक लम्बे इतिहास, मचीय परम्पराओ के प्रभाव और उतार-चढाओ मे विभिन्न रूप रंग धारण करता हुआ आज भगत, स्वाँग और नौटकी[1] के रूप मे लोक-जीवन मे अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसके ये रूप हिन्दी की लोक-धर्मी नाट्य विधा सांगीत की तीन शैलियो के प्रतिनिधि बने आज भी हजारो लोगो को मनोरजन प्रदान करते हैं। सांगीत एक ऐसा लोक-रंजक मंच है जो हिन्दू, मुसलमान, सिख और ईसाई– सभी धर्मों और वर्गों को समान रूप से आकर्षित करता चला आ रहा है।

—14, खटीकान,
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)



1. नौटंकी, स्वाँग का ही विकसित रूप है। इसके उदय के सबध मे विद्वानो के विभिन्न मत हैं। वैसे नौटकी सामान्य जनता की नाट्य-वृत्तियों का समाधान करने वाले मुख्य साधनो अत्यधिक महत्त्वशाली है।

स्वाँग-गायकी के क्षेत्र में कुरु-प्रदेश के सांगियों ने भी इस स्वांग-परम्परा को जीवित और अक्षुण्ण बनाये रखने मे अपना विशेष योगदान दिया। हरदेवा, मानसिंह, नकली (करवाडा), होशियारा, बलवन्त-कुलवन्त (बुढाना), मुसद्दी, छोटा, मंगल—कुदन, मुसद्दी (खटीक), रामचन्द्र, ज्योति, ईदन (मुजफ्फरनगर), लालू (भौराकला), सगवासिंह, दिब्रा लुहार, बुल्ली (भगवानपुर नागल), नत्थू (मीरापुर), बुन्दू मीर (खानपुर), चन्दर वादी (दत्त/नगर), सद्दीक, शरीफ, नसरूमीर (मस्तान खेड़ा) लक्ष्मी वैद्य, रघुबीर (सूप), अब्दुल डोम, आसाराम नाई, श्यामा आदि अपने समय के प्रसिद्ध सागी रहे है और मुक्त हृदय से सांग खेलते खिलाते रहे है। इनमें प्राय: सभी के अखाडे रहे है।

देवबन्द के बेहूसिंह भी प्रसिद्ध सागी हुए है। इन्होने लगभग 40 स्वांग लिखे—लिखाये थे। इनके समकालीन उस्ताद मूलराज, सीताराम भी स्वांग रचयिता थे। बेहूसिंह के परिवार में आज भी स्वाग लिखने की परम्परा है इनके पुत्र घूमसिंह ने भी कई स्वाँग लिखे और खेले है। इनके पोते ज्योतिप्रसाद मुख्तार हुए। उन्होने भी कई स्वाग लिखे है।

हरवस लाल (बिजरौल) और चौ० बेगराज सिंह के लिखे, मुद्रित स्वांग बाजार मे मिलते है। स्वाँग-मडली का प्रत्येक सदस्य अभिनय करना जानता था। प्रतिभा एवं लगन के अभाव में अब मौलिक रचनाएँ नही मिलती है। पहले लोग स्वयं ही रचना करते थे। यह सब विशेष रुचि, शौक के कारण ही होता था तथा उसमें प्रतिद्वद्विताएँ भी होती थी।

स्वाग-नाटको मे पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा लौकिक सभी वृत्तो को समाविष्ट किया जाता है। यद्यपि स्वाग-नाट्यकार पर कथानक का कोई बन्धन नही होता, फिर भी अधिकाश स्वाग-नाटक प्रेमगाथाओ से सबधित हैं। अत: स्वांग-नाटको मे सबसे स्वाभाविक और अधिक प्रचलित कथा प्रेमतत्त्व सबधी मिलती है। इन कथानको मे कथा-प्रवाह होता है। यद्यपि प्रारम्भ शिथिल होता है, पर मध्य मे द्रुत गति लोक भावनाओ के अनुरूप चलती है। जन से सबधित रीति—रिवाजो, प्रथाओं, मान्यताओ और विश्वासो का बोल-बाला रहता है। इन जन—नाटको के पात्रो मे स्थानीय वैशिष्ट्य अवश्य होता है और इन पात्रो को अभिनय की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। स्त्रियो के अभिनय के लिए भी पुरुष ही जनाना वेश धारण करते है। विदूषक (नक्काल) अपने हास-परिहास से चरित्र की आन्तरिक बातो पर प्रकाश डालता है। नाट्य की विशेषताओ को प्रकट करने की अपेक्षा उसके द्वारा खलनायक और अन्य पात्रों की विकृतियां अधिक स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत की जाती है।

कुरु प्रदेश मे रूप-बसत, पूरन भगत, अमरसिह राठौर, किरणमयी (पतिव्रता) चन्द्रहास, सरवर-नीर, हीरा-राँझा, नौटकी, लैला-मजनू, राजा नल, मोरध्वज,

शाही लकड़हारा, सोरठ[1], नर सुलतान, निहालदे, नवलदे, कनकछडी, गोपीचन्द, भर्तृहरी, ढोला-मरवण आदि स्वाँग नाट्य अत्यधिक प्रचलित रहे हैं।

स्वाँग अभिनय की तैयारी मे अधिक साज-सामान की आवश्यकता नही होती थी। स्वाँग-मच के लिए नीचे कई तख्त बिछाकर स्टेज बना लिया जाता था और ऊपर शामियाने होते थे। तख्त पर दरी-चाँदनी बिछाई जाती थी। यह खुला 'साग-मंच' 'ओपेन एयर थियेटर' का ही अनगढ रूप में मूलरूप है। न दिखाये जाने वाले दृश्यो का काम केवल सूचना मात्र से लिया जाता था। दर्शक कथा व कथोप-कथन पर ही अधिक ध्यान देते थे। ऐसे मंचों पर अभिनेताओ को अनेक प्रकार की सामाजिक स्वतंत्रताएँ प्राप्त होती है, जो न तो दर्शक को अखरती है और न स्वांग-मडलियों मे ही कभी आलोचना का विपय बनाती है।

स्वाँगों में विशेप प्रसाधन-सामग्री की आवश्यकता नही होती। अलंकार और भडकीले वस्त्र माँग कर काम चला लिया जाता है। कोयला, काजल, खड़िया, गेरू आदि से 'मेकअप' का काम लिया जाता है। मुखौटा लगाकर एव रगीन वस्त्र धारण कर पात्र मंच पर प्रवेश करते है। धोती, अंगरखा,घाघरा, ओढनी, दुपट्टा, छड़ी आदि का उपयोग वेशभूपा के लिए किया जाता है। वेशभूपा एक प्रकार से प्रतीकात्मक ही होती है। स्वाँगों में मच-सज्जा, वेशभूपा तथा प्रमाधन-योजना से अधिक महत्त्वपूर्ण है– प्रभावी सगीत तथा सशक्त अभिव्यक्ति। इन्हीं पर एक प्रकार से स्वाँग की सफलता निर्भर है।

सारंगी, ढोलक, हारमोनियम खड़ताल, चिमटा, घडा आदि वाद्यो का प्रयोग साग मे किया जाता है। इसके सहकारी वाद्य-वृन्दों में नक्कारा (नगाडा) अनिवार्य है। ऊँची आवाज, सामूहिक ध्वनि तथा आदि मे अन्त तक वाद्यों का बजना सभी को प्रभावित करता है। स्वाँग आरम्भ होते से पहले बहुत देर तक नगाडा बजता रहता है। तेज आवाज के लिए पात्र एक कान पर हाथ रखकर गाते हैं। स्वांगो में गायन इतनी जोर से होता है कि काफी लोगो का समूह उसको भली प्रकार सुन सकता है। पात्रो की आवाज जोरदार और सुरीली होती है।

भावाभिव्यक्ति का माध्यम अधिकतर पद्य ही होता है, किंतु बीच-बीच मे गद्य का प्रयोग भी किया जाता है। पद्य सरल और प्रभावोत्पादक होता है। स्वागो के कला पक्ष पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि इनमे छद का आग्रह उतना नही होता है, जितना तर्ज या रगत का। इस रगत के दो प्रकार प्रमुख हैं– 1. खडी रगत, जिसमे खीचकर गाया जाता है। और 2. चलती रगत। सागीत की इस तर्ज को खडी ताल और बैठी ताल के नाम से पुकारते हैं। खडी ताल के उस्ताद प्रसादी लाल, वलवन्तसिंह, बुन्दूमीर और सगवासिंह माने जाते है तथा बैठी ताल के उस्ताद घनश्याम दास। इनका मुख्य छंद चौवोला है। इसके दो रूप मिलते हैं— 1. लम्बी तान और 2. छोटी तान। प्रत्येक चौवोले का

---

1 यह शब्द स्वाग के पर्यायवाची रूप में भी प्रचलित है। इसीलिए यह शब्द रोहतक परम्परा के स्वाग का समानार्थक शब्द बन गया।

आरम्भ दोहे से होता है, जिसका अन्त कुण्डलियो से होता है। लावनी इनका अन्य दूसरा प्रमुख छंद है। छदो मे भजन, गजल, गरवा, दोहा, चौपाई, सोरठा, छप्पय आदि छदों का प्रयोग किया जाता है।

स्वांगो में चौबोले की तोड़ होती है, जिसे चलन कहते है। आसावरी, मल्हार और जोगिया रागों का विशेष प्रयोग होता है। वैसे स्वांगो मे प्रयुक्त होने वाली लय विशेष प्रकार की होती थी, जो अपने-अपने ढग की अलग है। यथा— ख्याल, भेंट, रेख्ता, दौड, तोड, जिकड़ी, तिकडी, रागनी आदि। आजकल सिनेमा के गानो की तर्ज पर भी इनका गायन होने लगा है।

स्वांग के आरम्भ मे सबसे पहले देवी-देवताओं का मगलाचरण करते हैं। इसे 'भेंट' कहते है। इसी के साथ गुरु-वदना भी की जाती है। भेंट के साथ गुरु-स्तुति भी आवश्यक है। तत्पश्चात् स्वांग का उस्ताद स्वांग का परिचय देता है। किसी भी स्वांग के अखाडे के उस्ताद को 'पाधा जी' कहा जाता है।

स्वांगो मे पहले दो चार चौबोले फिर रागनी तथा अत मे भी रागनी ही होती है। बीच-बीच में कोरस गान भी होता है और स्वांग की समाप्ति जयकारे के साथ होती है। स्वांग के पात्रो को दर्शक अपनी ओर से प्रसन्नतापूर्वक इनाम के रूप मे बीच-बीच में रुपये भी देते रहते है। स्वांग कम से कम तीन चार घटे तथा अधिक से अधिक रात भर होते हैं इनमे कोई भी अर्ध-विश्राम नही होता। वैसे स्वाग कभी भी खेले जा सकते हैं, किंतु स्वांग खेलने के अवसर विशेष भी होते हैं। सामान्य रूप से यह होली पर खेले जाते हैं, पर होली के अतिरिक्त अवसर विशेष पर भी कराये जाने की प्रथा है। मंदिर, कुँआ, धर्मशाला आदि के निर्माण हेतु धन-संग्रह के लिए तथा विवाह, पुत्र-जन्म एव मकान आदि के मुहूर्त के अवसर पर लोग स्वांग कराया करते है। स्वांग अधिकाश सुखान्त ही होते है। इनमे सत्य या अच्छाई की विजय दिखायी जाती है जिससे जनता पर मनोरजन के साथ अच्छा प्रभाव भी पडे।

स्वांग का आधुनिक रूप भी वही है, जो पहले था। इतना परिवर्तन अवश्य हुआ है कि उसकी तर्जों में अब फिल्मी गानो को तथा उनकी तर्जों को भी ले लिया गया है। शब्दो में भी परिवर्तन होता जा रहा है। खेद है कि धीरे-धीरे स्वांग-परम्परा अब समाप्त होती जा रही है। स्वांग-अखाड़े समाप्तप्राय हैं।

कुरु-प्रदेश के स्वांग-लोक-नाट्य की विशेषताओ के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यह लोक-नाट्य समाज व समुदाय की वस्तु है, जो पद्य प्रधान होता है। इसमे अधिक आडम्बर नही होता। अतः यह जन सामान्य की सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओ व अभिरुचियो के अनुकूल होता है। स्वांगो मे लोक मान्यताओं का पूर्ण समावेश होता है। इनमें स्थानीय तत्त्व भी मिलते है। परिवतनशील होता है। कथानक प्राय. पुराण, इतिहास एव वतमान

जीवन की घटनाओं से लिए जाते हैं, जो जनमत को अनुरंजित करने वाले होते हैं। इन स्वांगो मे जीवन से सबंधित सभी मूल भावनाओ का मिश्रण रहता है, किंतु इनमें अधिकतर वीर, शृंगार, करुण अथवा भक्ति की भावनाओ का ही विस्तार किया जाता है। धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक स्वाँगो मे राष्ट्रीय अथवा स्थानीय चरित्रों का चित्रण रहता है अथवा उनका आधार सत्य या अर्ध-सत्य प्रेम-गाथाएँ हुआ करती हैं। पूर्व आधुनिक काल में प्रचलित आमोद-प्रमोद के साधनो मे स्वाँग का अपना एक विशेष स्थान रहा है। वास्तविकता तो यह है कि भारत में लोक-नाट्य-परम्परा अति प्राचीन और सुदीर्घ रही है। देश के विभिन्न अचलो में इसके विभिन्न रूप देखने मे आते है, जिन पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि इन के बीच एक ही अन्तर्धारा प्रवाहित होती रही है– वह है, जन साधारण को मनोरंजन के माध्यम से शिक्षा प्रदान करना। लोक-नाटको की लोकप्रियता तथा उनकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध है।

इस प्रकार रास–परम्परा से उदित होकर यह लोक मंच एक लम्बे इतिहास, मचीय परम्पराओ के प्रभाव और उतार-चढाओ मे विभिन्न रूप रग धारण करता हुआ आज भगत, स्वाँग और नौटंकी[1] के रूप मे लोक-जीवन मे अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसके ये रूप हिन्दी की लोक-धर्मी नाट्य विधा सांगीत की तीन शैलियो के प्रतिनिधि बने आज भी हजारो लोगो को मनोरंजन प्रदान करते हैं। सांगीत एक ऐसा लोक-रंजक मंच है जो हिन्दू, मुसलमान, सिख और ईसाई– सभी धर्मों और वर्गों को समान रूप से आकर्षित करता चला आ रहा है।

—14, खटीकान,
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

□

1. नौटंकी, स्वाँग का ही विकसित रूप है। इसके उदय के सबंध मे विद्वानो के विभिन्न मत हैं। वैसे नौटकी सामान्य जनता की नाट्य–वृत्तियों का समाधान करने वाले मुख्य साधनों अत्यधिक महत्त्वशाली है।

मेरठ जिले की स्वाँग परम्परा

—नारायण स्वरूप शर्मा

स्वाँग लोक–नाट्य की एक विशिष्ट शैली है, जो मेरठ–जनपद मे विशेष रूप से प्रचलित रही है। हमारे विचार से ग्राम्य समाज ने अपने जीवन तथा लोक–प्रतिभा के प्रकाशन और विकास के लिए अपने स्वतन्त्र लोक–मच के निर्माण का जव विचार किया होगा, तो लोक–नाट्य जैसी लोक रजनकारी कला ने जन्म लिया होगा। कुछ विद्वानो का विचार है कि विविध ललित कलाओं की संगम स्थली नाटक नाम की साहित्यिक विधा भी लोक–नाट्य का ही विकसित रूप है। "लोक–नाट्य की उत्पत्ति लोक–विश्वास, लोक–प्रचलन, धार्मिक रूढियाँ, जन–परम्पराएँ, वीर–पूजा, मनोरजन, उत्सव, मांगलिक पर्व तथा शोक के अवसर आदि की धारणाओ के बीच हुई है।"[1]

लोक–नाट्य के लिए साहित्यिक जगत् में स्वाँग शब्द को स्वीकार किया गया है, साग के रूप मे पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा हरियाणा आदि हिन्दी भाषी प्रान्तों में प्रचलित है। साग के आयोजन के लिए नाटक–जैसे औपकरणिक आडम्बर की आवश्यकता नही होती। सांग का काम चार–छह तख्तों से बने खुले मच अथवा किसी बडे चबूतरे से चल जाता है। साग-पार्टी के अन्तर्गत एक मुख्य कलाकार नाटक के सूत्रधार की तरह का होता है, जो वार्ताकार, गायक, व्याख्याता तथा उपदेशक आदि की सयुक्त भूमिकाएँ निभाता है। कभी–कभी वह कथा–नायक के रूप मे भी अवतरित होता है। उसके कुछ सहगायक होते हैं, जो उसके द्वारा उठाई गई—आलापित— धुनो और पक्तियो को उच्च स्वरों मे कई–कई वार उठाते–दोहराते हैं। एक ढोलकिया (ढोलकी–वादक) तथा कथा के विभिन्न पात्रो की भूमिकाएँ निभाने के लिए कुछ सामान्य अभिनेता होते हैं। साग मे नारी–पात्रो की भूमिकाएँ प्रायः पुरुष पात्र ही करते हैं। इस प्रकार एक साग-पार्टी में दस से वारह तक सदस्य हो सकते हैं मेरठ–जिले के सागो मे लोक–नाट्य के दोनो रूपो—नृत्यपरक तथा प्रहसनात्मक—का प्रचलन रहा है। साँग के रचनाकारो ने इस जिले के लोक-जीवन के प्रवाह को—उसके सस्कारो, धार्मिक आस्थाओ, सामाजिक विश्वासो तथा मूल्यो को वहुविध अभिव्यक्ति दी है।

प्रामाणिक सूचनाएं और सामग्री जुटाने के निमित्त जव हम मेरठ जिले के

1. 'हिन्दी-साहित्य-कोश', भाग 2, दूसरा सस्करण, पृष्ठ स० 571।

अनेक गाँवों में गए तो सांग की कला के पारंगत ये कुछ नाम उभर कर हमारी जानकारी में आए:—

1—पं० नत्थू लाल —जावली निवासी।
2—पं० बलवन्त सिंह उर्फ बुल्ली —नागल निवासी।
3—पं० मंगल चन्द्र —चन्दर बादी के गुरु।
4—दीनानाथ उर्फ दिन्ना —गाधी निवासी।
5—चन्दर बादी —दत्त नगर निवासी।
6—पं० मान सिंह —जावली निवासी।
7—चन्दन भगवाना —बड़ावद निवासी।
8—राम सिंह —खेकड़ा निवासी।
9—रघुवीर-लखमा —सूप निवासी।
10—बुन्दू मीर —मेरठ निवासी।
11—सुरेश —सुपुत्र चन्दर बादी।
12—उमेश —सुपुत्र चन्दर बादी।

इन बारह में से तीन नाम ऐसे है, जो चारो ओर चर्चित रहे हैं और स्वाँग-कला के विशिष्ट मर्मज्ञ माने जाते रहे हैं। ये नाम है—बुल्ली, दिन्ना तथा चन्दर बादी। अब हम इन तीनो लोक-नाट्यकारो का संक्षिप्त परिचय देंगे।

स्वाँग-कला का चरमोत्कर्ष पं० बलवन्त सिंह उर्फ बुल्ली की कृतियो मे देखने को मिलता है। 'हिन्दी-साहित्य-कोश' में बुल्ली का नाम पाकर हमे खेद-मिश्रित आश्चर्य हुआ। पता नहीं कैसे उत्तर प्रदेश के लिखित लोक-नाट्यों के प्रसंग मे बुल्ली का नाम छोड कर चन्दरबादी का नाम लिख दिया गया ? इस सम्पूर्ण प्रदेश में बुल्ली के समान न तो किसी सांगी ने यश और सम्मान अर्जित किया और न ही परिमाण मे इतनी रचनाएँ किसी की प्रकाशित हुई हैं।[1] बुल्ली के अधोलिखित सांग प्रकाशित हो चुके हैं और इनमे से "हरिश्चन्द्र" तथा "मोरध्वज"-जैसे सांगो के तो अनेक-अनेक सस्करण भी निकल चुके हैं:—

1—हरिश्चन्द्र	8 सत्यवान-सावित्री	15 राजा भरथरी
2—मोरध्वज	9 सम्राट अशोक	16—पिंगला
3—नल-दमयन्ती	10—बिल्वमगल (चिन्तामणि)	17—सौदागर बच्चा
4 - सरवरनीर	11—सुन्दर बाई	18 – कृष्ण का भात
5—रूत-वसन्त	12—वैराठ-पर्व	19 – मदनपाल-चन्द्रप्रभा
6 —चन्द्रहास	13—चन्द्र किरण	
7 — महाभारत	14—रघुवीर सिंह	

प० बलवन्त सिंह-बुल्ली का जन्म सन् 1905 ई० में बडौत-बुढ़ाना मार्ग पर लगभग बाईस कि० मी० की दूरी पर स्थित मोजिज़ाबाद नागल, जिसे लोग थल

1. प्रकाशक देहाती पुस्तक-भण्डार, खारी बावली, दिल्ली।

नांगल भी कहते हैं—के भारद्वाज-गोत्रीय ब्राह्मण-परिवार मे हुआ था। औपचारिक रूप में उन्होने दूसरी कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की थी। उर्दू-फारसी और संस्कृत की अच्छी शिक्षा उन्हें घर पर ही मिली थी। इनके मामा पं० होशियार सिंह जावली के प्रसिद्ध सांगी पं० नत्थूलाल की पार्टी मे हारमोनियम वजाते थे। उन्ही के सम्पर्क और प्रेरणा से बलवन्त सिंह भी बचपन से ही साँग-कला की ओर प्रवृत्त हुए। लगभग दस वर्षों मे बलवन्त सिंह की ख्याति चारो ओर फैल गई और वे बुल्ली के नाम से विख्यात हो गए। 19 मार्च, सन् 1978 ई० को तिहत्तर वर्ष की आयु मे बुल्ली का देहान्त हुआ था। बुल्ली पण्डित निष्कलुष चरित्र के कर्मकाण्डी, भजनानन्दी तथा दानी प्रवृत्ति के व्यक्ति थे।[1]

बुल्ली अपने आशु-कवित्व के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। कथा-वार्ता कहते-कहते वे तुरन्त विषय से सम्बद्ध छन्द गढ़ कर सुना दिया करते थे। इससे उनके दर्शक और श्रोता चमत्कृत होते थे। शास्त्रो और पुराणो का उनका ज्ञान गम्भीर था। जन-श्रुतियो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बुल्ली की स्वाग-कला में गायन, कवित्व और विद्वत्ता का मणि-कांचन संयोग था। जहाँ-जहाँ साँग करते थे, दर्शकों की बाढ़ सी आजाती थी। भक्ति, वैराग्य और करुणा उनकी रचनाओं के केन्द्रीय भाव थे। हरिश्चन्द्र और मोरध्वज-जैसे सांगों के खेले जाने के समय असंख्य नर-नारी फूट-फूट कर रोते हुए पाये जाते थे।

बुल्ली की रचनाओं में रागिनी, हाथरस, झूलना, सवैया, दोहा, चौपाई, सोरठा, मत्तगयन्द, चमोला तथा होली आदि शैलियों का प्रयोग बहुलता से हुआ है। उनके एक नीति-परक दोहे का उदाहरण द्रष्टव्य है:—

कल्लर खेत कराल[2] हल, और कलहारी[3] नार।
तन पै मल्ले कापड़े, नरक-निशानी चार।

बुल्ली अपने सागो मे कथा-वार्ताओ के बीच अनेक अवान्तर प्रसंगो की अवतारणा करके सामयिक प्रश्नों और समस्याओ पर प्रकाश डालने मे बड़े पटु थे। कभी-कभी कुछ पहेली-नुमा छन्दों का पाठ करके उनकी व्याख्या करते हुए वे अपनी नाट्य-प्रस्तुति को अधिक रोचक बना दिया करते थे। उदाहरणार्थ:—

इन्दर-वाहन रवि-सुता, पवन-पुत्र भण्डार।
ये चारो कट्ठे किए, कहो सधि कोण विचार[4]॥

बुल्ली ने आधी शताब्दी से भी अधिक समय तक लगभग सभी हिन्दी-भाषी प्रदेशों को अपनी सांग-कला से मुग्ध वनाए रखा। उनकी रचनाओ से कुछ उद्धरण यहाँ देना अप्रासंगिक न होगा। उनके वहुचर्चित विशिष्ट नाटकों के तीन उद्धरण

1. वुल्ली के अनेक ग्राम निवासियो तथा प्रशसको ने ये विशेषण बार बार दोहराए।
2. जमीन मे गहरे धसने वाला।
3. कलह करने वाली।
4. वुल्ली के शिष्य श्री महावीर शरण भारद्वाज की डायरी से साभार।

यहाँ प्रस्तुत हैं —

1 स्थायी पद— एक ठिकाणै चित-मन करकै देखी हूर नए सन की

अन्तरा— दोन्नों कान्नी जुलफ़ पडी जणे लडरे सांप पिटारे में,
चोट्टी की ढब मोर लखारा सलाह साप के बारे मैं,
मोटी-मोटी आख डली सी खींचे सास इशारे मैं,
मू ं के ऊपर लगे सितारे ज्यू ं चमक पसर के तारे मै,

तोड़— घू ंघट के फटकारे मैं जणै बिजली चमकै घन की ।।

2 स्थायी पद— काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह बिदा हुए पहर के तडके,
मा ! बेटे की ढाल लोटग्या मैं तेरे चरण पकड़ कै ।

अन्तरा— नाभी-पुर से सडक चलै जहा ठौड सास की हो है,
दसवें द्वार मे रुकै आणकै जहा सनद पास की हो है,
यू ठुकमा पेट उभरमा छाती गाठ मास कीहो है,
पदरा मिनट मैं मरद-वीर की खतम आशकी हो है ।

तोड़— दुनिया वालो याद राखियो वणता खेल बिगड़ कै ।।

3 स्थायी— सूरज सीतल चाँद मैं अगनी पृथ्वी मैं तारे हो,
पी-पतनी मैं पतनी पी सैं कभी नही न्यारे हों ।

अन्तरा— भगती-भवन ज्ञान का गारा दया-दिवार करूं हूँ,
ओम-तगर मैं पी-प्यारे का नित दीदार करूं हूँ,
प्रेम-पलग तख्ती-तोशक चित-चादर त्यार करूं हूँ,
झट-पट घू घट खोल पिया मैं तुझसे प्यार करूं हूँ ।

तोड— तेरा ध्यान-मनन करने सैं नष्ट पाप सारे हो ।।

दीना नाथ उर्फ दिन्ना सांगी के विषय मे गाधी-निवासी[1] वयोवृद्ध पं० कालीचरण तथा ओकार दत्त भारद्वाज ने बताया कि वह इसी गाव के निवासी पाचाल–हिन्दू लोहार–जाति के थे । दो दशाब्दी पूर्व दिन्ना की मृत्यु हो गई थी । बुल्ली के बाद दिन्ना ने भी इस लोक–रंजक कला के द्वारा प्रभूत यश अर्जित किया था । कहते हैं कि अपनी पत्नी की हत्या कर देने के कारण दिन्ना को मृत्यु–दण्ड मिला था । अन्तिम इच्छा के रूप मे दिन्ना ने कचहरी मे ही एक चौक करने का अनुरोध न्यायाधीश से किया, जो मान लिया गया । निर्धारित समय पर दिन्ना ने अपना सर्वाधिक लोकप्रिय साग–'हीर-राझा'- खेला । इस साग से न्यायाधीश इतने प्रभावित हुए कि उन्होने इस सिद्ध कलाकार को मृत्यु–दण्ड से मुक्त कर दिया था ।

दिन्ना की कोई नाट्य–रचना प्रकाशित नही है और इतने दीर्घ कालान्तराल के बाद अब ऐसे लोग नही मिलते, जो उस यशस्वी कलाकार की रचनाओं के अश

1. ऋषि विश्वामित्र के पिता–गाधि–के नाम पर बसा एक गाँव, जो सहारनपुर–दिल्ली रेल-मार्ग पर स्थितसूजरा नामक स्टेशन से लगभग पांच कि० मी० की दूरी पर स्थित है ।

प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत कर सकें। बुल्ली और दिन्ना के कीर्ति-शेष होजाने पर अव चन्दर बादी ही मात्र एक ऐसा लोक–कलाकार जीवित वचा है, जिसका सांग की कला पर एकच्छत्र निष्कण्टक राज्य है। आज असन्दिग्ध रूप से समूचे उत्तर-प्रदेश मे चन्दर वादी से समता करने वाला कोई जीवित कलाकार नही है।

उनसठ वर्षीय चन्दर बादी दत्तनगर गाव के निवासी है। यह गाव बागपत तहसील से मेरठ–मार्ग पर लगभग बीस कि०मीटर की दूरी पर स्थित है। साक्षात्कार के समय चन्दर ने अपना नाम चन्द्र लाल वेदी वताया। अपने निजी वाहन पर भी उन्होने अपना नाम-गायक चन्द्र लाल वेदी-अंकित कराया हुआ है। चन्दर ने अपने को भट्ट- वशीय बताया तथा पृथ्वीराज चौहान के मित्र–राजकवि चन्द्र वरदायी का वंशज अपने को घोषित किया। प्रमाण के तौर पर वे कोई भी साक्ष्य प्रस्तुत नही कर सके। जोहडी-गांव के एक अध्यापक-श्री जगदीश प्रसाद ने जो दत्तनगर के समीपस्थ एक विद्यालय में पढ़ाते है, हमे वताया कि बादी नट–जाति के है। चन्दर के गाँव के तथा समीपवर्ती गाँवों के अनेक लोगो ने भी इसी वात की पुष्टि की है। चन्दर के नाम के साथ संयुक्त बादी शब्द स्वय इसी मत की पुष्टि कर रहा है नट का वाचक वाजीगर शब्द वादीगर से ही वना है।

चन्दर बादी ने पं० मगल चन्द्र को अपना गुरु वताया। इस कलाकार का मत है कि एक सागी के लिए छन्द–रचना के निमित्त आठ गणों का पूर्ण ज्ञान होना पहली शर्त है। उन्होने अपने पारम्परिक विश्वास के आधार पर वताया कि छन्द के प्रारम्भ में मगण, नगण, यगण, भगण—इन चार गणों की स्थिति शुभ तथा रगण, तगण, सगण, जगण,–की स्थिति अशुभ होती है। चन्दर ने अपने कुटुम्व को सात पीढ़ियो से इसी लोक-रंजनकारी कला में निरत वताया। उन्होने स्वरचित साँगो की संख्या से तो चालीस-पचास के लगभग बताई, परन्तु लिखाते हुए वे स्वय और चारों ओर एकत्रित उनका शिष्य-मण्डल भी निम्न लिखित दस साँगो के अतिरिक्त कोई नाम नही वता पाए :

1–भारत–इगण्लैंड
2–राजा–हरिश्चन्द्र
3–नल–दमयन्ती
4–अजीत सिह–राज बाला
5–पृथ्वी सिंह-किरण मही
6–सत्यवान–सावित्री
7–दुष्यन्त–शकुन्तला
8–माया देवी
9–रामायण
10–नौ-वहार।

चन्दर बादी लोक की नाड़ी की सही पहचान रखते हैं और इसी लिए शृंगार के किस्सो को वे बडी कुशलता के साथ प्रस्तुत करते हैं। यही उनकी सफलता का रहस्य भी है। परन्तु पता नही क्यों, चन्दर हम लोगो के सामने शृंगारपरक रचनाओ का उल्लेख करते हुए कतराते रहे। जब चन्दर से उनकी अपनी कोई प्रिय रचना सुनाने का आग्रह किया गया, तो उन्होने नौ-वहार के कुछ स्थल सुनाए। नौ-वहार एक रूपकात्मक कथा—'एलिगँरी'—है जिसके कुछ विशिष्ट प्रतीक इस प्रकार है :-

पात्र और स्थितियाँ	—	प्रतीक
नौ बहार	—	ब्रह्मज्ञान
अमर कोट नगर	—	सच्चिदानन्द ब्रह्म
जीत सेन	—	जीव
आतम देवी	—	आत्मा
सर्प	—	क्रोध
मैंना देवी	—	ममता
माली	—	मोह

नौ बहार के एक गीत की पंक्तिया' द्रष्टव्य है :

उमग बिना हास्सी नहिं आत्ती, लगजा जब गांठ भरम की,
कै हँस्सा जासै चन्दर, जब लगजा चोट मरम की।

चन्दर अपनी रचनाओ मे सामयिक समस्याओ का भी यथेप्ट ध्यान रखते हैं। परिवार--नियोजन--सम्बन्धी उनकी एक रागिनी का अश देखिए :

भारत वासी कहँ थे ये बड़ा कुणबा छोट्टा कब होगा।
काल-बली का किया हुआ परिवार-नियोजन अब होगा।

प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दरा गाधी पर लिखी गई एक गजल (?) उन्होने हमे साग्रह लिखाई, जिसके कुछ अंश इस प्रकार है :

दी जिद्गानी वतन पर ज़िन्दगानी हो तो ऐसी हो।
गरीबो पर मेहरबाँ मेहरबानी हो तो ऐसी हो॥
कि बेट्टी बाप के ऐसी हुई ना आग्गे हो चन्दर।
वो नेहरू वश की नामो निशानी हो तो ऐसी हो॥

चन्दर वादी के दो युवा पुत्र—सुरेश और उमेश भी पिता से अलग अपनी अपनी-अपनी साग-पार्टियाँ चला रहे है। रचना-क्षमता की दृष्टि से इन युवको मे विशेष सम्भावनाएँ नजर नही आती। उनकी प्रभूत पैत्रिक सम्पदा ही उनका मुख्य उपजीव्य है।

इस लेख मे हमने मेरठ-जिले के जिन बारह लोक नाट्यकारो का नामोल्लेख किया है, उनमें चन्दर वादी के परिवार के तीन सदस्यों के अतिरिक्त सूप-गाँव के रघुवीर एव लखमा तथा मेरठ के अन्धे मीरासी[1] वुन्दू मीर ही जीवित हैं। ये लोग भी अपनी कला-यात्रा की ढलान पर है। लगता है जैसे अतीत की अनेक लोक-कलाओं और सास्कृतिक थातियो को काल का अजगर निगल गया है, वैसे ही हमारी लोक-नाट्य परम्परा भी महानगरीय सभ्यता के धुँए मे घुट कर दम तोड़ रही है। फिल्म-व्यवसाय और दूर-दर्शन आदि के दैत्य इन लोक-कलाओ के लिए महान् सहारक शक्ति लेकर उभरे है।

हिन्दी विभाग
दिगम्बर जैन स्नातकोत्तर कालेज
बडौत (मेरठ)



1. मुसलमानो की एक गाने वाली जाति का नाम।

तेलुगु लोकसाहित्य का सकलन एवं प्रकाशन-कार्य

—कर्ण० राजशेष गिरिराव

भारत मे लोकसाहित्य की परंपरा अत्यत प्राचीन है। पर चिरकाल से यह पंडितो की उपेक्षा की वस्तु है। इसलिए तेलुगु के प्रसिद्ध आलोचक डा० मंल्लपल्लि० सोमशेखर शर्मा ने इसे 'अनाहृत वाङ्मय' कह अभिहित किया है। लोक- साहित्य संवधी संग्रह उसका विवेचन एवं अर्वाचीन पद्धति से उसका विश्लेषण करने का कार्य पाश्चात्य विद्वानो ने ही गत डेढ सौ वर्षों से प्रारंभ किया है। भारतीय लोकसाहित्य पर भी पाश्चात्य विद्वानो ने विशेषकर अग्रेजों ने ही अब तक कार्य किया है भारत मे लोकसाहित्य संबंधी संकलन-कार्य एव शोधकार्य को आरभ करनेवाले कुछ विद्यानुरागी पादरी लोग अथवा अग्रेंज शासक के उच्च अधिकारी थे। इन लोगो ने जो कुछ किया यद्यपि यह एकागी दृष्टि से किया गया था—उसके लिए ये हमारे साधुवाद के पात्र है। सन् 1968 मे मिस फ्रेयर नामक अग्रेज महिला ने 'ओल्ड डक्कन डेज़' नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसमे दक्षिण भारत की लोक-कहानियो का सग्रह प्रस्तुत किया गया है। सन् 1971 मे चार्ल्स० ई० गोवर ने 'फ़ोक साग्ज आफ़ सदर्न इंडिया' नामक पुस्तक का संपादन किया। इसमें विद्वान् लेखक ने कन्नड लोकगीत, तेलुगु लोकगीत, तमिल लोकगीत, मलयालम लोकगीत तथा 'बुर्रं' कथात्मक गीत (गाथा ओका) आदि का सग्रह कर उनका केवल अंग्रेजी अनुवाद इस ग्रथ मे प्रकाशित किया है। यों दक्षिण भारत की चार प्रधान भाषाओ के लोकगीतो का सुन्दर अनुवाद इस सग्रह मे प्रस्तुत है यह भारतीय लोकगीतो का सर्वप्रथम सग्रह है। इसमे वेमन्न आदि निर्गुण सत कवियो के प्रचलित पदो का भी समावेश किया गया है। सन् 1872 ई० में श्री आर० सी० कालड्वेल ने 'तमिल पापुलर पोइट्री' नामक अपना लेख प्रकाशित किया जिसमें तमिल के लोकगीतो पर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। सन् 1899 ई० मे गोआ—निवासी भारतीय लोकगीतों का एक संकलन आर० एम० लाफ्रेनेंस ने अपने लेख 'समसांग्ज आफ़ दी पोर्चुगीज़ इडियन्स' के नाम से प्रकाशित किया। सन् 1885 ई० मे जे० शविन्सन ने टेल्स अंड पोएम्ज़ आफ़ साउथ इडिया' नामक पुस्तक मे दक्षिण भारत के लोक गीतो तथा कुछ लोक-कथाओ का अग्रेजी

अनुवाद प्रस्तुत किया है। सन् 1907 ई० मे ई० थर्स्टन ने 'एथनो-ग्राफक नोट्स इन सदर्न इंडिया' नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसमे दक्षिण भारत की विभिन्न जातियों का गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया गया है इन्होने सन् 1909 ई० में 'ओमेन्स, कस्ट्म्ज एण्ड सुपरस्टिशन्ज आफ सदर्न इडिया' नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसमे दक्षिण भारत के निवासियों के शकुन, अधविश्वास-आचार, व्यवहार, मत्र-तंत्र, टोने-टोटके आदि का विस्तृत एवं प्रामाणिक विवरण है। 'हाइ मेनडार्फ' नामक अग्रेज विद्वान् ने 'दी रेड्डीज आफ दी बिसान हिलस्' मे बालगीतो का सकलन प्रस्तुत किया है। एक अन्य पुस्तक 'दी चेचूज' मे इस योग्य विद्वान ने आदिम निवासी चेचु जाति सबधी नृत्यपरक बाल-गीतें का अग्रेजी मे अनुवाद लिप्यंतर सहित किया है।

सन् 1945 ई० मे स्पील ने 'फोक डान्सेज आफ साउथ इडिया' नामक पुस्तक प्रकाशित की। सी० पी० ब्राउन ने एशियाटिक जर्नल (वर्ष 1841 अक 34) में बेब्बिलि, पलनाडु युद्ध आदि कथात्मक गीतो का उल्लेख किया है। जे० ए० ब्राउन ने 'दी इडियन एटीक्वेरी' मे (वर्ष 1874 अक 3) कुछ दक्षिण भारत के लोकगीतो का सविवरण अनुवाद प्रकाशित किया है, जिसमे 'सर्वायि पापडु' कथात्मक गीत एक है। अन्य गीत प्रेम-गीत हैं। आसवाल्ड० कूल्ड्रे ने लोक सगीत पर इडियन आर्ट एण्ड लेटर्स' (वर्ष 1937 अक 6) मे लेख प्रकाशित किया है।

यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है, कि पिछली शताब्दी मे आध्र लोक गीतो का सर्व प्रथम सग्रह एवं प्रकाशन कब, किसने और कहाँ किया ? सन् 1872 ई० मे गुत्तनदोवि रामायण का प्रकाशन श्री एम० राघवय्य ने किया। सन् 1885 ई० मे श्री नटेश शास्त्री ने 'फोकलोर इन सदर्न इडिया' का प्रकाशन किया जिससे लेखक के अथक परिश्रम का पता चलता है। सन् 1884 मे 'जानकी पाटलु', एव सन् 1893 में 'कोलाट कीतनलु' का सग्रह निकला। पर स्पष्ट नही है कि ये 'कोलाट कीर्तनलु' श्री के० नागभूपण द्वारा विरचित गीत है अथवा उनके द्वारा संकलित गीत।

पर उपलब्ध आंध्र लोक गीतो के सग्रह ग्रन्थो मे श्री नदिराजु० चलपतिराव द्वारा संगृहीत 'स्त्रील पाटलु' (सन् 900 ई०) सबसे पहला प्रयत्न ज्ञात होता है। सन् 1905 ई० में मगु० वेंकट वगनाथ राव ने 'स्त्रियो के गीत' नाम सग्रह काकिनाडा नगर से प्रकाशित किया है। मद्रास से एन० पी० गोयल अड० कपनी, आ० रे० राजु (ई 1908), रगस्वामी मुदलियार (ई० 1915) ने अनेक साधारण सग्रह तैयार किये है। सन् 1924 ई० मे श्री टेकुमक्क० अच्युतराव एम० ए० एल० टी० ने 'आंध्र पदमुलु, पाटलु' नामक संग्रह सीताराम प्रेस, नरसपुर की ओर से प्रकाशित किया है। ई० 1930 मे 'पात पाटलु' नामक लोकगीतो का सग्रह श्री टेकुमक्क० कामेश्वरराव ने किया है, जो इंडिया प्रिंटिग वर्क्स की ओर से प्रकाशित हुआ था। श्री० आरु० पतुलु ने फोकलोर आफ तेलुगु' नामक पुस्तक नटेशन कम्पनी की ओर

से प्रकाशित की है। लोक-साहित्य के अध्येता श्री एल्लोरा के कतिपय सग्रह हैं– 'मधुर कवितलु', 'मरागालु' विजय पब्लिशिंग कम्पनी की ओर से और 'जानपद गेयालु भाग '1' और '2' विशालांध्र पब्लिशिंग की ओर से प्रकाशित संग्रह हैं। आंध्र लोकगीतो का सर्वश्रेष्ठ सकलन लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् 'श्री० कृष्णश्री' ने किया है।

'स्त्रील रामायण पाटलु', 'स्त्रील पौराणिक पाटलु', 'पल्ले पदालु', नामक सग्रह-ग्रंथ सारस्वत-परिषद्, हैदराबाद की ओर प्रकाशित हुए है। इनमें से प्रथम सग्रह मे रामायण कथात्मक गीत है। दूसरे सग्रह मे महाभारत एव महाभागवत सम्बन्धी गीतों का संकलन मात्र है। पल्ले पदालु' मे 187 संकलित गीत है। इस सकलन मे गीत टिप्पणी सहित दिये गये है। आधुनिक ढंग से प्रकाशित यह सकलन सर्वांग सुन्दर है। आध्र लोकगीतो के सग्रह–कर्ताओं मे श्री नेदुनूरि० गंगाधरं ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन्होने आध्र लोक-साहित्य सम्बन्धी अनुपम सम्पत्ति का विशाल सग्रह किया है। आंध्र प्रदेश मे लोक-साहित्य की एकांत–साधना मे अपना समस्त जीवन अर्पित करने वाले मूक साधक स्वनामधन्य गगाधरं लोक-साहित्य के पितामह माने जाते हैं। आध्र प्रदेश मे इन्होने ही लोक गीतो का संकलन, अध्ययन एवं सग्रह भी किया है। पहले–पहले ये ही इस रास्ते के अकेले पथिक थे और ये ही अपने पथ–प्रदर्शक रहे थे। आंध्र लोक-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ अन्वेषक ऋषि–कल्प श्री गंगाधरं से आज समस्त आंध्र–जगत् भली भाँति परिचित हो चुका है। इनके संग्रह-ग्रंथो में 'सेलयेरु', 'पसिडि पलुकुलु', जानपद गेय वाङ्मय व्यासावली' उल्लेखनीय है। सेलयेरू मे आंध्र लोकगीतो का सकलन मात्र है। तेलंगाना रचयितल संघम्' की ओर से यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इसमें सप्तवेणियाँ है (1) बालगीत (2) स्त्रीगीत (3) उत्सव-गीत (4) भक्ति–गीत (5) गृह-जीवन सम्बन्धी गीत (6) शृंगार गीत (7) पाटक पाटलु (क्रियागीत) 'पसिडि पलुकुलु' मे लोक साहित्य का अनुपम सकलन है। इसमें लोकोक्तियो मुहावरो तथा पहेलियो का संग्रह पाया जाता है। 'जानपद वाङ्मय व्यासावली' मे विभिन्न गीतो का सविवरण एव टिप्पणी सहित सकलन है।

श्री प्रयाग नरसिंह शास्त्री आल इंडिया रेडियो मे प्रयोक्ता रहे है। वे रेडियो द्वारा लोकगीतो के प्रचार एव प्रसार कार्य मे जुटे हुए थे। उनका एक सकलन 'तेलुगु पल्लेपाटलु' कविता पब्लिकेशन की ओर से प्रकाशित हुआ।

'त्रिवेणी' आध्र लोक गीतों का अनुपम आधुनिक सग्रह है। इसके सम्पादक हैं चार लब्धप्रतिष्ठ विद्वान सर्वश्री डा० बी० रामराजु, श्रीपाद० गोपाल कृष्ण (कृष्णश्री), नेदुनूरि० गगाधर डा० तूमाटि० दोणप्प। यह ग्रथ सगीत नाटक अकादमी, हैदराबाद की ओर से प्रकाशित हुआ है। इसमे रायल सीमा, सागर प्रात (एवं तेलगाना प्रातो के गीतो का सकलन होने के नाते यह सग्रह 'त्रिवेणी' सगम बन गया है। इसमे विषय के अनुसार नौ शीर्षक हैं जिनमे कुल 143 गीत सगृहीत हैं। इसमे संग्रह सम्बन्धी साधारण परिचय, स्थान, सकलन की तिथि, गायक आदि का उल्लेख भी है। गीतों का साधारण परिचय भी दिया गया है। 'तेलगाना

जानपद गेयालु' के संकलनकर्त्ता हैं श्री लक्ष्मीकात मोहन। यह विशालांध्र पब्लिशिंग हाउस, विजयवाड़ा की ओर से प्रकाशित है। इसमे प्रस्तावना एवं गीतो का संक्षिप्त विवरण है। आचलिक देशी शब्दों का अर्थ भी दिया गया है।

'बालगेयमुलु' भाग 1 और 2 नामक बालगीतो के दो सग्रह वेंकटराम एंड कम्पनी की ओर से प्रकाशित है। इनके सकलन-कर्त्ता है श्री वी॰ पचमुखेश्वर राव एव वी॰ रामनाथ शास्त्री। श्री वेटूरि॰ प्रभाकर शास्त्री द्वारा संकलित बाल भाषा' (बाल गीतों का सग्रह) नामक ग्रथ को आर्य श्री प्रचुरणालयम्, मद्रास ने प्रकाशित किया। इसमे कुल पचास गीत सविवरण दिये गये है। जानपद समिति, बेंगलूर की ओर से 'आलिचिम्पलु-आणिमुल्यालु' नामक लोकगीतो का सग्रह प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक हैं डा॰ शल्लपल्लि॰ सुन्दरम् डा॰ घट्टमराजु अश्वत्थनारायण और डा॰ तंगिराल॰ वेंकट सुब्बाराव। इसमें छह प्रकार के लोकगीत सकलित हैं (1) पनिपाटुलु (क्रिया गीत) (2) पारमार्थिक गीत (3) प्रेमगीत (4) हास्य, वीर, करुण गीत (5) विनोद गीत (6) प्रकीर्ण। पुस्तक के प्रारम्भ मे 16 पृष्ठो की विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी है जिसमे लोक गीतो का विवेचन सम्मिलित है। इन्होने बड़े श्रम से इन गीतों का सम्पादन किया है।

श्री लक्ष्मीकात मोहन ने 'तेलगाना जानपद गेयालु' नामक सकलन सन् 1972 में किया है। इस सग्रह मे गीतो का सम्पादन गीतो के परिचय, टिप्पणी और कठिन शब्दो के अर्थ सहित किया गया है।

डा॰ पशुपति राव ने 'तेने सोनलु' नामक 62 पृष्ठों की छोटी सी पुस्तिका मे क्रिया गीतो, पर्व गीतो, प्रेम गीतो को एकत्रित किया है।

लोक साहित्य की विविध विधाओ मे लोक-कथा अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, क्योकि इसमे जन-जीवन के विविध पक्षो का स्वाभाविक चित्रण होता है। अत. सहज ही आकर्षण का केन्द्र बन जाती है आंध्र प्रदेश मे 'हुंकारा' देने की ओर विशेष आग्रह रहता है। कहानी के अन्त मे मांगलिकता प्रदान करने का भी रिवाज है। 'कथा कचिकि वेलिलंदि मनमिंटिकि वेल्लुदामु, अर्थात् कथा 'कची' गयी है, हम घर चले जायेंगे।' कची' शैवो एव वैष्णवो के लिए एक पवित्र तीर्थराज है। उक्त वाक्य के बाद कहानी अन्त करने की प्रथा है। लोक-कथाओं की परम्परा प्रधानतया मौखिक रूप से ही रही है पर विद्वानो ने लोक कथाओ को लिखित रूप भी दिया है और अनेक सग्रह भी तैयार किए है। इनमें उल्लेखनीय सग्रह है—(1) काशी रामेश्वर-मजिली कथलु, भट्टि विक्रमार्कुल कथलु, जानपदगाथलु, अद्भुत हास्य कथलु, श्री सी॰ पी॰ ब्राउन ने तेलुगु लोक कथाओ का सग्रह किया है। श्रीमती इल्लिदल॰ सरस्वती की कृति 'जाति रत्नालु' मे लोक प्रचलित कथानक गीतो की परिचयात्मक टिप्पणी एवं काव्य सौन्दर्य की विवेचना की गयी है। श्री दंडमूडि॰ महीधर ने लोक कहानियो को सक्षिप्त रूप मे लिखकर पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया है। श्री बालशौरी रेड्डी ने 'आजकल' (लोककथा विशेषांक) में लोक प्रचलित प्रमुख कथाओ

का उल्लेख किया है। इन पंक्तियो के लेखक ने हिंदी मे 'आंध्र की लोक कथाएँ' नामक पुस्तक लिखी, जो आत्माराम एंड संस की ओर से प्रकाशित हुई। यह केन्द्रीय सरकार की ओर से पुरस्कृत हुई है। डा० रमेश चौधरी ने तेलुगु की लोक कथाएँ लिखी। श्री टेक्कमल्ल कामेश्वर राव ने 'जानपद वाङ्मय चरित्र' नामक लेखों का उत्तम सग्रह प्रकाशित किया है। श्री हरि० आदिशेषु ने 'जानपद वाङ्मय विशेष-मुलु' नामक पुस्तक मे लोकगीतो का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। श्रीमती इल्लिदल० सरस्वती देवी की कृति 'जातिरत्नालु' मे लोक प्रिय कथानक गीतों की परिचयात्मक टिप्पणी एवं काव्यगत सौन्दर्य की विवेचना की गयी है। इनकी अन्य कृति 'जीवन सामरस्यमु' नामक पुस्तक मे लोकगीतो की झाँकी प्रस्तुत की गयी है। 'विज्ञान-सर्वस्वमु-तेलुगु संस्कृति' मे लोकगीतो का विवेचनात्मक अध्ययन किया है। 'उप:किरणालु' मे 'श्रीवास्तव' ने लोकगीतों पर कुछ टिप्पणियाँ लिखी है। 'आध्रुल चरित्र-सस्कृति' मे 'नोमु नामक आनुष्ठानिक लोकगीतों का विवरणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया। प्रजावाङ्मयमु मे श्री चिता० दीक्षितुलु मे स्त्रीगीत, बालगीत, यक्षगान, कोरवजी आदि विपयो पर काफी प्रकाश डाला है। 'सारस्वत नवनीतमु' मे श्री देवुलपल्लि० रामानुजराव ने लोक गीतो की चर्चा की है। मल्लेंपल्लि सोमशेखर शर्मा कृत 'अनाहृत वाङ्मय' नामक लेख पठनीय एवं स्पृहणीय है, जिसमें सर्वायिपापडु' आदि कथात्मक लोकगीतो पर विशेप प्रकाश डाला गया है।

डा० बी० रामराजु, आचार्य तेलुगु विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद ने आध्र लोकगीतो पर 'आंध्र जानपद साहित्यमु' नाम से शोध प्रबध प्रस्तुत किया है। पुस्तक तेलुगु मे लिखी गयी है। तेलुगु मे लोकगीतों पर अपने ढंग की यह पहली पुस्तक है। डाक्टर रामराजु ने इस ग्रथ की रचना कर आंध्र लोकसाहित्य की अनुपम सेवा की है। अपनी इस मौलिक रचना मे आध्र लोकगीतो के विभिन्न विपयो की प्रामाणिक एवं परिचयात्मक मीमासा की है। आध्र लोक-साहित्य का इतना व्यापक एव सुव्यवस्थित तथा गम्भीर विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नही है। उक्त शोध-प्रबध आंध्र प्रदेशीय सरकार की आर्थिक सहायता से प्रकाशित हुआ है।

'आंध्र साहित्य मे लोकोक्तियाँ और मुहावरे' नामक डा सी० सुब्रह्मण्य शास्त्री ने आध्र विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया है जो अभी तक प्रकाशित नही हुआ है। इसमे तेलुगु की शिप्ट रचनाओ मे प्रयुक्त लोकोक्तियो एव मुहावरों का सोदाहरण अध्ययन प्रस्तुत है।

'तेलुगु वीरगाथा कवित्वमु'-यह ग्रथ डा० तगराल वेंकट सुब्बाराव का शोध निबंध है जिसमे विद्वान् लेखक ने तेलुगु की लोकगाथाओ के विभिन्न तत्त्वो का प्रतिपादन विश्लेषणात्मक रीति से किया है। इन्होने अनेक तेलुगु गाथाओं को लिपिबद्ध कर उनका वर्गीकरण करते हुए उनकी विशेषताओ को स्पष्ट किया है। इसमे चार भाग एव पच्चीस प्रकरण है। इन्हे उक्त प्रबध पर तिरुपति वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय से सन् 1969 मे उपाधि प्राप्त हुई।

जानपद कथा गेयमुलुः—यह शोध प्रबंध श्रीमती नायनि० कृष्ण कुमारी का ग्रंथ है जिसमें विदुषी लेखिका ने आख्यानात्मक या प्रबंधात्मक लोकगीतों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उक्त प्रबंध पर इन्हें उस्मानिया विश्वविद्यालय से सन् 1970 में उपाधि प्राप्त हुई है। इसमे मानव विज्ञान सम्बन्धी तथ्यो की प्रमाणीभूत सामग्री उपलब्ध होती है। इसमें परम्परागत विश्वासो एव प्रथाओ का विवेचन है। वीराराधना, जादू-टोना, टोटका, भूत-प्रेत आदि का विश्लेपणात्मक अध्ययन इसमें गुंफित है।

'तेलुगु-कन्नड जानपद गेयालु'- इस शोध-प्रबंध के लेखक हैं डा० आर० वी० एस० सुन्दरम्। यह मैसूर विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए सन् 1973 मे प्रस्तुत शोध-प्रबंध है। इसमें तेलुगु एव कन्नड के लोकगीतो का तुलनात्मक अध्ययन है।

आंध्र के लोकगीत—इन पंक्तियो के लेखक द्वारा आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए हिंदी मे सन् 1964 मे प्रस्तुत शोध-प्रबध है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की वित्तीय सहायता से आंध्र विश्वविद्यालय के प्रकाशन विभाग की ओर से सन् 1974 मे प्रकाशित हुआ है। इसमे दो खंड हैं। प्रथम खंड अध्ययन खंड है जिसमे आंध्र लोकगीतो का विवरणात्मक, विवेचनात्मक, तुलनात्मक एवं वैज्ञानिक अध्ययन है, जो पुस्तकाकार आया है। द्वितीय खंड में सकलित मूल गीतों का हिंदी मे लिप्यंतर सहित अनुवाद प्रस्तुत है। हिंदी और तेलुगु लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन : आंध्र विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध है। इसके लेखक हैं डा० पशुपति राव। इसमे विद्वान् लेखक ने हिंदी एवं तेलुगु के लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन विश्लेष्णात्म रूप मे किया है। यह अभी प्रकाशित नही हुआ है।

तेलुगु लोकसाहित्य के सकलन और प्रकाशन का कार्य अत्यत महत्त्वपूर्ण प्रयास है। इसके बिना किसी भी विधा का कूलकष अध्ययन नही हो सकता। प्रामाणिक सामग्री का कार्य अत्यंत अर्थसाध्य एव श्रमसाध्य है। यह विश्वविद्यालयो, सार्वजनिक संस्थाओं, धनी संस्थानो तथा सरकार की सहायता मे ही सम्भव हो सकता है। आधुनिक शिक्षा एवं सभ्यता के प्रसार एवं प्रचार के कारण लोकसाहित्य की अमूल्य सम्पत्ति समाप्त होती चली जा रही है। अत इसका संकलन करना जाति के लिए स्वास्थ्यप्रद एव श्रेयस्कर है। हर्ष का विषय है कि 'जानपद विज्ञान भारती' (मैसूर) विदेशों की फोकलोर सोसाइटी की भाँति लोक-साहित्य के सकलन, प्रकाशन एव अनुसधान कार्य में संलग्न है। इस सस्था की ओर से 'जानपद' नामक त्रैमासिक पत्रिका तेलुगु में निकल रही है। आंध्र-प्रदेश मे तेलुगु लोक-साहित्य परिपद् की स्थापना जितनी शीघ्र होगी उतनी ही इस क्षेत्र मे सर्वतोमुखी उन्नति होगी। गेय सामग्री की सुरक्षा के लिए टेपरेकार्ड का उपयोग अनिवार्य है। श्री बुड्डिग, सुब्बरायन

न कराव आठसौ गीतों को टेपरिकार्ड कर महती सेवा की है। विजयवाडा, वेटपालेम आदि अनेक ग्रंथ भण्डार आध्र प्रदेश मे है जिनमे लोक-साहित्य की विपुलराशि सुरक्षित है। इसके सकलन, प्रकाशन एवं अध्ययन के लिए आध्र प्रदेश सरकार की ओर से कुछ छात्रवृत्तियो का प्रबध किया जाय ताकि कुछ उपासक निष्ठापूर्वक इसकी सेवा मे लगे रहे। लोक-साहित्य के सकलन और अध्ययन, अध्यापन के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करना अत्यत आवश्यक है।

हिन्दी-विभाग
आंध्र विश्वविद्यालय
वाल्तेर-530003



भोजपुरी लोकगीत—

आधी रतिया रे डोमनिया
आरे आधी ? रातिया ना।
आरे आधी रातिया ना।
हमसे रगरा मचवलेवा, आधी रातिया ना।

सूते के बेरियाँ ना, कड़वा वाजे टुनुक-टुनुक
सूते के बेरियाँ ना, आरे आधी रातिया ना, आरे आधी रातिया ना
(हिल्ले ले। हिल्ले ले। भौरी ले। भौरी ले)
डोमिन तोरा के लेइके ना, आरे कोवर देहियाँ
आरे साँवर देहियाँ आधी रातिया ना
डोमिन तोरा के लेइके ना, गगापार उतर जइवों ना।

आधि रातिया ना—

अरी डोमिन, आधो रात है, तू हमसे झूठमूठ रगड़ा मचा रही है। सोते समय तेरा ही काड़ा (कटक) टुनुक-टुनुक वजता है (तू झूठमूठ आशंका कर रही है कि यह किसी और नारी की पगध्वनि है, जो आसपास कहीं होगी।) तू कोमलागी है, तू श्यामली है, ओरी कोमल श्यामल देहवाली डोमिन, तुझे लेकर इसी समय आधी रात मैं गगा पार उतर जाऊँगा।



रूसी लोक-साहित्य

केसरी नारायण शुक्ल

रूसी लोक-साहित्य रूसी जाति के जीवन की जीवन्त कथा है। यह उसके पीढी दर पीढी वंशानुगत लोक-जीवन, लोक-पद्धति, उसकी वैचारिकता, मानसिकता उसके जातीय चरित्र, उसकी आशा-निराशा एवं उसके अन्तस का प्रतिबिम्ब है। रूसी लोक-साहित्य रूसी जीवन और रूसी सस्कृति की कलात्मक अभिव्यक्ति है। रूसी जाति का वैशिष्ट्य उसके लोक-साहित्य में पूरी तरह तरंगित हो रहा है।

लोक-साहित्य लोकमानस की मौखिक सर्जना है। यह मानवता का पालना है। मौखिक होने के कारण यह मानव समाज के लेखन पूर्व के विकास की अवस्था का द्योतक है और धर्म दर्शन, अध्यात्म, सस्कार, कर्मकाण्ड, काव्य नृत्य गान आदि का समन्वित कलात्मक रूप होने के कारण मानवी कार्य–कलाप अथवा सस्कृति का अमूल्य भंडार है।

यह शब्द व्यापार का कलापूर्ण आरम्भ है। इसके माध्यम— पहेली, जंत्र–मत्र, टोना–टोटका, लोकप्रवन्ध, लोकगीत, लोककथाओं आदि के रूप से प्रत्येक जाति अपनी जीवन पद्धति और अपने जीवनानुभव को आने वाली पीढी को सौपती रही है।

प्राय: कुछ जातियो की मौखिक सर्जना मे उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति में कुछ या अधिक प्रगाढ समानता लक्षित होती है। भारतीय और रूसी लोकसाहित्य की ऐसी ही स्थिति है। यह सयोग मात्र नही है वरन् इसका मूल अत्यन्त गहरा है। इसका मूल दोनो देशो की जनता के अस्तित्त्व की दीर्घकालीन समान परि–स्थिति–मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक परिवेश एव वातावरण है— जिसके कारण मानसिक प्रक्रिया वैचारिकता और उक्ति मे समानता स्वत: अपने आप आ जाती है।

भारतीय लोकसाहित्य के समान रूसी लोकसाहित्य अत्यन्त भावप्रवण है, न्यायप्रिय है, नैतिकता से पुष्ट है और सवेदना से ओतप्रोत है। जैसे— भारतीय धरती को "धरती माता" कहता है वैसे ही रूसी भी इसे 'सिराया मात्–जेम्ल्या' (पृथ्वी माता) कहता है। जिस प्रकार गगा, यमुना आदि को हम जय मात् गगे या यमुने कहते है उसी प्रकार रूसी भी प्रेम विभोर होकर मास्को नदी को 'मात् मस्कवा' और वोल्गा नदी को 'मात् वोल्गा' कहता है। दोनो देशो के वाङ्मय मे भाई अत्यन्त दुर्लभ है। हम कहते हैं कि 'देशे–देशे कलत्राणि देशे–देशे च वाधवः तम तु

देशे न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदर.', 'मिलै न जगत सहोदर भ्राता', तो रूसी साहित्य भी भाई के दुर्लभ होने का उद्घोष करता है। तुर्क शासक बखमत शाह के यह कहने पर कि वह केवल एक को मुक्त करेगा और नायिका अवद्योत्यारजानोच्का किसी एक को चुन ले और उसे माँग ले जो उसकी समझ मे उसे फिर शताब्दियों बीच न मिलेगा। वह कहती है—

"यदि मै विवाह करूँ पुत्र और पौत्र मिलेंगे,
कन्या वहू सभी कुछ होंगे,
किन्तु न प्यारा भाई मुझको कभी मिलेगा।
देख न पाऊँगी मैं उसको,
वीतेंगी नदियो पर सदियाँ।"

भारतीय साहित्य का पालिजातक भी भाई के इसी दुर्लभ रूप को प्रस्तुत करता है। यहाँ भी नायिका ने राजा से भाई ही को मुक्त करने की प्रार्थना की, भाई ही उसकी रक्षा और लज्जा है।

इसी प्रकार दोनो देशो मे जब माँ रोती है तो नदी बहने लगती है, अश्रु की सरिता धारा बहने लगती है, भारतीय लोकगीत में कन्या के सुसराल विदा होते समय अधिक भाव-प्रवण माँ को दर्शाया गया है, फिर पिता को, फिर भाई को और सबसे कम भाई की पत्नी अर्थात् भाभी को। रूसी लोकगीत में, एक अन्य सदर्भ में पुत्र की मृत्यु पर थोडे क्रम परिवर्तन के साथ समान अभिव्यक्ति मिलती है। पुत्र मृत्यु पर सबसे अधिक रोती है माँ, और सबसे कम जवान पत्नी पुत्रवधू। उसकी ओस की तरह आँसू की बूंदे पुर्नविवाह के सूर्योदय मे शीघ्र ही सूख जायेगी अर्थात् ज्यो ही उसका पुर्नविवाह हो जायेगा सब कुछ विस्मृत हो जायेगा—

"माँ रोती जैसे सरिता की धारा बहती
बहिन रो रही जैसे निर्झर झर-झर करता
और जवान पत्नी रोती है जैसे गिरती ओस बूँद हो
(नवपति) लाल सूर्य निकलेगा ओस बूंद तत्क्षण सूखेगी
पुर्नविवाह करेगी जैसे— सब कुछ विस्मृत हो जायेगा।"

रूसी लोकसाहित्य अत्यन्त समृद्ध तथा अनेक रूपात्मक है। यह रूसी प्रकृति का रूसी जनता के जीवन का, उसके रीति-नीति का, अतीत और वर्तमान के बीच उसके चरित्र और मनोदृष्टि का सतत् चित्रण करता रहता है। इसकी कल्पना और अतिरजना जनता के अदम्य साहस और उज्ज्वल भविष्य के दृढ विश्वास को व्यजित कर रही है।

कल्पना और अतिरजना के साथ रूसी लोकसाहित्य की सबसे बडी विशेषता है उसका देश-प्रेम। रूसी लोकसाहित्य देश-प्रेम से ओतप्रोत है। रूसी लोक-प्रबन्ध "विलीना" से लेकर लोक-प्रगीत मुक्तक तक सभी कृतियो मे रूसी जनता का अपने देश के प्रति, देश की प्रकृति के प्रति तथा देश पर न्योछावर होने वालो के प्रति प्रेम

छलकता है। इनमें देश अन्ततः अत्याचारो से मुक्त दिखाया जाता है, अन्याय पराजित होता है और स्वतंत्र सुखमय जीवन विस्तार पाता है। 'विलीना' रूसी शहरो की समृद्धि और सुन्दरता का वढ़-चढ कर वर्णन करती है और तातारो तथा अन्य आक्रमणकारियों से देश की रक्षा करने वालों वगातीरों (सामंती सरदारो) को यश से मंडित करती है। रूस के ऐतिहासिक गीतों मे देशभक्ति मुखर हो उठती है। इवानग्रोज्नी से लेकर नेपोलियन के आक्रमण तथा वर्तमान समय तक देशभक्ति की यह परंपरा लोकसाहित्य में अटूट है।

लोकसाहित्य के बीच 'बिलीना' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये प्रबन्धात्मक गीत हैं, इनको गायक और वाचक 'स्तरीनी' या स्तरीकी (प्राचीन कथा) कहते है। 'विलीना' रूसी जातीय सस्कृति का जनता द्वारा अपनी दृष्टि से लिखा गया इतिहास है, इसीलिए यह जातीय अथवा राष्ट्रीय काव्य वन गया।

'बिलीना' पात्र और घटना का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन कर राजा और उसके सामंतों की कीर्त्ति को अमर वनाती है। ये दो प्रकार की हैं– वीर विलीना और कथाप्रधान बिलीना। अनेक स्थानो से सवन्धित होने के कारण इनके कई वर्ग है फिर भी इनमें कीव तथा नोवोगोरद की विलीना अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कीव विलीनाओं का मुख्य वस्तु विषय कीव नगर राजपुरुष व्लदीमिर तथा उसके सरदारों, सामंतो के साहसपूर्ण कार्यों का कीर्ति गान है जिसने उनको रूस के शत्रुओं पर विजयी बनाया। नोवोगोरद विलीना दैनिक जीवन का लघु उपन्यास है, इसमे व्यापारी नगर के जीवन का चित्रण हुआ है।

कीव विलीना का सबसे प्रिय नायक मूरोम प्रदेश का ईल्या है। वह किसान का बेटा है राजकुमारो द्वारा अपमानित होने पर भी कीव नगर की रक्षा के लिए वह व्यक्तिगत अपमान को भूल कर शत्रु के विरुद्ध मोर्चा लेने को तैयार हो जाता है और दूसरे सामंतो का आह्वान करता है—

"नही (उठो तुम) राजकुमार व्लदीमिर के हित
और न राजकुमारी अपरारवा के हित तुम
किंतु वढो अपनी जननी हित
रूस देश की शुचि पृथ्वी हित।"

रूसी 'विलीना' का अन्य लोकप्रिय नायक दोव्रीन्या निकीरीच है। यह सामत है जो साहसी एवं शिष्टाचार से पूर्ण है। यह ईल्या का मुंह वोला भाई है दोव्रीन्या का भयकर सर्प से युद्ध हुआ उसका कुछ अंश प्रस्तुत है—

"पश्चिम से न मेघ की वर्षा ओ' विजली की कडक नही है
नही कड़कती है विजली पर वड़े जोर का शोर हो रहा
झपटा तरुण दोव्रीन्या पर उस पहाड़ का सर्प भयंकर
तीन सर्प लिपटे सिर पर थे, वारह धड़ मे लिपटे थे

फिर यों बोला सर्प भयंकर—

'अव तुम मेरे हाथो मे हो, मेरी इच्छा के अधीन तुम
जो मै चाहूँ वह कर सकता हूँ दोब्रीन्या।
चाहूँ तुमको कैंदी कर लूँ चाहूँ झोकूँ आग के बीच मे
चाहूँ तो मैं अभी लील लूँ इसी क्षण तुमको।"

नोवोगोरद बिलीना का प्रधान नायक सातको है। वह गरीब मुरली वजाने वाला है किंतु अपनी कला से वह समुद्र के राजा को मुग्ध कर लेता है जो उसे धनी होने का उपाय बताता है और वह धनी हो जाता है। सातको के माध्यम से कला की अपूर्व चमत्कारी शक्ति का सकेत दिया गया है। लोक कलाकारो की कला को सम्मानित किया गया है 'इलमेन' सरोवर पर सातको के मुरलीवादन का दृश्य प्रस्तुत है .—

"चला गया सातको जहाँ इलमेन सरोवर
वैठ गया जलते सफेद पत्थर के ऊपर
और बजाने लगा मुरलिका अपनी मनहर
उद्वेलित हो उठा सरोवर का जल सारा
आ पहुँचा सातको पास तक

... . प्रकट हुआ राजा समुद्र का 'इलमेन' सर से और बोला वह इन शब्दों को:—

ओ नोवोगोरद के सातको
नही जानता कैसे स्वागत करूँ तुम्हारा
जो महान् आनद दिया जैसा कोमल तेरा वादन
क्या दूँ तुमको स्वर्ण कोप अक्षय इसके हित ?"

देश और समष्टि की सेवा 'कीव्र बिलीना' का प्रेरक उद्देश्य है। नोवोगोरद की 'विलीना' के मूल में व्यक्तित्व का विचार और निखार है।

बिलीना की रचना 16 वी शती के मध्य तक समाप्त हो जाती है। इसकी समाप्ति के साथ एक नए प्रबधात्मक काव्य रूप ऐतिहासिक गीत' का आविर्भाव हुआ।

इन ऐतिहासिक गीतों मे सोलहवी–सत्रहवी शताब्दी के युग की अभिव्यक्ति हुई है। इनका वस्तु–विषय ईवान भयकर किसान आंदोलन या किसान विद्रोह, पोलिश-आक्रमण या स्तेपान राजिन का किसान सघर्ष है।

तातार युग से सबन्धित अवदोत्या रिचानच्का के गीत का उल्लेख पहले किया जा चुका है जिसमे वह भाई को दुर्लभ बताकर उसकी मुक्ति की बख्मत शाह से प्रार्थना करती है। बख्मत शाह उसकी बातचीत से बड़ा प्रसन्न होता है। शाह का भाई भी कंजान के युद्ध मे मारा गया जो अब उसे कभी नही मिलेगा। बख्मत शाह सब कैदियो को मुक्त कर देता है—

"भायी बहुत बात नरपति को, हुआ प्रभावित इस वाणी से
बोला वह अवदोत्या से यो.
जब मैंने कज़ान को लूटा, मारा गया हमारा भाई
जो न मिलेगा कभी मुझे अब ।
जाओ सारे कैदी ले लो. और उन्हें कज़ान ले जाओ
और सुधी वाणी के कारण ले लो सोना जितना चाहे
तोलो जितनी तुम्हे जरूरत ।"

रूस के जार ईवान ग्रोज्नी (भयंकर) की कजान नगर पर विजय ऐतिहासिक गीतो का प्रिय वस्तु-विषय रहा है । कज़ान के जार की रानी एलेना ने सपना देखा कि रूसियों ने कजान पर आक्रमण कर दिया । गीत का यह अश प्रस्तुत है:—

"था कजान के नगर बीच प्रासाद श्वेत पत्थर का
सोते से रानी जग बैठी देख भयकर स्वप्न को
उसने अपना स्वप्न बताया अपने जार सीमियन को
उठो ! जगो ! सीमियन जार तुम
रात अधिक मैं नही सो सकी
बहुत अधिक देखा सपने मे
मास्को जार शक्तिशाली जो
उसका लेकर पक्ष फडफडा कर पखो को
झपट रही भूरी चीलें हैं
मानो भयकर मेघ उठ रहे
और राज्य पर बरस रहे है बडे जोर से ।"

पोलिश आक्रमणकारियो के विरुद्ध मीनिन और पजास्की ने विद्रोह का संगठन किया और आक्रमण को विफल बनाकर मास्को का उद्धार किया । प्रस्तुत गीत मे मीनिन का नीजेगोरोद के व्यापारियो के प्रति देशभक्ति पूर्ण आह्वान है:—

"नीजेगोरोद के व्यापारी साथी मेरे ।
छोडो तुम सब अपने घर को, छोड़ो अपने बीबी बच्चे ।
बेचो अपना सोना चाँदी
और खरीदो अपने हित तुम तेज धार वाले चाकू अब
लोहे के पैने चाकू तुम
राजकुमार 'बयार' बीच से चुनो जवान सैनिको को तुम
युद्ध हेतु हम सब जायेंगे ।"

मातृभूमि की रक्षा के हित कीर्तियुक्त मास्को नगर हित पोलिश आक्रमणकारियों के सदर्भ मे यहाँ एक ऐसे गीत का अश प्रस्तुत किया जा रहा है जो युद्ध से संबन्धित न होकर शोकपूर्ण विलाप गीत है । मास्को का ज़ार बरीस गद्‌नोव सहसा मर गया । इसी समय पोलैण्ड वालो का रूस पर आक्रमण हुआ । बहुत से रूसी 'बयार'

(सरदार) शत्रुपक्ष से मिल गए। गदनोव परिवार को नजरवंद कर दूर भेज दिया गया। रानी और राजकुमार मार डाले गए। केवल राज्य कन्या वसेनिया गद्नोवा जीवित बची। यह राज्य कन्या गद्नोवा का विलाप है। गीत अत्यन्त भावात्मक और प्रतीकात्मक है:—

"रो रही चिड़िया विचारी श्वेत वह बत्तख गरीबिन
आह ! हूँ मैं शोकमग्ना।
चाहते हैं वे जलाना ओक के उस वृक्ष को, जो कि गीला है
नष्ट करना चाहते मम नीड को
हत हुए बच्चे हमारे
वे पकड़ना चाहते मुझ बत्तखी को"

सत्रहवी शती के ऐतिहासिक गीतो मे किसान सघर्ष के गीतो का प्रमुख स्थान है। ये गीत इस सघर्ष के नेता स्तेपान राजिन से सवन्धित है। इनमें कज्जाको के स्वरूप उनके व्यक्तित्व और अत्याचारियो के विशेप प्रतिवाद का उद्घाटन होता है। जारशाही के अत्याचारो से त्रस्त है। इन कज्जाको ने डान नदी पर अपनी स्वतंत्र वस्तियाँ वना ली थी और अपने को स्वतत्र घोषित कर ज़ार तथा उसके शासन से टक्कर लेने लगे थे। ये गीत अत्यन्त लोकप्रिय और अत्यन्त व्यापक हुए— वहाँ भी फैले जहाँ राज़िन का आन्दोलन चला था। इन गीतो मे किसान संघर्ष की सभी मजिलो का उद्घाटन हुआ और उसे उत्पीडित जनता के संघर्ष और विद्रोह का रूप दिया गया। इनमे स्तेपान राजिन के व्यक्तित्व का अत्यन्त सहानुभूति के साथ चित्रण हुआ है। इसका आदर्शीकरण किया गया है। इन गीतो मे राजिन के कार्य का समर्थन हुआ है। ये गीत वर्ग-प्रतिरोध की भावना को अभिव्यञ्जित करते हैं। अन्त मे स्तेपान राजिन पकडा जाता है और जारशाही उसे मास्को मे फाँसी देती है।

प्रस्तुत गीत उसी का वर्णन कर रहा है.

"था प्रभात अरुणोदय ही था, उदित हो रहा लाल सूर्य था
अस्त हो रहा था उज्ज्वल शशि और न अब तक उडा बीच नभ
तेज वाज था—
घूम रहा कप्तान, घूम रहा वह, शोर कर रहा
जगा रहा था वह तरुणो को
डान नदी के ऐ कज्जाक तुम जागो जागो, उठो उठो ऐ—
तरुण युवक तुम
कुशल नहीं है डान नदी पर, कुशल नही हम सव की है अव
मलिन पड़ गयी डान नदी है, पर्वत से काले सागर तक
काले सागर तक अजोत के।
उद्वेलित कज़्जाकी मडल, जग मे है अव नहीं 'अतामन'
कहते हैं जिसको राज़िन हम

पकड़ लिया उस समय वीर को, बाँधा उसके श्वेत हस्त को
प्रस्तर निर्मित मास्को मे फिर उसे ले गए
और लाल मैदान बीच फिर
काटा उसका गर्व भरा सिर।"

किसान सघर्ष के दूसरे विख्यात नेता येमेल्यान प्रगाचोव के गीत राजिन गीत माला के समान अत्यन्त दिलचस्प है और उनसे अधिक यथार्थपरक है। इनकी राजनीतिक और सामाजिक प्रवृति अत्यन्त स्पष्ट है। प्रगाचोव से सबधित एक गीत प्रस्तुत है जिसका महाकवि पुश्किन ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'कप्तान की कन्या मे' प्रगाचोव के प्रिय गीत के रूप मे उपयोग किया है—

"मत मरमर ध्वनि करो, मत हे ! ओक वृक्ष के हरित कुंज तुम
मत बाधा दो मुझ जवान को, मै चिन्तारत हूँ विचार मे
कल जाना है मुझ जवान को प्रश्नोत्तर हित
अति कठोर न्यायाधिप सम्मुख स्वतः ज़ार के सम्मुख होने
ज़ार नृपति पूछेगा मुझसे
मुझे बताओ ! मुझे बताओ ! हृष्ट पुष्ट ए ! कृपक पुत्र तुम
कैसे किनके साथ किये थे चौर कर्म सब
किन लोगो के साथ सम्मिलित होकर तुमने डाके डाले
क्या थे तेरे साथ बहुत से सगी साथी'
'मैं बोलूंगा सत्य धर्ममय ज़ार नृपति ए !
मैं तुमसे कह दूँगा बाते सच्ची पूरी
सच्चे सगी साथी थे कुल चार हमारे
घनी अधेरी रात हमारी पहली सगिनि
और दूसरी सगिनि लोहे की असि धारा
और तीसरा साथी मेरा अश्व सजीला
चौथा साथी बना हमारा खिचा धनुप था
दूत हमारे बने सधे ये बाण हमारे'

तब बोलेगा जार वचन ये—

'स्वागत तेरा हृष्ट पुष्ट ए ! कृपक पुत्र ! तव
चौर कर्म मे विज्ञ; कुशल उत्तर देने में
मै प्रदान करता हूँ तुमको इस निमित्त अब
खेत बीच प्रासाद उच्च इक
दो ऊँचे खम्भे जिन पर शहतीर धरी है।"

प्रगाचोव की मृत्यु पर कतिपय भावपूर्ण हृदयस्पर्शी गीतो की रचना हुई है जो दफनाने के समय के विलाप गीतो की याद दिलाते हैं।

पीतर प्रथम के संवध मे अनेक ऐतिहासिक गीतो की रचना हुई है। रूस के

जारों मे इवान ग्रोज्नी और पीतर ऐसे दो व्यक्तित्व है जिनको लेकर लोकसाहित्य की सृष्टि हुई है। इन दोनो को जनता की सहानुभूति और उसका समर्थन प्राप्त है। पीतर से संवधित गीतो मे मास्को राष्ट्र की दृढ़ता एव सवलता का भाव व्यंजित है।

ऐतिहासिक गीत 14 वी, 15 वी शती में खूब फले फूले। 19 वी शती के अन्त तक एक प्रकार से उनका युग समाप्त हो गया। ऐतिहासिक गीत महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इन्हे रूस के इतिहास की जन-व्याख्या कहा जा सकता है।

अक्टूवर की समाजवादी क्रान्ति के वाद ये गीत नए रूप मे सोवियत युग की घटनाओं को व्यजित करने लगे।

रूसी लोक वाङ्मय मे पारिवारिक रीति-रिवाजो के गीतो, को दफनाने के गीत, विवाह के गीत, और सैनिक रंगरूटो के गीतो मे या विलाप गीतो में विभाजित किया जाता है। इनमे सवसे प्राचीन अतिम सस्कार के गीत है। वैवाहिक और रंगरूटों के संस्कार गीत बाद मे विकसित हुए यद्यपि इन गीतों मे काफी समानता है। मृत्यु, लड़की को व्याह में देना और ज़ार की फौज के लिए बड़ी लम्वी अवधी के लिए, अपने लड़के को रगरूट के रूप मे सौप देना अपने सवधी को खोना ही था।

इनमे अतिम सस्कार के गीत प्रावीनतम है। स्लाव जाति के दफनाने के अपने विशिष्ट रीति रिवाज़ थे। इनमें रुदन और करुणा का विलाप भी शामिल थे। विलाप करने वालो ने विलाप गीत की कला पीढी दर पीढी प्राप्त की थी। इनमें लोक कवयित्री इरीना अनुयेव्ना फिदोसवा वहुत प्रसिद्ध हैं। उसने सग्रह–कर्त्ताओ को अतिम सस्कार, विवाह तथा सैनिक विलाप की तीस हजार पक्तियाँ सुनाईं। अतिम संस्कार के इन गीतो मे एक ओर तो वैयक्तिक अनुभूति और परिस्थितियो का चित्रण है और दूसरी ओर व्यापक सामाजिक पक्ष का अभिव्यञ्जन है। इन गीतो मे गभीर शोक की देश के सामान्य लोक जीवन तथा सामाजिक अन्याय के प्रति कृषकों के प्रतिवाद और विरोध की असाधारण क्षमता है। ये विलाप अनेक प्रकार के व्यक्तियों— पिता, पुत्र, पति आदि के निधन पर लिखे गए है। इनमें मनोवेग और सामाजिक आक्रोश दोनो हैं। यहाँ गाँव के मुखिया के लिए विलाप का कुछ अश प्रस्तुत किया जा रहा है। गाँव मे मजिस्ट्रेट रिश्वत लेने के उद्देश्य से आता है किंतु मुखिया की दृढ़ता के कारण उसे निराश होना पड़ता है। वह दूसरी वार फिर आता है और किसी वहाने गाँव के मुखिया को गिरफ्तार कर उसे अप्रतिष्ठित करता है। गाँव का मुखिया इस अपमान को न सह सका वह वीमार पड़ जाता है और मर जाता है। यह विलाप फिदोसोवा ने उसके अतिम सस्कार के साथ सुनाया था। आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:—

"हे प्रभु ! रक्षा करो
पडोसियों की, जो जीवित हैं
'प्रोवोस्लाविनी, उन कृपको को धन्यवाद है

कार्यभार के बीच यहाँ जो आये है ।
दफनाने के हेतु स्वजन को, आशा का आधार रहा जो
..........अब तो सब कुछ लुप्त हो गया, बदल गया सा" ....

गाँव का मुखिया निर्भीक है । वह जोरदार शब्दों में अधिकारी को सावधान करता है.—

"मत घमड से भरो कुटिल मानस तुम अपना
और न उत्सुक हृदय करे धारण कठोरता
समझो मत पद से ही तुम सर्वोच्च हो गए
क्योकि ईश ने मनुजो को है एक बनाया
मत पीटो कृषको को तुम अपने घूँसे से.......
.. .. इन धार्मिक कृषको पर हिंसा
नही दे सकेगी तुमको सम्मान प्रशसा
निश्चय ही तुम नही बनाये गए न्यायकर्त्ता इसके हित"

गाँव का मुखिया मर जाता है । फिदोसोव जार के अधिकारियो के प्रति घृणा प्रकट करती हुई अपना क्रोध पूर्ण विलाप इन शब्दो मे समाप्त करती है । सक्षिप्त अंश प्रस्तुत है.—

"मेरे जलते अश्रु गिरो तुम
तुम मत जल में गिरो
गिरो मत तुम धरती पर
और न ईश्वर मन्दिर पर, लघुकाय चर्च पर
किन्तु गिरो तुम मेरे जलते तप्त आँसुओ
इस दुःशील अहितकारी पर
बेधो सीधे तुम इसके उद्वेलित हिय को..........
... .. औ' ईश्वर तुम सुनो प्रार्थना मुझ पापी की
और करो स्वीकार अश्रु नन्हे बच्चो के"

इन विलाप गीतो का भण्डार बडा विशाल है, इनमे वैयक्तिक अनुभूति साथ किसान के सामाजिक जीवन का सटीक चित्रण हुआ है । ये गीत विगत शताब्दी के मध्य के कृषक जीवन के कलात्मक ऐतिहासिक रेकार्ड है ।

इन अतिम सस्कार के विलाप गीतों के समान जार की सेना मे भर्ती होने वाले रगरूटो के विलाप गीत भी वडे प्रभावशाली है यद्यपि वे निधन गीतो से कम प्राचीन है । युद्ध के लिए सैनिक को विदा देना उसे एक प्रकार से मृत्यु के मुख मे डालना था । रूस मे सैनिक सेवा की अवधि वडी लम्बी (पचीस वर्ष की) थी और बड़ी कठोर थी । रगरूट जाता तो भरी जवानी के बीच किंतु यदि लौटता भी था तो वृद्ध, रुग्ण और जर्जरित । इस सैनिक की विदा एक गीत के अनुसार मृत्यु से भी दुःखद, यह जीवित विदा थी । इन गीतो मे ज़ारशाही के सैनिक जीवन के कष्ट और

अत्याचार के चित्र मिलते हैं। इसके साथ ही इनमें शासन की जबरदस्ती के प्रति क्षोभ, घृणा, क्रोध और उसकी तीव्र और कटु भर्त्सना है। नीचे विलाप का अंश प्रस्तुत है जिसमें सैनिक-शासन द्वारा दी गई यत्रंणाओं और अत्याचारों का वर्णन बड़े मार्मिक शब्दों में हुआ है। प्रसिद्ध विलापकर्त्ता इरीना फिदोसोवा ने इसे वड़े महत्त्वपूर्ण शव्दो मे प्रस्तुत किया है:—

"माता पिता ! सुनो आगे अव ।
ज्यो वसत के वीच फूटते शतशत निर्झर
त्यों आँखो से जलते आँसू वहते झर्झर्
तड़फाने को हमे और शिक्षा देने को
विन अपराधो के मिलती है हमे ताड़ना
क्षत विक्षत रुधिराप्लुत आहत होता है तन
फिर दुर्भाग्यग्रस्त सैनिक की लुप्त चेतना..........

आगे इस गीत मे माँ अपने पुत्र को वडे करुण तथा प्यार भरे शव्दो में सान्त्वना देने का प्रयत्न करती है। प्रस्तुत अश में माता की गभीर व्यथा अभि-व्यञ्जित है.—

"और अधिक न सहन कर सकती शोकमग्न मैं व्यथा
सुन ली मैने पुत्र परमप्रिय तेरी दुःख कथा
सहलाऊँगी हाथो से अपने सैनिक के सिर को
और थपथपाऊँगी कन्धो को
थकित हुए जो झेल झेल कर रण को
और धडकते दिल से अपने तुझे लगाऊँगी मैं
हूँ अभागिनी शोकग्रस्त, जीवन यों ही चलता है
अधिक कहूँ क्या विना आग के हृदय सतत जलता है ॥"

जारशाही के सेंसर के कारण सैनिक विलाप गीतो की सख्या, अपेक्षाकृत कम है, फिर भी इन विलापो का ऐतिहासिक और कलात्मक महत्त्व अत्यधिक है। इनमे अतीत के जनजीवन और उसके मनोभावो का अभिव्यञ्जन और चित्रण है।

रूसी विद्वानो का कहना है कि रूसी लोक कथाओ का भण्डार विशाल है और लोकप्रगीतो का अक्षय। इन प्रगीतो मे विविधता और अनेकरूपता है जो कि उसके सामाजिक स्वरूप मे है, इनकी रचना मे समाज के प्रत्येक वर्ग तथा स्तर का योगदान है तथा इनका क्षेत्र मनुष्य का अन्तर्जगत अन्तस् है। प्रगीतो मे गायक या गायिका का अपना गान होता है, अपने वारे मे, अपनी किस्मत के वारे मे, अपने स्वप्नो के वारे मे। वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यक्ति होते हुए भी ये गीत जनता का कण्ठहार वन जाते हैं और एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी होते हुए युग युगो तक गुँजित होते रहते हैं।

इनमें एक और प्रकार के गीत है जिनकी विश्वव्यापी अनुभूति है। ये अखिल मानवीय हैं जैसे—प्रेम के गीत, पारिवारिक गीत आदि। दूसरे प्रकार के वे गीत है जिनका स्वरूप सामाजिक है, वर्गगत है जैसे—नाव खींचने वालो के गीत, दासो के गीत, खेत मे काम करने वालों के गीत, सैनिको के गीत, कज्जाको के गीत, डाकुओ के गीत, गाड़ी चलाने वालों के गीत, किसानो के गीत आदि। इन श्रमगत गीतो मे विविध क्षेत्र मे काम करने वालों की अपनी मनोभावना और जीवन पद्धति की अभिव्यक्ति है। इन गीतो मे पेशे और इससे उद्भूत मानसिक प्रतिक्रियाओ और मनोर्वज्ञानिक अन्तस् की पूरी-पूरी झलक है।

एक प्रेम गीत उद्धृत किया जा रहा है जिसमे शोकमग्ना वियोगिनी का चित्र प्रकृति के प्रतीको के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। रूसी लोककाव्य मे मैदान बीच स्थित पत्रहीन झाड़ी या वृक्ष दुखमग्ना कन्या का प्रतीक है। रुई के गोले की तरह वर्फ गिर रही है और सवको अपनी सफेदी और शीतलता से ढक देती है। केवल मैदान के बीच खडी एक झाड़ी इससे वञ्चित रह जाती है:—

"श्वेत हिम परदा, ढक दिया उसने सभी मैदान को
एक केवल है अनावृत शोक मेरा।
एक झाड़ी है खड़ी मैदान बीचो बीच, है खड़ी एकाकिनी वह
झुक रही शाखें न उसकी भूमि पर
ओ न पत्ती, न मिला परिधान उसको
शोकमग्ना और दुःख डूबी, अकेली एक हूँ मैं।
दुःखी मैं प्रिय के लिए हूँ।
शोक दिन मे, रात मे जी ऊबता है, व्यर्थ मैं रहती वहाती आँसुओ को
शोकमग्ना दूर जाऊँगी इसी मैदान मे, और बैठूगी वही पर भूमि-पर
और देखूंगी उसी दिशि को
कि रहता प्राण प्रिय जिस ओर।"[1]

दूसरे गीत में प्रेम का उल्लासमय पक्ष है। प्रेमिका छत पर खड़ी प्रेमी का पथ निहार रही है। तूफान के वीच प्रेमी उससे मिलने आ रहा है:—

"पथ झकोर चल रहा प्रवल तूफानी झंझा
और प्रभञ्जन बीच आ रहा है प्रिय मेरा
वह अपना रूमाल गुलावी हिला रहा है
'ठहरो ठहरो मेरी सुन्दरि, ठहरो थोडा, और देखने दो तुम मुझको
देखूं सुन्दर सुन्दरता को, तुमको ए प्रसन्नता मेरी
ए प्रिय! तेरी सुन्दरता ने मुझको है उद्भ्रान्त वनाया
नष्ट कर दिया मुझ जवान को
है सर्वत्र मिलाया तू ने सुन्दरता के साथ हर्ष को'

नाव खीचने वालों के गीत रूस में अपने युग में वहुत प्रचलित थे। इनमे उनकी मनोदृष्टि उनका उत्पीड़न और कभी-कभी उनका विद्रोह परिलक्षित होता है:—

"उगो सूर्य ए ! लाल, उगो सूर्य ए ! लाल
करो प्रकाशित माँ वोल्गा को, सरिता वोल्गा को
ऊष्मा दो हम तरुण युवक को तरुण युवक को
हम जाते हैं स्वत. नही, ले जाती है आवश्यकता हमको
आवश्यकता, कटु आवश्यकता जो ....
मारा पीटा और दवाया जमींदार ने वहुत समय तक
दास गुलाम गरीवो को
अब विद्रोह कर रही वोल्गा, जनता की किस्मत की ओर
अव जनता के भाग्य पक्ष में।"

प्रस्तुत उद्धृत गीत में सामाजिक और पारिवारिक संवंधों का चित्रण किया गया है। इसमे महत्त्वपूर्ण वर्ग सबसे पहले और फिर उत्तरोत्तर कम महत्त्वपूर्ण वाले वर्ग प्रस्तुत किए जाते हैं। तद्‌युगीन दृष्टि और व्यवहार का इस गीत मे मार्मिक चित्रण है:—

"जव मेरी प्रिय माता के घर तीन परात गुँथ गया आटा
तीन पुत्रियो को अपनी तव उसने तत्क्षण वही वुलाया
पहली लड़की को उसने 'वयार' घर व्याहा
और दूसरी की मँगनी सौदागर से की
और तीसरी कन्या दी किसान को उसने—
लिखती पहली कन्या यो माता को अपने—
प्यारी, अम्मा दु.ख करो मत तुम मेरे हित
निश्चय ही सुखपूर्वक रहती मैं 'वयार' घर
सारी रात मोमवत्तियाँ जलती रहती
मोमवत्तियाँ जलती, और कुशल शिल्पी एकत्रित
सदा वनाते वस्त्र रेशमी मेरा गोरा वदन सजाने।
और दूसरी कन्या यो माता को लिखती—
प्यारी अम्मा दुःख करो मत तुम मेरे हित
मैं सुख मे रहती हूँ सौदागर के घर में
सारी रात मोमवत्तियाँ जलती रहती
और कुशल शिल्पी एकत्रित सदा वनाते वस्त्र गुलावी
मेरा गोरा वदन सजाने।
और तीसरी कन्या यों माता को लिखती—
उसे शिकायत है वह, आँसू वहा रही है—

"वड़ा कठिन है मुझे कृषक के घर मे रहना
सारी रात मोमवत्तियाँ जलती रहती और कुशल शिल्पी एकत्रित
सदा गूँथते रहते वे रेशम के कोड़े मेरा गोरा वदन काटने
कोड़ा घूमा हवा बीच हुँकारें भरता
और खून छलछल वह निकला
किन्तु न मैंने फिर भी पति की आज्ञा मानी
नम्र झुकी मै श्वसुर ओर तव,
'मुक्त करो हे ! श्वसुर मुझे तुम, दुष्ट और क्रोधी पति से, अव'
आज्ञा देता श्वसुर पुत्र को निर्ममता से मुझे पीटने।
आज्ञा उसकी मुझे पीटने को निर्मम बन, जिससे मेरा खून वह चले
किन्तु न मैंने फिर भी पति की आज्ञा मानी
नम्र झुकी मैं सास ओर तव, मुक्त करो माँ मुझे दुष्ट क्रोधी पति से
सास पुत्र को आज्ञा देती पीटो निर्ममता से इसको
आज्ञा उसकी पीटो मुझको निर्ममता से, जिससे मेरा खून वह चले
नम्र झुकी फिर ननद ओर मैं, और ननद उत्तर मे यो वोली तव मुझसे
नही हमारे लिए वहिन, वढकर पतियों से ऊपर रहना
तव मैंने पति आज्ञा मानी, नम्र झुकी दाहिने चरण के सम्मुख उसके।'

इस गीत के उत्तर भाग मे परिवारिक संवध का सिद्धान्त अत्यन्त स्पष्ट है। उस समय परिवार के छोटे सदस्यों को बडो पर निर्भर रहना होता था। कुल ज्येष्ठ की अथच् पति की आज्ञा सर्वोपरि थी। यह उस युग के जीवन की वास्तविकता थी। कृषक प्रगीतों में उस युग के दैनिक की परिस्थितियों की सच्ची एवं मार्मिक अभि-व्यक्ति हुई है।

लोकप्रगीत जनता के कण्ठहार है। इनमे जनता की आत्मा के स्वर है। लोकप्रगीत जनता के सुख-दु.ख के साथी है।

रूसी लोक-साहित्य का भण्डार अत्यन्त विशाल है। एक लेख की सीमित परिधि में उसकी समस्त विधाओं और रूपो को समाविष्ट करना दुष्कर कार्य है। इसी से इस लेख में साधनात्मक, ज्ञान, पर्वोत्सव, सस्कार, लोकोक्ति, लोकनाट्य, लोककथा, धार्मिक लोककाव्य, 'वस्तूश्की' जंसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों को स्पर्श नही किया गया है। अक्टूवर क्राति के पश्चात् सोवियत शासन के संरक्षण मे लोकसाहित्य को जो प्रोत्साहन मिला और जो परिवर्तन उसमे घटित हुआ उसकी कथा भी इस समय नही कही जा रही है।

— 9 वे रोड,
लखनऊ



नगरों का लोकसाहित्य

—विश्वनाथ मिश्र

सामान्यतः विद्वानों की यह धारणा है कि लोकसाहित्य केवल गाँव का होता है और नगर का साहित्य सारा आभिजात्य-साहित्य होता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि न तो गाँव का सारा साहित्य लोक-साहित्य होता है और न शहर का सारा साहित्य आभिजात्य-साहित्य होता है। अनेक महामहिम लेखको ने गाँव मे रह कर अभिजात साहित्य की रचना की है और शहरो मे भी जनवाणी मे लोक-साहित्य बराबर जन्म लेता है और विकसित होता रहता है। मेरा आग्रह है कि शहरो मे भी जनवाणी पर जन्म लेने तथा पल्लवित-पुष्पित होने वाले लोक-साहित्य मे भी हमें उसी प्रकार रुचि लेनी चाहिए जैसी हम ग्रामीण अंचल के लोक-साहित्य मे लेते रहे हैं। उसका भी ग्रामीण लोक-साहित्य की भाँति संकलन, सम्पादन और प्रकाशन होना चाहिए तभी हम लोक-मानस को भली प्रकार समझ सकेंगे। लोक-संस्कृति की सही रूपरेखा निर्धारित कर सकेंगे और लोक-जीवन की धारा को मंगल-मय भविष्य के पथ पर अग्रसर कर सकेंगे।

लोक-साहित्य के विशाल क्षेत्र में नगरो के लोक-साहित्य को स्थान दिलाने के लिए लोक-साहित्य और अभिजात साहित्य पर विचार-विमर्श अपेक्षित है। सर्वप्रथम हम अभिजात साहित्य को लेते हैं। यह पढे-लिखे लोगो द्वारा लिखा गया साहित्य है। पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित है। पुस्तकाकार मे छपता है। मच पर पढा जाता है और कभी लेखको के पास पाडुलिपि के रूप मे भी पडा रह जाता है। सामान्यत इसकी भाषा परिष्कृत और परिनिष्ठित होती है। इस अभिजात साहित्य के अधिकाश लेखको ने नगर मे बैठकर लिखा है लेकिन ग्रामीण अंचल में रह कर अभिजात साहित्य की रचना करने वाले भी देश-विदेश में अनेक लेखक हुए हैं। इस प्रसंग मे विश्व-प्रसिद्ध साहित्यकार टाल्सटाय का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है जिन्होंने ग्रामीण अचल में रहते हुए 'अन्ना कैरिना', 'रिजरैक्शन', 'वार एण्ड पीस' जैसी कालजयी कृतियाँ प्रस्तुत की थीं। इस आधार पर हमे स्वीकार करना चाहिए कि गाँव मे अभिजात-साहित्य की रचना हुई है लोक साहित्य की रचना भी ग्रामीण अचलो के साथ नगरो में भी होती रही है, हो रही है, होती रहेगी।

लोक-साहित्य के सीमा-क्षेत्र मे जब हम नगर के भी कुछ साहित्य को स्वीकार

करने का आग्रह करते है तो हमें लोक-साहित्य को पुनः परिभाषित करने की अपेक्षा प्रतीत होती है। लोक-साहित्य वस्तुतः जनवाणी पर जन्म लेता है और जनवाणी पर विकसित होता है जनवाणी पर ही जीता है, जन-जीवन को वाणी देता है, जन–सस्कृति के निर्माण मे तत्पर होता है। साधारण जन की भावनाओ, इच्छाओ, आकांक्षाओ, विचारो, विश्वासो, कल्पनाओ, स्वप्नो, आदर्शों आदि को अभिव्यक्ति देता है। जनवाणी जैसे ग्रामीण अचल के लोगो के अधरो पर मुखर होती है वैसे ही शहर के पढे अनपढ़े लोगों की जबान पर भी फूटती है। नगर के पढे अनपढे लोगो की वाणी पर विकसित होने वाला साहित्य भी लोक-साहित्य होता है। ग्रामीण अचल के लोक-साहित्य की भाँति वह भी प्रकाशित नही होता, केवल जनवाणी पर ही जीवित रहता है और काल के अनन्त प्रवाह मे सशोधित, परिमार्जित और परिप्कृत होता हुआ प्रचारित-प्रसारित होता रहता है।

नगरो के लोक-साहित्य के अन्तर्गत हम अनेक मुहावरो, कहावतो, सूक्तियो, चुटकुलो, लघुकथाओ, विनोद के प्रसंगों, हास्य–व्यग्य आदि को ले सकते है जो जनजीवन को अपार रंगीनी प्रदान करते रहते है। भारतीय इतिहास के मध्ययुग मे हिन्दी क्षेत्र मे अनेक मुहावरे गाँवो में न विकसित होकर शहरो मे वने हैं। अनेक कहावतें भी इसी प्रकार शहरो मे प्रचलित हुई थी। हिन्दी के मध्यकालीन कवियो को लेकर अनेक सूक्तियाँ प्रसिद्ध है यथा –

सार–सार तो सूरा कहिगा, कठवा कहिग अनूठी।
बची खुची सो कविरा कहिगा, और कहै सव झूठी ॥

इसी प्रकार वीरवल और अकवर की वार्ता को लेकर जो अनेक छोटी वडी कथाएँ चलती है उनकी गणना भी नगरो के लोक-साहित्य के अन्तर्गत होनी चाहिए। आज भी शहरो मे शिकारपुर, वलिया, भोगाँव आदि को लेकर मनोरंजक प्रसग चल रहे हैं, उनका विशेष रूप से शहरो मे ही विकास हुआ है। सिक्खो के सम्वन्ध मे जो अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं उन्हें भी इसी कोटि के अन्तर्गत लेना चाहिए। अगल-अलग व्यवसायो मे लगे लोगो–वकील, अध्यापक, डॉक्टर दार्शनिक आदि को लेकर अनेक चुटकुले चलते है। इस प्रकार हम कहते है कि नगर मे लोक-साहित्य का वडा विशाल भण्डार है।

नगरों मे अभिजात रगमच के साथ लोकमच भी देखने को मिलता है। विद्यालयों में अनेक सामाजिक समारोहो के अवसर पर रगारग कार्यक्रम किये जाते है, उनमे सचालक महोदय की वाणी से जो चुटकुले फूटते हैं, अनोखे आख्यान सुनाये जाते है. अनेक प्रकार के तात्कालिक अभिनय उपस्थित किये जाते है, उन सवको भी लोक-साहित्य के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए।

हमारी शताव्दी मे जो वैज्ञानिक विकास हुआ है जो वडे–वडे उद्योग–धन्धे खडे हुए हैं, जो वडे–वडे वाजार लगे है, उनके कारण गाँव से अधिक शहरो का

महत्त्व हो गया है। मध्य युग में जिस प्रकार गाँव सभ्यता और संस्कृति के मूल केन्द्र थे वैसे ही आज नगर और महानगर हो गये हैं। नगरो में जो लोक–साहित्य विकसित हो रहा है उसको विना समझे आज की लोक-संस्कृति को, लोक–मानस को समझ पाना सम्भव नही है इसलिए मेरा आग्रह है कि नगरों के लोक-साहित्य का भी ग्रामीण लोक–साहित्य के अध्ययन के साथ अध्ययन–अनुशीलन होना चाहिए।

एस० डी० कालेज, मुजफ्फरनगर



भोजपुरी लोकगीतः—

राधे रुकमिनि चलेली नहनवा, सुखा के गंगा ना।
भइली वलुआ क रेतवा, सुखा के गंगा ना।
रोवेली अटइन रोवेली वटइन, रोवे कुआ क पनिहारिन ना।
मुहवा रुमलिया देके रोवेला केवटवा, कि मारी वोझल नइया
संगम भइली ना—

"—राधा और रुक्मिणी स्नान को चली हैं, पर गंगा जी सूख गयी है। यह पापहरा नदी मृत हो चुकी है। चारो ओर वालू की रेती है। चारों ओर तृषा ही तृषा है। अटवी कन्या रो रही है। वटोही की वहू रो रही है, मुँह पर रुमाल रखकर वेचारा निपाद रो रहा है कि उसकी वोझिल नौका अव अगम हो गयी।"

